विद्याभवन गृह-भारती–३

सपादक चन्द्रभान अग्रवाल

प्राचीन भारतीय मनोरंजन

मन्मथ राय

(लेखक—प्राचीन लोकोत्सव, देश-विदेश में मनोरजन, इत्यादि)

प्रकाशक .

भारतीय विद्या भवन,

इलाहाबाद

एकाधिकारी वितरक

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली इलाहाबाद बम्बई

प्रथम सस्करण
स० २०१३ वि०
मूल्य ५।)

मुद्रक :
लीडर प्रेस,
इलाहाबाद

सम्पादकीय

मानव के किसी समाज की सस्कृति वह प्रणाली है जिससे वह अपने जीवन के विविध अगो में अपनी आत्मा की पूर्णता को पहुचना चाहती है। हमारा अधिकाश जीवन अपनी दैनिक जीविका उपार्जन और हास-परिहास में व्यतीत हो जाता है। यद्यपि अधिकाश जातियो के, सभी युगो और सभी जलवायु में, जीविका उपार्जन और अपनी भौतिक आवश्यकताओ को पूर्ण करने के एक से ही व्यवसाय रहे है, परन्तु उनमें विश्राम-काल के उपयोग करने के तरीको में भिन्नता रही है। किसी भी जाति, राष्ट्र अथवा समाज की सस्कृति की विशिष्टिताओ को जानने के लिए आपको विशेपतया उनके विश्राम-काल के व्यतीत करने के तरीको का अध्ययन करना है। प्रस्तुत पुस्तक में विस्तारपूर्वक इस वात का वर्णन है कि प्राचीन भारतीय किस प्रकार अपना विश्राम-काल व्यतीत किया करते थे और इसके लिए उन्होने किस प्रकार की कला के रूपो को जन्म दिया ताकि वे वास्तव में आनन्दित हो ।

यह अक्सर कहा जाता है कि भारत की सस्कृति आध्यात्मिक और पाश्चात्य सस्कृति भौतिक है, परन्तु ऐसा दृष्टिकोण तो केवल वाह्य है। भारत की सस्कृति उतनी ही भौतिक है जैसी किसी अन्य देश की सस्कृति थी या है । केवल विशेपता इतनी है, जिससे यह अन्य सस्कृतियो से भिन्न है, कि यह भौतिक सस्कृति को इस प्रकार आध्यात्मिक वस्त्र पहना देती है कि विदेशियो को यहाँ पर केवल पारलौकिकता ही मिलती है और कुछ नही। परन्तु सत्य तो यह है कि भारतीय सस्कृति अधिकतर इस पृथ्वी पर की है, इस लोक की है, लौकिक है। धर्म के नाम पर यह सस्कृति समस्त भौतिक और लौकिक सुखो का आनन्द लेती है और असख्यो प्रकारो से उनका उपयोग करती है—खेल-कूद

में, साहित्य मे, सगीत और नृत्य में, चित्रकला मे, निर्माण कला और शिल्पकला में, कहानी कहने में, कुश्ती और आपानक में, स्त्री पुरुष सयोग और जुए में।

प्राचीन काल से ही सौन्दर्य विज्ञान, भारतीय चिन्तन और जीवन के तीन आदर्शों—सत्य, शिव, सुन्दरम्—में से एक रहा है। प्रस्तुत पुस्तक में श्री मन्मथराय द्वारा स्पष्ट रूप से यह सब विश्लेषण किया गया है। समस्त उपलब्ध सामग्री को लेखक महोदय ने छान डाला है। हमारी राय में तो इस विषय पर इतनी गवेषणापूर्ण पुस्तक किसी और लेखक ने नही लिखीहै। इस दृष्टिकोण से प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी-साहित्य को एक अनुपम देन है।

२५-ए कानपुर रोड, इलाहाबाद
२४-११-५६

चन्द्रभान अग्रवाल

में, साहित्य में, सगीत और नृत्य में, चित्रकला में, निर्माण कला और शिल्पकला में, कहानी कहने में, कुश्ती और आपानक में, स्त्री पुरुष सयोग और जुए में।

प्राचीन काल से ही सौन्दर्य विज्ञान, भारतीय चिन्तन और जीवन के तीन आदर्शों—सत्य, शिव, सुन्दरम्—में से एक रहा है। प्रस्तुत पुस्तक में श्री मन्मथराय द्वारा स्पष्ट रूप से यह सब विश्लेषण किया गया है। समस्त उपलब्ध सामग्री को लेखक महोदय ने छान डाला है। हमारी राय में तो इस विषय पर इतनी गवेषणापूर्ण पुस्तक किसी और लेखक ने नही लिखी है। इस दृष्टिकोण से प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी-साहित्य को एक अनुपम देन है।

२५–ए कानपुर रोड, इलाहाबाद
२४-११-५६

चन्द्रभान अग्रवाल

दौड की प्रतियोगिता, आखेट, मल्ल-युद्ध वा कुश्ती, पशु-युद्ध वा प्राणि-द्यूत, मनुष्य-पशु युद्ध, नकली युद्ध, प्रहरण-क्रीडा, कुशलता का प्रदर्शन, सुन्दरता की प्रतियोगिता, सवाहन, पालतू जन्तु, उद्यान-यात्रा, वन-विहार, जल-क्रीडा, आख्यानविद् वा कहानी सुनाने वाला, समस्या-श्लोक-पूरण, कुतूहल-शाला, द्यूत-क्रीडा, इन्द्रजाल वा जादू, सवरोदिता आसुरी माया, जालन्धरी विद्या, इन्द्रजाल-विद्या, सप्तमी माया और अष्टमी माया, तामसी माया, गान्धर्वी माया, सूत्र-क्रीडा वा कठपुतली का नाच, तक्षण वा लकडी का काम, आहितुण्डिक वा सँपेरा, दोला-केलि, कन्दुक-क्रीडा, आकर्ष, क्रीडा-प्रकरण —आम्यूष-खादिका, आचोप-खादिका, शाल-भजिका, ताल-भजिका, जीव-पुत्र-प्रचायिका, सहकार-भजिका, विस-खादिका, नव-पत्रिका, उदक-क्ष्वेडिका, दमन-भजिका, अशोकोत्तसिका, पुष्पावचायिका, चूत-लतिका, इक्षु-भजिका, कुमकुम क्रीडा। घटा-निवध—गोष्ठी समवाय, पान-गोष्ठी, उद्यान-यात्रा। समस्या क्रीडा—यक्ष-रात्रि, कौमुदी-जागर, सुवसन्तक वा मदनोत्सव, यव-चतुर्थी, आलोल-चतुर्थी। वालोपयोगी क्रीडा-कौतुक—आकर्ष क्रीडा, पट्टिका क्रीडा, मुष्टि-द्यूत, क्षुलक द्यूत, मध्यमागुलि-ग्रहण, पट् पाषाणक, क्ष्वेडितक, सुनिमीलितिका, आरब्धिका, लवण-वीथिका, अनिल-ताडितिका, गोधूम-पुजिका, अगुलि-ताडितिका, हरिणा-क्रीडन, वीटा-क्रीडा वा गुल्ली-डडा, चित्र-क्रीडनक। कृत्रिम-पुत्रक क्रीडा, वल्ली-वृक्ष विवाह, अशोक-पाद-प्रहार। गान्धर्व, लोक-गीत, नृत्य ताण्डव, हल्ली-सक, रास, छालिक्य। नाटक रगालय। सुरा-पान। वैशिकी औपचारिक विवाह, पुराणो में गणिका-तत्र पृष्ठ १२०–२४५

(३) परवर्ती काल में प्रचलित मनोरजन के साधन (५००–१२०० ई०)

सास्कृतिक रूप-रेखा पृष्ठ २४७–२५७

क्रीडा-कौतुक वालोचित खेल-कूद—यष्टिकाकर्पण, नृप-क्रीडा, कृत्रिम वृषभ-क्रीडा, निलायन-क्रीडा, मर्कटोत्प्लावन-क्रीडा, शिक्यादि-मोपण-क्रीडा, अहमहमिका स्पर्श-क्रीडा, भ्रामण-क्रीडा, लघन-क्रीडा,

भूमिका

प्राचीन भारत के लोक-जीवन के अध्ययन-प्रसग में पहले तो वहुत सकोच के साथ मै. "हमारे कुछ प्राचीन लोकोत्सव" नामक पुस्तक लेकर पाठको के समक्ष उपस्थित हुआ था। उसका निरादर न होते देख इस वार "प्राचीन भारतीय मनोरजन" का उपहार प्रस्तुत कर रहा हूँ।

"प्राचीन लोकोत्सव" पर विचार किया जाय और चाहे "प्राचीन भारतीय मनोरजन" ही पर क्यो न दृष्टि डाली जाय, दोनो के ध्येय में एकरूपता है। दोनो ही थोडे समय के लिये ससार की झझटो और वखेडो से हमारे मन को विलकुल परे कर देते है। यदि वीच-वीच में मनोरजन के ऐसे साधन न होते तो सभव है मानव-मात्र के लिये जीवित रहना दूभर हो जाता। इस विचार से "प्राचीन भारतीय मनोरजन" "प्राचीन लोकोत्सव" का जुडवाँ है।

चौवीसो घटे कोई भी मानव पेट पालने की चिन्ता में हाय-हाय करते हुए नही फिरता। अपनी क्रिया-शक्ति वनाये रखने, स्वास्थ्य को विगडने मे रोकने, हृदय में नवीन आशा, उत्साह, तेज, उमग, प्रेरणा, कुतूहल प्रमुख सद्‌गुणो को सजग करने के लिये उसे उचित मात्रा में अवकाश और विराम मिलना चाहिये। अवकाश के समय उस पर ऊपर से कोई

भी काम लादा न जाय। वह अपने अवकाश के समय को जैसे चाहे वैसे काटे। इस विपय में उसको पूरी स्वतत्रता होनी चाहिये।

किन्तु आजकल की आर्थिक समस्याएँ ऐसी विकट हैं कि क्या कहा जाय! बडे-वडे नगरो में केवल दाना-पानी जुटाने के लिये मध्यवित्त वाले कुछ लोग दो-दो, तीन-तीन काम करते हैं। उन्हें बिलकुल छुट्टी नही। जव देखो तब चक्की में पिसे जा रहे हैं। फलत जिधर ही दृष्टि डाली जाय, उधर ही 'तन-छीन, मन-मलिन' नवयुवको की टोलियाँ देख पडती हैं। इनके हृदय में न तो उमग, न प्राणो में उच्चाशा-आकाक्षा, न मन मे फुर्ती, न भुजाओ में शक्ति और न तो शरीर में तेज ही है!

प्राचीन काल में देश की आवादी कम होने, आर्थिक दशा सुगम होने और देश-वासियो की वनावटी माँगें थोडी होने के कारण उन्हे फुरसत की कमी न थी। वे यह फालतू समय अपनी-अपनी रुचि के अनुसार काटते थे। क्रमश मनोरजन के भिन्न-भिन्न साधनो को केन्द्र मान कर विविध प्रकार के क्रीडा-कौतुक, शिल्प-कला और विद्याओ की उत्पत्ति हुई। इनके अतिरिक्त मन वहलाव के कुछ साधन हेठे भी होते थे।

प्रस्तुत पुस्तक में प्राचीन भारत के भिन्न-भिन्न कालो म प्रचलित मनोरजन के विविध साधनो का धारावाहिक विवरण दिया गया है। प्राचीन भारत के जन-जीवन का सम्यक् अध्ययन अभी तक अधूरा ही है। इस विचार से इम विपय के निर्वाचन में थोडी मौलिकता है। मौलिकता के साथ "थोडी" विशेपण इसलिये जोडा गया, कि इसके पहले दो-चार सज्जनो ने इस रोचक विपय के भिन्न-भिन्न पहलुओ पर सारगर्भित निवध लिखे हैं। इनमें वनारस सस्कृत कालिज के अध्यापक श्री अनत शास्त्री फडके जी ने सरस्वती भवन स्टडीज़ के दसवें भाग में सस्कृत भापा में मनोविनोद के प्राचीन साधनो की एक छोटी-सी सूची प्रस्तुत की थी। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल जी ने पाणिनि की अष्टाध्यायी में वर्णित "गेमस् एण्ड एम्यूजमेन्टस्" पर एक सुन्दर लेख लिखा है। इसके पहले डा० वोगेल ने "शालभजिका" पर एव डा०

राजेन्द्र लाल मित्र ने "पिक्निक्" पर महत्त्वपूर्ण लेख लिखे थे। कहने की आवश्यकता नही, मैंने इन निबधो का पूरा-पूरा उपयोग किया है। अत पथ-प्रदर्शक के रूप में मैं उक्त बहुश्रुतो का ऋणी हूँ।

अध्ययन-काल के अन्तिम पाद में हमारे देश में प्रचलित मन-बहलाव के साधनो के वर्णन-प्रसग में तात्कालिक सामाजिक दशा पर परोक्ष रीति से आलोकपात हो गया है। यह आविष्कार इस पुस्तक की विशिष्टताओ में समझिये। इसके पहले स्यात् ही किसी ऐतिहासिक ने देश-विजय के बिलकुल पूर्व सामाजिक दशा का विशद वर्णन किया हो।

इस पुस्तक के लिखने में भिन्न-भिन्न भाषाओ में लिखित सुलभ-दुर्लभ सब प्रकार के मूल-ग्रथो का उपयोग किया गया है। अपने पास ग्रथो का सग्रह नाम-मात्र है। इस कठिनाई को सुलझाने मे सरस्वती भवन, विश्वनाथ लाइब्रेरी और श्री स्याद्वाद् जैन महाविद्यालय के अध्यक्षो ने दुर्लभ से दुर्लभ पुस्तकादि दे कर मेरी जो सहायता की है, उसे मैं कभी भूल नही सकता। अत में मैं अपने पुराने विद्यार्थी, "स्वतत्रभारत" (लखनऊ) के साहित्यिक सम्पादक, पडित बलदेव प्रसाद मिश्र, बी० ए०, को आन्तरिक आशीर्वाद बिना दिये यह लेख समाप्त नही कर सकता। उन्होने पाण्डुलिपि पढ कर दो-एक अमूल्य सम्मतिएँ दी थी, जिससे प्रस्तुत पुस्तक की उपयोगिता बहुत बढ गयी है।

मार्च १, १९५६
काशी,
६७, हरिश्चन्द्र रोड।

—ग्रथकार

प्राचीन भारतीय मनोरंजन

की

रूप-रेखा

घर-गृहस्थी सम्हालने की वास्तविक और काल्पनिक चिता मे उलझे हुए जीव को शाति कहाँ ? जब देखिये तब वह अपनी कठिनाइयाँ सुलझाने में लगा रहता है। यदि धनिक और सम्पन्न हुआ तो और अधिक धन कमाने की फिक्र में पड़ा रहता है, यदि मध्यवित्त गृहस्थ हुआ तो सुबह-शाम घर की कमियाँ दूर करने मे बिता देता है, यदि कही नौकरी करता हो तो उसे सदैव अधिकारियो की लाल-पीली आँखो का भय लगा रहता है, यदि छोटा-मोटा व्यापारी हुआ तो दिन-रात मुनाफाखोरी की बातें सोचता रहता है; यदि उच्च पदस्थ कर्मचारी हुआ तो दायित्व का बोझ उसे पीसे डालता है, और यदि दीन-दुःखी हुआ तो अभाव की जोक उसका रक्त चूसती रहती है। कहने का आशय यह है कि ससार के प्रपच मे फँसे जीव को कही भी मानसिक शाति उपलब्ध नही होती। जब देखिये, वह मृग-जल के पीछे दौड़ रहा है।

किन्तु मानव का मन भी एक विचित्र तत्त्व है, जो बहुत देर तक एक ही विषय पर ध्यान जमाये स्थिर नही रह सकता। एकरूपता से वह उकता जाता है। उसे हरा-भरा बनाये रखने के लिये परिवर्त्तन आवश्यक होता है। यदि चौबीसो घटे कोई व्यक्ति घर-गृहस्थी की चिता में फँसा रहे तो कुछ ही दिनो में वह पागल हो जायगा। यही कारण है कि थके-हारे जीव को शाति दिलाने के अभिप्राय से विरामदायिनी निद्रा देवी उसकी आँखो को मूद देती है। स्थिति के परिवर्त्तन से जीवन की एकरूपता मे कुछ भिन्नता, कुछ विलक्षणता आ जाती है। इस प्रकार मानव-जीवन की परिपाटी चलती रहती है।

जागते हुए चिंता-ग्रस्त रहकर, और सोते समय उसी का सपना देख कर, कोई भी मनुष्य दीर्घकाल तक जीवन वनाये नही रख सकता। जीवित रहने के लिये आवश्यक है कि वह अपना स्वास्थ्य वनाये रखे तथा सवेगो एव मानसिक शक्तियो को विकसित करे। यदि वह ऐसा नही करता तो स्वल्प-काल में ही वह रोगो का आखेट हो जायगा और उसकी चुस्ती-फुर्ती, उसकी कर्मण्यता जाती रहेगी। उसी प्रकार यदि उसकी मानसिक शक्तियां विकसित न की गयी, तो उसके हृदय की आशा, उत्साह, प्रेरणा, कुतूहल प्रमुख बहुत-से सद्गुण कुम्हला जायेंगे। अग्रेजी की एक लोकोक्ति है कि स्वस्थ शरीर में ही भला-चगा मन होना सभव है।

सामान्यत मानव-मात्र को सदैव कोई-न-कोई चिंता लगी रहती है। उससे उसे छुटकारा कहाँ ? पर, मानव सर्वदा चिंता-ग्रस्त नही रह सकता। इससे भी उसे थकावट आ जाती है। सोचने-विचारने की नियत सीमा पर जब वह पहुँच जाता है, तव मन-ही-मन कुढता हुआ वह कह बैठता है— "जाने दो! चिंता का पार नही, कव तक माथा-पच्ची करता रहूँ!"

मानव के इस दशा तक पहुँचने की नौवत न आये, स्वल्पकाल के लिए ससार की झझटो और वखेडो से निष्कृति मिले, इस अभिप्राय से, मानव-समाज में कालान्तर में नाना प्रकार के मनोरजन के साधन चल निकले। दूसरे शब्दो में, मनोरजन के जितने भी साधन हैं, सामान्यत उन सवका ध्येय, ससार के वखेडो और झझटो मे उलझे मानव के मन को थोडे समय के लिये चिंता-भावना से परे ले जाकर, कल्पना के सब्ज-बाग मे छोड देना है।

मनोविनोद के जितने भी साधन हैं, मोटे तौर पर वे तीन भागो में विभक्त किये जा सकते हैं—शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक। शरीर को स्वस्थ और सबल बनाये रखने के लिये कालातर में दौड-धूप, कुश्ती, नाना प्रकार के खेल-कूद, शिकार, इत्यादि की रचना हुई, किंवा परपरा के रूप में उत्तरकाल के मानव ने उन्हे अपने अर्ध-सभ्य पूर्वजो से प्राप्त किया। मानसिक शक्तियो को विकसित करने के लिये नृत्य-गीत,

नाटक-अभिनय, कविता-पाठ, आख्यान-कहानी-कथा आदि की प्रथा, तथा कुछ दिमागी खेल जैसे शतरज, चौपड प्रभृति का आविष्कार हुआ। आध्यात्मिक शक्ति की अभिवृद्धि के लिये क्रमश यज्ञ-हवन, पूजा-पाठ, स्नान-दर्शन, यात्रा-शृगार प्रभृति करने या मनाने की प्रथाएँ चल निकली। मनोरजन के उपर्युक्त साधनो का यदि विश्लेषण किया जाय तो प्रतीत होगा कि सब का ध्येय थोडी देर के लिये मानव के थके-हारे मन को वास्तविक ससार के अभाव-अभियोगो से हटा कर कल्पना के राज्य की सैर कराने का है, जिससे क्षणिक परिवर्त्तन के द्वारा हरा-भरा मन लेकर वह फिर से ससार के प्रपंचो को सुलझाने मे जुट जाय।

सस्कृत में एक लोकोक्ति है जिसका भावार्थ है कि लोगो की रुचि भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। मानव-मात्र के स्वभाव में थोडी-बहुत विलक्षणता होने के कारण प्रत्येक के खान-पान, रहन-सहन, वस्त्र-आभूषण, इत्यादि में थोडी-बहुत पृथकता होती है । जैसे किसी को नमकीन भली लगती है, तो किसी को मिठाई। कोई धोती पहनता है, तो कोई पतलून। कोई सीधा-सादा जीवन व्यतीत करना पसद करता है, तो कोई ठाठ से रहना चाहता है, इत्यादि। विविध प्रकार की रुचि के मानवो का मन बहलाने के लिये कालातर में मनोरजन के नाना साधन चल निकले— जैसे किसी को नृत्य-गीत से प्रेम है, तो किसी को कुश्ती या शिकार से, कोई सरकस का रस लेना चाहता है, तो कोई सिनेमा या ड्रामे, इत्यादि का। इस प्रकार जैसे-जैसे दिन बीतते गये वैसे-वैसे मन बहलाव के साधनो की सख्या में भी वृद्धि होती गयी।

मनोविनोद के साधनो में विविधता होते हुए भी, सबमें एक विशिष्टता यह है कि जिसकी जिस विषय में स्वाभाविक रुचि है, अनजाने सुध-बुध खोकर वह उससे बिलकुल चिपक जाता है। उसके करने, बनाने या खेलने में इतना तन्मय हो जाता है कि उसकी लगन के आगे उसे समय की सुधि नही रहती। यहाँ एक मजेदार सत्य घटना का वर्णन करना अप्रासगिक न होगा। लेखक के एक दिवगत मित्र काशी में एक

पाठाशाला के प्रधान पडित थे। वे शतरज खेलने के बडे शौकीन थे। जाडे का मौसम था। सबेरे आठ बजे वे शाक-सब्जी मोल लेने के लिये बाजार चले। उस दिन विद्यालय की छुट्टी नही थी। बाजार से लौटने के बाद भोजनादि से निबट कर उन्हें विद्यालय जाना था। बीच रास्ते मे एक कोठरी मे बैठ कर उनके दो-तीन मित्र शतरज खेल रहे थे। पडित जी को जाते देखकर उन्होने उनसे भीतर चले आने का आग्रह किया। पडित जी 'ना-ना' करते हुए अतत भीतर घुस ही पडे। प्रारभिक दशा में पडित जी ने खेलना अस्वीकार किया, क्योंकि शीघ्र घर लौटना था, फिर नियत समय पर विद्यालय भी जाना था। इसलिये शुरू-शुरू में वे केवल चाल बोलते गये। चाल बोलते-बोलते पडित जी क्रमश स्वय खेलने लग गये। खेलते-खेलते वे इतने विभोर हो गये कि भूख-प्यास, स्कूल में उपस्थिति की बात आदि सब कुछ उन्होंने भुला दिया। सुध-बुध खोकर वह खेलते रहे। चार बजे जब स्कूल की छुट्टी हो गयी थी, तब उसी रास्ते से पडित जी के एक सहकर्मी विद्यालय से लोट रहे थे। उन्होने पडित जी को शतरज की गोटियाँ चलते देख आवाज दी—"कहिये महाराज, आज आप को क्या हो गया था? स्कूल भी नही आये—चिट्ठी-चपाती भी नही भेजी?" तब पडित जी का होश-हवास लौटा और लज्जित होकर खाली थैली हाथ में लटका कर वे पैर घसीटते हुए घर लौटे। घर लौटने पर शाम को घरवाली की और दूसरे दिन प्रात काल प्रधान अध्यापक की डाँट-फटकार चुपचाप सुननी पडी। बच्चे भी खेलने में इतने दत्त-चित्त हो जाते है कि बिना धमकी दिये वे खेल को छोडते नहीं। साधना के प्रसग में कहा जाता है कि जब साध्य, साधन और साधक मे एकरसता स्थापित हो जाती है, तभी सिद्धि उपलब्ध होती है। खेलते समय बच्चे भी अपने को पूर्णतया भुला देते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि बच्चे खेल-कूद में क्यो इतना ली-लीन हो जाते है और लिखने-पढने से जी क्यो चुराते हैं? मनोवैज्ञानिको का कहना है कि खेल-कूद में वे स्वतत्रता का मजा चखते हैं, इसीलिये खेलते समय वे सुध-बुध खो देते हैं। वे अच्छी तरह जानते हैं कि जब तक वे अघा

न जायँ तब तक खेल सकते है तथा इच्छानुसार खेल सकते है—कोई बोलने वाला या रोकने वाला नही। इसके विपरीत पढाई-लिखाई ऊपर से लादी जाती है। उस क्षेत्र में वे स्वतन्त्रता से कुछ भी नही कर सकते। मुख्यत इसीलिये वे लिखने-पढने से जी चुराने लगते है।

प्राचीन ढग की शिक्षा-प्रणाली की इस कमी को दूर करने के लिये किंडरगाटन, मान्टेसोरी और डालटन् पद्धतियाँ चल निकली। इनकी विशिष्टता यह है कि वे खेल-कूद को आधार बना कर विद्यार्थियो को शिक्षा देती है।

प्राचीन-पंथी शिक्षा-शास्त्री विद्यार्थी-जीवन में खेल-कूद की महत्ता को बिलकुल स्वीकार नही करते थे। उनको इस बात का सदैव भय लगा रहता था कि 'बचपन के खिलाडी बूढे हो जाने पर भी खेलते ही रहेंगे।' आधुनिक काल के शिक्षा-शास्त्री बालोचित क्रीडा-कौतुक और ठोस काम-काज में विशेष कोई भेद नही मानते। उनकी राय है कि दोनो का ध्येय एक-सा ही है। दोनो के द्वारा जीव आत्माभिव्यक्ति करता है, अर्थात् खेल से भी उसकी स्वाभाविक रुचि, प्रवृत्ति, शक्ति, पटुता तथा लगन आदि का पता चलता है, तथा किसी खेल-कूद की प्रतियोगिता में प्रथम आने से अथवा कोई रचनात्मक काम करने से बच्चे को उतनी ही प्रसन्नता होती है, जितनी कि किसी ठोस कार्य करके सफल होने से। फिर दोनो से ही तन्मयता की शिक्षा मिलती है।

अत आजकल परिमित हँसी-मजाक और खेल-कूद (जिन्हें हम सामान्यत मनोरजन के साधन मानते हैं) और ठोस काम-काज के बीच प्राचीन काल मे जो गहरी खाई थी, उसको पाट देने की प्रवृत्ति भी चल रही है। इसी सिद्धान्त को आगे बढाकर काम-काज के केन्द्र, बडे-बडे कारखानो में काम करने वाले श्रमिको पर लागू किया जा रहा है। उद्योग-पतियो की ओर से नीरस और एकरूपात्मक कार्य में थोडी बहुत विचित्रता लाकर कारखाने के कृत्यो को सरस और रोचक बनाने का प्रयत्न हो रहा है। कार्यारभ के पहले सभी श्रमिक एकत्र होकर बैण्ड बजाते हुए मार्च करते चलते है।

फिर मध्यावकाश के समय रेकार्ड आदि वजाये जाते हैं, या यत्र-सगीत होता रहता है। अत में, कार्य-क्रम समाप्त होने के वाद श्रमिकों के मन-वहलाव के लिये खेल-कूद, पाठागार, व्यायामशाला आदि का भी प्रवध किया जाता है। इस प्रकार कारखानो के सदस्यो की चुस्ती, फुर्त्ती, कर्मण्यता, अहमन्यता आदि सद्गुण वनाये रखने के उद्देश्य से इन सव सहूलियतों की सृष्टि की गयी है। परन्तु इसमें भी पूजीपतियो का परोक्ष प्रकार से गूढ स्वार्थ निहित है। इसमें भी व्यवसाय-वुद्धि की महक है। सामान्यत यह इसलिये किया जाता है जिससे श्रमिक लोग नशाखोरी आदि करके अपनी कार्यशक्ति को नष्ट न करने पावे। क्योकि मन बहलाव की प्रणाली और क्रिया-शक्ति अन्योन्याश्रित हैं।

इस प्रकार आधुनिक काल के आमोद-प्रमोद की विशिष्टता यह है कि वह किसी ध्येय को सामने रख कर किया जाता है। वालको को खेल-कूद के लिए में इसलिये प्रोत्साहन दिया जाता है कि वाद में वे लगन के साथ लिखे-पढ़ें। श्रमिको को मन-वहलाव का साज-सामान इसलिये मुहैया किया जाता है कि उनकी क्रिया-शक्ति ज्यो की त्यो वनी रहे। भले ही विद्यार्थी और श्रमिको की निगाह से उद्देश्य छिपा कर रखा जाय। परन्तु प्राचीन काल के मनोविनोद की विशिष्टता यह थी कि उसमें आजकल की तरह कोई पुछल्ला नही जोडा जाता था। जव आनद करने का अवसर आता तव लोग दिल खोल कर आनद मनाते। उस समय मानो आनद सजीव वन कर उनके कधे पर सवार हो जाता और वे आनद के साथ घुल-मिल जाते थे। ऐसी दशा में सभवत आनदातिरेक, आज-कल के विचार से, औचित्य की मात्रा लांघ जाता था। फिर प्राचीन काल के लोग प्रकृति के वडे सवेगी होते थे। आजकल की तरह वे आवेगो पर लगाम नही कसे रहते थे। इसके लिये भी कभी-कभी उनके आनन्द मनाने के ढग में आधुनिक काल की दृष्टि से, कुरुचि की झलक आ जाती थी। फिर भी सतोष की वात यह है कि वे मन के पाक-साफ होते थे। उनकी भावना कदाचित् ही कलुषित होती थी।

प्रस्तुत पुस्तक में, प्राचीन काल मे हमारे देश में समय-समय पर आमोद-प्रमोद के जितने भी साधन प्रचलित थे, सभी का धारावाहिक विवरण दिया गया है। उन्हें दो भागो में विभक्त किया जा सकता है। अधिकतर साधन तो निर्दोष थे, परन्तु थोडे से कुछ हेठे भी थे।

मनोविज्ञान की दृष्टि से यदि मनोरजन के निर्दोष साधनो की छान-वीन की जाय तो देखा जायगा कि दौड की प्रतियोगिता, कुश्ती, प्रहरण-क्रीडा, कन्दुक-क्रीडा, आखेट आदि शारीरिक चुस्ती, फुर्त्ती और क्रिया-शक्ति बढ़ाने तथा मन को भला-चगा बनाये रखने के लिये प्रचलित हुये थे। उद्यान-यात्रा, वन-विहार, शाल-भजिका, ताल-भजिका, सहकार-भजिका, बिस-खादिका, नवपत्रिका, उदक-क्ष्वेडिका, जल-क्रीडा, वन-भोजन प्रभृति नागरिको को प्रकृति देवी के नग्न स्वरूप के साथ परिचित कराने के अभिप्राय से चल निकले थे। काव्य-सभा, आकर्ष, गोधूम-पुञ्जिका, गोष्ठी-समवाय, पाद-पूरण, समस्या-श्लोक-पूरण, अगुलि-ताडितिका प्रमुख क्रीडा-कौतुक बौद्धिक खेल थे। पट्टिका-क्रीडा, माला पिरोना, चित्र-कारी, मदिर-निर्माण, गुडिया बनाना, तक्षण आदि रचनात्मक खेल थे। नृप-क्रीडा, कृत्रिम वृषभ-क्रीडा, मुष्टि द्यूत, सुनिमीलितिका, मर्कटोत्प्ला-वन क्रीडा, कृत्रिम पुत्रक, वल्ली-वृक्ष विवाह, नाटक, आख्यानो का वर्णन जैसी क्रीडाएँ कल्पना-शक्ति को विकसित करने वाली थी। चित्रकारी, माया वा जादू, गाधर्व आदि ने मनबहलाव के साधन होते हुए भी, विद्या और कला को समृद्ध किया। दोला-क्रीडा, सवाहन, कुकुम क्रीडा, सपेरों के प्रदर्शन आदि मनोविनोद के विशुद्ध साधन माने जा सकते हैं। अपने हृदय में निहित सवेगो को सशक्त बना रखने के लिये लोग घर में पशु-पक्षी भी पालते थे। सामाजिकता के सुख का अनुभव करने के लिये जलसे किये और जलूस निकाले जाते थे। गोष्ठी वा जलसे नाना प्रकार के होते थे। जैसे पान-गोष्ठी, कला-गोष्ठी, पद-गोष्ठी, काव्य-गोष्ठी, जल्प-गोष्ठी, नृत्य-गोष्ठी, गीत-गोष्ठी, वादित्र गोष्ठी, वीणा-गोष्ठी, इत्यादि। आधुनिक काल की 'क्लब' जैसी कुतूहल-शालाएँ और लीलाघर होते थे—

से स्वय-सपूर्ण था। उसे कदापि परमुखापेक्षी न वनना पडा। फिर देश-वासियो की आवश्यकताएँ भी कम थी। थोडे में वे सतुष्ट रहते थे तथा उनकी वनावटी माँगें भी स्वल्प थी। आवादी कम थी, अत प्रतियोगिता नही थी। ऐसी दशा में उन्हें आवश्यकता से अधिक फुरसत मिलती थी। यह फालतू समय वे मनवहलाव के साधनो के द्वारा काटते थे। कुछ लोग धार्मिक कृत्यादि करने में जुट जाते, शेष अपनी अपनी रुचि के अनुसार चैन की वाँसुरी वजाते थे। इस प्रसग में कुछ लोग सुरापान करते, जुआ खेलते और वाजारू स्त्रियो का भी सग करते थे।

हमारे अध्ययन-काल के अतिम दिनो में वैदिक और तान्त्रिक सिद्धान्तो का समन्वय हो गया था। धर्म के क्षेत्र में देवियो को पूजने की रीति ने फिर जोर किया। इसलिये समाज, साहित्य और कला के क्षेत्रो मे अधिक से अधिक स्त्रियो की पूछ-ताँछ होने लगी। अवोध जनता काम को प्रेम के रत्न-जडित सिहासन पर सादर पधरा कर उसकी अर्चा करने में पग गयी। फलत शिल्प, साहित्य और कला के क्षेत्रो में, आज-कल के दृष्टिकोण से, सरासर कुरुचि का परिचय नि सकोच दिया जाने लगा। ऐने गाढ़े दिनो मे भी, हर्ष का विषय है, हमारे आदर्श का झडा ऊँचा रहा—किमी भी दशा में उस पर ठेस नही पहुँचने पायी।

---

(१)

पूर्व वैदिक और वैदिक काल

(ई० पू० ६०० तक)

क्रीडा-कौतुक के विशेषज्ञो की सम्मति है कि आदि-वासियों के मनोरजन के साधन प्रकृति की गोद में पले हुए जीव-जतुओ के ऐसे स्वाभाविक होते थे, जैसे—दौड-धूप, उछलना-कूदना, कुश्ती, शिकार, इत्यादि, तथा उनके मनोविनोद बहुधा भूख-प्यास बुझाने, टिकने के स्थान की खोज, यौन-स्पृहा की निवृत्ति और हिंसालु पशु और मानव-शत्रुओ के हमले से आत्म-रक्षा से सबधित थे। थोडे मे मानव-जाति के इतिहास के उस युग में मनोरजन का मुख्य ध्येय इन्द्रियो की स्वाभाविक मांगो की परितृप्ति और प्राण-रक्षा था। उन दिनो के समाज में गण-भोज इसलिये इतना लोक-प्रिय था, क्योकि उसमे भूख-प्यास दोनो तत्काल के लिये शात हो जाती थी। उसी प्रकार उन दिनो के विधि-विधान ने स्नान का महात्म्य इतना अधिक दिया गया है, क्योकि इससे तत्काल मन को शान्ति और शरीर को स्वच्छता प्राप्त होती है। इस प्रकार आदिम-काल के मानव मनोविनोद के साधनो के द्वारा वास्तविक जीवन की कठिनाइयो को सुलझाने की शिक्षा प्राप्त करते थे।

कालान्तर मे जैसे-जैसे आदिम मानव के अनुभव का क्षेत्र विस्तृत होता गया और साथ ही उसे अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियो का भरपूर ज्ञान होता गया, वैसे-वैसे उसकी सस्कृति और सभ्यता की भी प्रगति होती गयी। पान-भोजन और निवास-स्थान सबधित समस्याओ का समाधान होने पर ज्यो-ज्यो उन्हे अवकाश और स्वातत्र्य प्राप्त होता गया, त्यो-त्यो व्यक्तित्व को विकसित करने के लिये नाना प्रकार के मनो-रजन के साधनो का आविष्कार होता गया। क्रमश ललितकलाओ, जैसे

इस काल तक आते-आते मानव-जाति की भारतीय शाखा ने हर क्षेत्र में प्रगति कर ली थी। अत और-और विषयो में उन्नति करने के साथ-साथ उनके आमोद-प्रमोद के साधनों में भी उन्नति हुई। नीचे उसी का विशद वर्णन हो रहा है।

वैदिक साहित्य में उल्लिखित मनोविनोद के साधनो पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि उन दिनो के समाज मे दौड, नृत्य-गीत और वाद्य, आखेट, जादू का खेल, कहानी सुनाना, प्रारभिक नाट्य कला का अभिनय, शौकिया हस्त-कला प्रभृति, देहाती जीवन व्यतीत करने वाले आर्यों के मनोविनोद के अनेक प्रकार के प्रधान साधन प्रचलित थे। इनके अतिरिक्त कुछ लोग जुआ खेल कर और सुरा पान कर आत्म-सतोष प्राप्त करते थे। पुन कभी-कभी समन नाम के मेले लगते थे जिनके द्वारा आर्यों के हृदय में सामूहिकता का भाव उत्पन्न होता था।

मनोरजन के उपर्युक्त साधनों में घुड-दौड, रथो की दौड और आखेट को अग्रेजी मे स्पोर्ट्‌स कहा जाता है। इनका मुख्य ध्येय होता है—कार्यंत भाग लेनेवालो मे प्रतिस्पर्धा की भावना को जगाकर, दर्शको के अन्त स्तल में सुप्त युद्ध-लिप्सा को शान्त कर तबीयत बहलाना। झूले पर लेटे हुए शिशु के हाथ-पैर पटकने की क्रिया से लेकर प्रकाण्ड विश्व-युद्ध की धधकती हुई ज्वाला तक सभी क्रियाओं मे मानवात्मा की यौद्धिक मनोवृत्ति का आभास पाया जाता है। मानव-जीवन ही अखड सग्राम की मनोज्ञ कहानी है। जिधर दृष्टि फेरी जाय, उधर ही युद्ध के निदर्शन देखने में आते हैं। बच्चे और नवयुवक हाथा-पाई करते हैं, तो वयस्क व्यक्ति जिह्वा से वही काम लेता है। व्यापारी दूसरे रोजगारियो से टक्कर लेता है। उधर वैज्ञानिक और दार्शनिक अपने-अपने सिद्धान्तो का समर्थन करते हुए बुद्धि की लडाइयाँ लड़ते हैं। सघटित तथा सुसभ्य समाज मे मानव की यौद्धिक मनोवृत्ति का मूर्त प्रतीक है—क्रीडा कौतुक की प्रतियोगिता। दो अथवा अधिक व्यक्तियों की योग्यता की तुलना करने का नाम प्रतियोगिता है।

ओलिम्पिक खेल-कूद

प्राचीन यूनान मे हर पाँचवें साल के जुलाई महीने में इतिहास-प्रसिद्ध ओलिम्पिया में ओलिम्पिक् खेल-कूद हुआ करता था। इस अवसर पर महीने भर के लिये सारे यूनान में अखड शान्ति विराजती थी। इसको सुविधा प्राप्त कर यूनान के कोने-कोने से दर्शक लोग ओलिम्पिया मे एकत्र होते थे। ओलिम्पिया एलिस् राष्ट्र में स्थित एक छोटा-सा नगर था। पेलोपोनीज़ प्रायद्वीप के पश्चिम मे एलिस् और ठीक दक्षिण में स्पार्टा था। ये खेल-कूद ज़ीऊस के सम्मान मे प्रदर्शित किये जाते थे। नगर के जिस भाग में ज़ीऊस का मदिर था उसका नाम आल्टिस् था। इसी के पूर्व मे स्टेडियम् और हिपोड्रोम थे। वही दौड-धूप और खेल-कूद प्रभृति होते थे। ओलिम्पिया के खेल-कूद यूनानियो की जातीय सपत्ति मानी जाती थी। अत इसमें केवल ऐसे ही नवयुवक और किशोर भाग ले सकते थे जो जन्मना यूनानी होते थे। प्रतियोगियो का प्रारभिक चुनाव एलिस् में होता था, फिर दस महीने उन्हें शिक्षा दी जाती थी। अतिम चुनाव और पारितोषिक का वितरण भी एलिस के कर्मचारियो के तत्त्वावधान में हुआ करता था।

प्रारभिक दशा में केवल २०० गज की "स्टेडियम्" नाम की दौड होती थी। इसमें प्रतियोगिता करने के लिये सारे यूनान से तेज दौडने वाले युवक एकत्र होते थे। स्टेडियम् के विजयी वीर सारे यूनान के प्रमुख व्यक्तियो में माने जाते थे। इसके अतिरिक्त आदर-सत्कार, इनाम-बख्शीस और रू-रियायत की बात ही क्या! पहले उसके माथे पर जगली जैतून का बना हुआ एक गजरा पहना देने की प्रथा थी। खेल समाप्त होने पर जीतने वाले के देश-वासी बाजे-गाजे के साथ उछलते-कूदते उसे घर लौटा ले जाते थे। कालान्तर में रथो की दौड, घुडदौड, कुश्ती, मुष्टि-युद्ध, कूद-फाँद, भाला फेंकना, लोहे का बना मोटा तवा फेंकना, आदि १२ बातें और जोडी गयी। इनका प्रदर्शन हिपोड्रोम में होता था। क्रमशः ऐसे जमावो मे कवि, भाषण देने वाले, दार्शनिक तथा लेखक भी पहुँचने

लगे। वे अपनी रचना पढ कर सुनाते थे अथवा अपने सिद्धान्तो के समर्थन में व्याख्यान देते थे। ओलिम्पिया के सम्मेलन में जो वात देखी या सुनी जाती थी, शीघ्र ही समग्र यूनान मे उसका प्रचार हो जाता था।

ओलिम्पिया के खेल-कूद का श्रीगणेश कव हुआ था, इसका ठीक-ठीक पता नही चलता। कुछ लोगो का कथन है कि हेराक्लीज ने पहले-पहल इसका सघठन किया था। कुछ लोग कहते है कि इनोमौस ने अपनी पुत्री हिपोडेमिया के विवाह के प्रसग मे इस खेल का शुभारम्भ किया था। चाहे कुछ भी हो, ई० पू० ७७६ से विजयी वीरो की एक धारा-वाहिक सूची मिलती है। उस साल एलिस् के कोरीवस् की जीत हुई थी। यूनानी स्वातत्र्य की इतिश्री होने पर भी सन् ३९३ तक ये खेल चालू रहे।

यूनानियो का सिद्धान्त था कि मानव के मस्तिष्क और आत्मा के साथ-साथ शरीर का भी भरण-पोषण करना चाहिये, तथा शरीर और मन दोनो को नियन्त्रित करने की आवश्यकता है। अततोगत्वा जव इन दोनो की एक-रसता होगी तभी मानव उचित ढग से ज़ीऊस का आदर-सम्मान कर सकता है। ओलिम्पिक की प्रतियोगिता-मूलक दौड-धूप और खेल-कूद द्वारा उसी सिद्धान्त की पुष्टि की जाती थी।

हमारे देश में वैदिक काल मे यद्यपि इस प्रकार सघटित-रूप से खेल-कूद प्रभृति दिखाने की प्रथा तव तक नही थी, फिर भी आर्य लोग दौड की प्रतियोगिता, घुड-दौड और रथो की दौड के प्रति विशेप अनुरक्ति दिखाते थे।

पैदल दौड़ने की प्रतियोगिता

ऐतरेय ब्राह्मण मे विदित होता है कि देवताओ का आपस में जव-जव मतभेद होता था, तव-तव दौड की प्रतियोगिता का आयोजन कर वे उस विवादास्पद विपय का निपटारा कर लेते थे। उस ग्रथ में एक उदाहरण का उल्लेख है। सवसे पहले कौन देवता सोमरस का पान करेंगे, इस विपय पर जव देवताओ में मत-भेद हुआ और जव सभी एक साथ वालको

की तरह "मुझे मिलना चाहिये" कह कर चिल्लाने लगे, तब निर्णय के लिये दौड की प्रतियोगिता की गयी। इस प्रतियोगिता में वायु की जीत हुई तथा इन्द्र दूसरे आये। यज्ञादि के अवसर पर तभी से वायु को तीन-चौथाई भाग मिलने लगा और शेष इन्द्र को। मित्र, वरुण, अश्विन्, प्रमुख देवता पिछड गये थे। अत वे मुँह देखते रह गये[1]।

पुन उसी ग्रथ से पता चलता है कि सोम के साथ प्रजापति की सुपुत्री सूर्या-सावित्री के विवाह के अवसर पर प्रजापति ने सहस्र पद के एक स्तोत्र की रचना की थी। समाचार मिलते ही सभी देवता चिल्लाने लगे, "यह स्तोत्र मुझे मिलना चाहिये।" फिर दौड की प्रतियोगिता हुई। सूर्य को लक्ष्य-बिंदु बनाया गया। प्रारभिक दशा में अग्नि ने जोर किया। परन्तु अश्विनो ने क्रम से अग्नि, उषा देवी और इन्द्र प्रमुख देवताओ से समझौता कर बाजी मार ली। तभी से उस स्तोत्र का नाम अश्विन्-शस्त्र पडा। इसमे उषा, अग्नि और इन्द्र को भी थोडा-बहुत भाग मिल गया[2]।

शतपथ ब्राह्मण से विदित होता है कि प्रजापति से देवता और असुर दोनो की उत्पत्ति हुई। असुर अपने-अपने मुह में हव्यादि डालते गये। इस प्रकार के अभिमान के कारण अन्तत उनका नाश हुआ। इसके विपरीत, देवता हव्यादि एक दूसरे को चढाते थे। इसलिये प्रजापति ने देवताओ का पक्ष लिया और असुरो से मुँह मोड लिया। तभी से यज्ञ-हवन देवताओ का आहार बना।

इस प्रसग मे कहा गया है कि हवन के समय सभी देवता चिल्लाने लगे कि अकेले मुझको यज्ञ का हवि मिलना चाहिये। झगडे का निपटारा करने के लिये दौड़ की प्रतियोगिता की गयी। इसमें सावित्री की कृपा से बृहस्पति की जीत हुई। तभी से बृहस्पति स्वर्लोक के सर्वेसर्वा बन गये[3]।

देवताओ को प्रसन्न करने के लिये प्रजापति ने अपने को बलि चढाना चाहा। अग्र-भाग किसको मिलना चाहिये इस बात पर देवताओ में मतभेद हो गया। सभी कहने लगे कि अग्र-भाग मुझको मिलना चाहिये।

१ २।२५ २ ४।७–८ ३ ५।१।१।–४

यह मामला तय करने के लिये प्रजापति के कहने से दौड की प्रतियोगिता हुई। इसमें अग्नि की जीत रही। फिर क्रम से मित्र-वरुण और इन्द्र आये। तभी से प्रत्येक को एक-एक आज्य देने की रीति चल निकली तथा चौथा आज्य इन्द्राग्नि को चढाया जाने लगा[१]।

देवताओ की देखा-देखी मानव-समाज में भी दौड की प्रतियोगिता करने की प्रथा चल पडी, तथा ऐतरेय ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि प्रतियोगिता में प्रथम आने से शासक की ओर से पारितोषिक दिया जाता था[२]।

रथों की दौड़

वाजपेय यज्ञ के अवसर पर रथो की दौड करने की प्रथा थी। इसमें यजमान की जीत होना अनिवार्य था[३]।

घुड़-दौड़

वेदो म घुड-दौड का नाम "आजि" दिया गया है[४]। ऋक्सहिता में कई स्थानो में घुड-दौड का उल्लेख है[५]। जिस तग मार्ग पर से होते हुए घोडे दौडते थे, उसका नाम "काष्ठ"[६] या "सप्त्य"[७] था। उसका आकार अर्धवृत्त जैसा होता था[८]। मार्ग चौडा होता था तथा वह नाप लिया जाता था[९]। घुडदौड में जीत होने से पारितोपिक मिलता था। पारितोपिक का नाम "धन" था[१०]। तेज दौडने वाले घोडो की सेवा-टहल की जाती थी। उन्हें नहलाया तथा सजाया जाता था[११]। दौड समाप्त होने पर घोडो को खुले मैदान में टहलाकर शान्त किया

---

१ पचविशति ब्रा०, ७।२।१-२
२ ४।७
३ शतपथ ब्रा०, ५।१।५।२
४ ऋग्वेद, ४।२४।८, अथर्व, १३।२।४
५ ५।३७।३, ६।२८।६
६ ऋग्वेद, ८।८०।८
७ " ८।४१।४
८ अथर्व, २।१४।६, १३।२।४
९ ऋग्वेद, ८।८०।८
१० ,, २।८१।३, २।११६।१५
११ ,, २।३४।३, ९।१०९।१०

जाता था[१]। इसके लिये सिंधु और सरस्वती प्रान्त के तेज दौडने वाले घोडो की माग थी[२]। घुडदौड के सघटन करने वाले का नाम "आजिसृत्" था[३]। इन्द्र भगवान् को "आजिकृत्"[४] और "आजिपति"[५] कह कर सम्मानित किया गया है। राजसूय यज्ञ के प्रसग में औपचारिक रूप से घुड-दौड करने की रीति थी[६]।

आखेट

मानव केवल युद्ध-प्रिय जीव है, ऐसा नही समझना चाहिये। अपितु प्रकृत्या वह आखेट का भी प्रेमी है। प्राचीन काल में आत्म-रक्षा तथा भोजन जुटाने के प्रसग में बाध्य होकर उसे शिकारी बनना पडा था। तभी से उसके चरित्र में यह विलक्षणता समा गयी। बच्चे जो चोर-पुलिस का खेल खेलते हैं, उसमें आदिम-काल के शिकारी मानव की झांकी मिलती है।

वैदिक-काल में पाश या जाल फैला कर चिडियो को पकडने की रीति थी[७]। चिडीमार का नाम निवा-पति था[८]। गड्ढा खोद कर लोग हिरण पकडते थे[९]। पली हुई हथिनी द्वारा जगली हाथी पकडने की रीति थी[१०]। शिकारी कुत्तो को साथ लेकर लोग जगली सुअर मारते थे[११]। बडे-बडे गड्ढे खोद कर शेर पकडने की चाल थी[१२]। फिर शिक.री उसे घेर लेते और उसका वध करते थे[१३]।

---

१ ऋग्वेद २।१३।५
२ „ १०।७५।८, ६।६१।३४
३. शतपथ ब्रा०, ५।१।५।१०
४ ऋग्वेद, ८।५३।६
५, „ ८।५३।१४,
६ तैत्तिरीय सं०, १।८।१५
काठक, १५।८
वाजसनेयी स०, १०।१९
७ शतपथ ब्रा०, ५।१।५।२
८. ऋग्वेद, ३।४५, १
९ „ ९।८३।४
१० „ १०।३९।८
११ „ ८।२।६, १०।४०।८
१२ „ १०।८६।४,
१३ „ १०।२८।१०

हो कर तथा अपनी करामात दिखा कर दर्शको को विस्मित कर देते थे। शतपथ ब्राह्मण में जादूगरो का नाम "यातु-विद्" दिया गया है[१] तथा खेल का नाम 'माया' रखा गया है[२]।

शौकीनी हस्तकला

भृगु ऋषि के वशज लकडी के काम के विशेषज्ञ थे[३]। अनुमान किया जाता है कि इस रीति से रचनात्मक काम कर वे अपने विराम के समय का सदुपयोग करते थे।

वंश-नर्त्तिन्

ये भी एक प्रकार के जादूगर होते थे जो बास पर चढकर नाना प्रकार के जोखिम के खेल दिखाते थे। पुरुषमेध के प्रसग में औपचारिक रूप से उसे वलि चढाने का निर्देश दिया गया है[४]।

प्राचीन रोम में डोरी पर का नाच-कूद वडा लोक-प्रिय था। वडी उँचाई पर एक मजवूत डोरी तान दी जाती थी। उसी पर चढ कर वाजीगर चलता-फिरता और नाचता-गाता था। सभवत इस प्रकार के प्रदर्शनो में दुर्घटनाएँ होती थी। उनको रोकने के लिये सम्राट् मारकस् औरेलियस् ने आज्ञा जारी की कि ऐसे प्रदर्शनो में भविष्य में एक जाली या गद्दा नीचे तान या विछा दिया जाय।

मुष्टि-युद्ध

ऋग्वेद[५] और अथर्ववेद[६] से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में मुष्टि-युद्ध वा मुक्का-मुक्की की प्रथा थी। किन्तु ऐसा लगता है कि इसका उपयोग युद्ध-क्षेत्र में शत्रुओ के प्रति किया जाता था। उस समय मुष्टि-युद्ध मनोरजन का साधन नही वना था।

---

१ १०।५।२।२०

२ १३।४।३।११

३ ऋग्वेद, १०।३९।१४

४ वाजसनेयी स०, ३०।३१
तैत्तिरीय ब्रा०, ३।४।१७।१

५ १।८।२,५।५८।४

६ ५।२२।४, २०।७०।१८

ऊपर मनोरजन के जिन-जिन साधनो का वर्णन हुआ है सामान्यत. वे विशुद्ध माने जाते हैं। परन्तु सभी आर्य एक ही प्रकार के चित्तवृत्ति के नही थे। सभवत इस प्रकार के निर्दोष आमोद-प्रमोद से सबका जी नहीं भरता था। अत भाग्य-सबधी अनिश्चयता की सम्यक् उपलब्धि करते हुए दांव रखने में जो मानसिक उत्तेजना है, जीत होने मे जो हर्षातिरेक और हार होने पर जो बेचैनी होती है उसका कार्यत अनुभव प्राप्त करने के अभिप्राय से कुछ लोग जुआ खेलते अथवा सुरा का उपयोग कर तत्काल के लिये ससार के कुल बखेडो को भूलने की चेष्टा करते थे। सभी को विदित है जुआ और नशाखोरी दोनो व्यसन है। किसी भी घटना या खेल के अनिश्चित परिणाम पर बाजी बदने का नाम जुआ है। ऐसी प्रवृत्ति क्रीडोपयोगी मनोवृत्ति के विकास की विरोधी है। पुन· यह क्रीडा-अनुरागी के चित्त की सामान्य सद्वृत्ति के प्रतिकूल है। लेन-देन का काम यदि उचित ढग से हुआ तो उससे क्रेता और विक्रेता दोनो प्रसन्न रहते हैं। जुआ एक को ठग कर दूसरे को उसका अर्थ दिलाता है, जिससे जीतनेवाले को पराजित जुआरी की शत्रुता मोल लेनी पडती है। इसीलिये सर्वत्र जुए की निन्दा की जाती है। सुरा-पान द्वारा शारीरिक, मानसिक और आर्थिक क्षति होने के अतिरिक्त स्वय गृहस्थी में अशान्ति होती है। अत यह अभ्यास भी त्याज्य है।' सब कुछ होते हुए भी द्यूत और सुरा की समोहिनी शक्ति के आगे सर्वकाल और सर्व देश के मानव सिर झुकाते आये है।

अक्ष-क्रीड़ा

सामान्यत जुआ खेलने का नाम "अक्ष-क्रीडा" था। जुए के अड्डे का नाम "सभा" था[1]। अड्डे के सचालक की उपाधि "सभाविन्" होती थी[2]। खेलते समय बहुत से पासो का उपयोग किया जाता था[3]। एक स्थान मे ५३ (त्रिपचाश.) पासो का उल्लेख है।

१ वाजसनेयी स०, ३०।१८ तैत्तिरीय ब्रा०, ३।४।१६।१
२. तैत्तिरीय ब्रा०, ३।४।१६।१
३ ऋग्वेद, १०।३४।८

"परमाहुति" माना गया है[1]। उसी ग्रथ में यह स्पष्ट कहा गया है कि सोमप राजा अमृत का स्वाद लेने वाला अमर बनता है[2]।

सौत्रामणि यज्ञ के प्रसग में सोम और सुरा दोनों का उपयोग करने की प्रथा थी[3]। चरक-सौत्रामणि के सिलसिले में सुराहुति चढायी जाती थी[4]। वाजपेय के प्रसग मे अशु-ग्रहण और रथारोहण के समय सुरा का उपयोग किया जाता था[5]। राजसूय के सिलसिले मे प्रात सवन नाम की क्रिया करते समय पुरोहित-मडली और यजमान राजा श्वेत और नारशस नामक दो-दो पात्र सोम पान करते थे[6]। द्वादशाह के अवसर पर मन्त्र-पाठ करते हुए पुरोहित लोग सोम-पात्र ओठ तक ले जाते थे[7]। अग्न्याधेय करते समय सुरापान करने की रीति थी[8]। देवताओं को भी सुरा चढायी जाती थी। ऋग्विधान ब्राह्मण के अनुसार अश्विनो को सुरा चढाने की प्रथा थी[9]। शतपथ ब्राह्मण का कहना है कि पितरो को भी सुरा चढायी जाती थी[10]।

यज्ञादि के अवसर पर सुरा-सोम का उपयोग होने पर भी ऐसा नही समझना चाहिये कि यजमान और पुरोहित लोग मनमाने पीकर मतवाले बन जाते थे। ऐसा नही था। उसकी मात्रा नियत थी। यज्ञ मे भाग लेने वालो को उसी नियम के अनुसार पीना पडता था। वाजपेय के प्रसग मे कहा गया है कि सोम और सुरा १७ 'ग्रह' तक पीये जाँय[11]। दशपेय के सिलसिले मे १० चमस (पात्र) तक पीने की प्रथा थी[12]।

ब्राह्मणो के लिये पशुपान महापाप माना जाता था। ऐसे पापियो के लिये प्रायश्चित्त का विधान देते हुए आपस्तम्ब ने कहा है कि वे

---

१ ६।६।३।७
२ ०।४।८।८
३ शतपथ ब्राह्मण, १२।७।३।१४
४ शतपथ ब्राह्मण, ५।५।४।२१
५ ५।१।२।१२, ५।१।५।२८
६ ऐतरेय ब्राह्मण, ७।५।३
७ ६।३।९
८ शाट्यायन श्रौत०, १४।१३।४
९ १।४८
१० ५।५।४।२७
११ शतपथ ब्राह्मण, ५।१।२।९
१२ " ५।४।५।४

उवलती हुई सुरा पीये[१]। वशिष्ठ की सम्मति है कि जान-बूझ कर सुरापान करने से अतिकृच्छ्र व्रत रखने पर ही उसकी शुद्धि हो सकती है, अनजाने सुरापान करने से गरम घी पीया जाय, कृच्छ्र व्रत रखा जाय और उस पतित ब्राह्मण का फिर से सस्कारादि किया जाय। सुरापी ब्राह्मण के मुह में उवलती हुई मदिरा उँडेल देनी चाहिये। मरने पर ही उसकी शुद्धि हो सकती है[२]। गौतम के अनुसार यदि अनजाने मद्य पी ली जाय ता प्रति तीसरे दिन गरम दूध, घी और पानी पीया जाय, कृच्छ्र व्रत रखा जाय, वाद में संस्कारादि किया जाय[३]।

ये सव प्रतिवध मुख्यतः ब्राह्मणो पर लागू थे। और-और जातियो के सदस्यो पर प्रतिवध नही लगा था।

मनोरंजन के उपर्युक्त साधनो के अतिरिक्त कभी-कभी देहाती क्षेत्रो में 'समन' नाम के मेले लगते थे। इनमें आस-पास के गांवो के सभी निवासी तथा कलाकार प्रभृति साग्रह भाग लेते थे। मन वहलाने के लिये बडी सख्या मे सालकारा महिलाएँ उपस्थित रहती थी[४]। ऐसी जमायतो में अपनी रचित कविताओ को सुनाने के लिये कवि[५], धनुर्विद्या में पारदर्शिता दिखाने के उत्सुक धनुर्धारी[६], घुड दौड के घोडे[७] और रोजगार करने के लिये रूपाजीवाएँ[८] भी सम्मिलित होती थी, और पहुँचती थी मनचाहा पति की खोज में तरुणी तथा वयस्क कन्याएँ[९]। मेले का कार्यक्रम रात भर चालू रहता था[१०]। कभी-कभी आग लग जाने से रग में भंग हो जाता था और मडली तितर-वितर हो जाती थी[११]।

---

१. धर्मसूत्र, १।२५।३
२ धर्मसूत्र, २०।१९
३ धर्मसूत्र, २३।१-२
४ ऋग्वेद, १।१२४।८
५ " २।१६।७, ९।९७।४७
६ " ६।७५।३; ५
७ ऋग्वेद, ९।९६।९, अथर्व, ६।९२।९
८ " ४।५८।८
९ " ७।२।५, अथर्व, २।३६।१
१० " १।४८।६
११ " ७।९।४

वैदिक-काल मे प्रचलित नाच-रग तथा क्रीडा-कौतुको पर विवेचन करने से प्रतीत होता हैं कि उन दिनो देहाती जीवन में भी उपयोगी मनोरजन के साधनो की कमी नही थी। आमोद-प्रमोद के उपर्युक्त साधनो का विश्लेषण करने से विदित होता है कि वैयक्तिक योग्यता की थाह लगाने के लिये नाना प्रकार की प्रतिद्वदिता-मूलक दौडो के अतिरिक्त शिकार जैसी क्रीडा मे भी आर्य लोग साग्रह भाग लिया करते थे। शिकार में प्रतिद्वदिता की भावना नही होती। सर्वोपरि चित्तवृत्ति विषयक आमोद प्रमोद के क्षेत्र में आर्यों की प्रगति देख कर हम विस्मित हो जाते हे। पूर्णांग नाटको का विकास न होने पर भी अनेक प्रकार के नाच-तमाशो का आविर्भाव हो चुका था। नृत्य-गीत, कविता रचना तथा आख्यानो की आवृत्ति प्रभृति रचनात्मक खेलो का भी आविष्कार हो गया था। सर्वोपरि आस-पास के गाँवो के आर्यों का हृदय सघ-बद्ध करने के अभिप्राय से मेलो और जल्सो का भी सघटन किया जाता था। तथापि आधुनिक काल के लेखक को बाध्य होकर कहना पडता है कि उस समय तक न तो चतुरग जैसे बौद्धिक खेलो का उदय हुआ था और न फुटबॉल, हॉकी, क्रिकेट जैसी सामूहिक क्रीडाओ का ही आविष्कार हुआ था, जिनके द्वारा आर्यों में सघटन-शक्ति, सहयोगिता की भावना, नि स्वार्थपरता, सहनशीलता, सयम, बहादुरी, अविचलता प्रमुख बहुत-से सद्गुणो का विकास हो सकता। सक्षेप में वैदिक काल के क्रीडा-कौतुक में शिक्षाप्रद सामग्री की कमी थी।

---

(२)

उत्तर वैदिक काल

(ई० पू० ६०० से ५०० ई०)

(अ) पालि साहित्य मे वर्णित मनोरजन के साधन

इस काल में क्रीडा-कौतुक और मनोविनोद के साधनो के क्षेत्र में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। भिन्न-भिन्न दौडो की प्रतियोगिता जो वैदिक-काल में प्रचलित थी, प्राय लुप्त हो गयी। मानव की अतरात्मा में निहित युद्ध-लिप्सा को शान्त करने के अभिप्राय से मल्ल-युद्ध, मुष्टि-युद्ध, पशु-युद्ध ऐसी अनेक प्रकार की अभिनव प्रतियोगिता-मूलक क्रीडाओ का आविर्भाव हुआ। आखेट के विषय में विशेष कोई परिवर्तन नही हुआ तथा प्राचीन काल का नृत्य-गीत-वादित्र, जुआ प्रभृति के अतिरिक्त अनेक प्रकार के नये मनोरजन के साधनो का आविष्कार हुआ। सर्वोपरि इस युग के साहित्य में बालोपयोगी बहुत-से खेल-कूदो का वर्णन है जिनका उल्लेख वैदिक साहित्य मे क्वचित् ही हुआ हो।

कानून के शिकजे मे जकडे रहने के लिये दौड आदि प्रतियोगिता-मूलक क्रीडा के अन्तर्गत है। सामान्यत खेलने का उद्देश्य क्रियाशीलता द्वारा दर्शको को आनन्द देकर स्वय सन्तुष्ट होना होता है। अत वाह्य दृष्टि से वे प्राय गभीर होते हैं। प्रत्युत मनोरजन के विशुद्ध साधनो का कोई परोक्ष उद्देश्य नही होता और वे साधारणतः क्रियात्मक नही होते, जैसे समुद्र के किनारे मटमैले बालू के ढेर पर पडे-पडे उत्ताल तरगमाला का आवागमन देखते रहना, अथवा नवदूर्वादल से ढकी हुई श्यामल सपाट भूमि पर लेटे हुए नील नभोमडल में धीमी चाल से तैरने वाली मेघ-माला की ओर ताकते रहना।

प्रस्तुत काल में आमोद-प्रमोद के साधनो की अनेकता से यही प्रतिपादित होता है कि देश के अधिकतर भू-भाग में सुख-शाति अविचलित रहने के कारण जनता को विराम का समय प्रयोजन से अधिक उपलब्ध था। सारे देश के आर-पार इस काल में राजनीति के क्षेत्र में रुक-रुक कर उलट-फेर होने पर भी प्राचीन सामाजिक सघटन, रीति-नीति और तत्परता पर उनका विशेष कोई प्रभाव नही पडा। समाज सनातनी रूढि पर चलने लगा। अत वहाँ अखड शाति विराजने, भोजन-आच्छादन की सामग्री की प्रचुरता होने तथा स्वल्प परिश्रम द्वारा पर्याप्त उपज प्राप्त होने के कारण उन दिनो के भारतीयो के मन मे कुछ निश्चितता का भाव आ गया था।

इन्ही दिनो बारी-बारी से नन्द, यवन, मौर्य, शुग, काण्व, आन्ध्र, शक, कुषाण और गुप्त साम्राज्यो का उत्थान और पतन हुआ। इनमें से यवन, शक और कुषाण विदेशी होने पर भी कालान्तर में भारतीय संस्कृति को अपनाकर, भारत के प्राचीन अधिवासियो के साथ ऐसे हिल-मिल गये कि अन्तत उनके स्वतत्र अस्तित्व तक का लोप हो गया। इन्ही दिनो धार्मिक विषयो के अतिरिक्त व्यापार, साहित्य, कला-कौशल, उपनिवेशो का स्थापन प्रभृति सभी क्षेत्रो मे देश उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया। हाँ, कई विदेशी हमले भी हुए, राज-प्रासादो मे कई विप्लव आदि भी हुए। किन्तु मुख्यत देश के विस्तार तथा आवागमन के साधनो की कमी के कारण उनका प्रभाव स्थान-विशेष ही में सीमित रहा। इसके अतिरिक्त सब से बडी बात यह है कि भारतीय समाज का सघटन बीसियो राजनैतिक उथल-पुथल और धार्मिक आन्दोलनो के होने के बावजूद हिमाचल पहाड की चोटी जैसा अचल, अटल और स्थिर रहा। हमारे देश के इतिहास में अनादि-काल से सामाजिक स्वतत्रता के होने की बात पर अधिक बल नहीं दिया जाता। राजनैतिक इतिहास के लेखक भले ही इस विषय के प्रति आखें बद कर ले, किन्तु सामाजिक इतिहास के लेखक इसे उडा नहीं दे सकते। बारी-बारी से कितने राज-वशो का

आविर्भाव हुआ और काल के अतल जल में वे विलीन हो गये। चार दिन की चाँदनी, जैसे बौद्ध-मत, जैन-मत आदि ने कुछ दिनो के लिये देश भर में हड़कप मचा रखा था, परन्तु हवा के झोके के समान वे निकल गये। समाज जैसे का तैसा बना रहा। उसकी ठठरी या रीति-नीति में विशेष कोई परिवर्तन नही होने पाया। अत जनता-जनार्दन के प्रतिदिन की जीवन-यात्रा की पद्धति में विशेष कोई हेर-फेर नही हुआ। उनके चैन की रागिनी निरतर बजती गयी। ऐसी दशा में उत्सव और मेलो के साथ-साथ मनोरजन के साधन भी पनपते गये।

पालि साहित्य

पालि के मूल ग्रथ और विशेष कर उनकी टीकाओ में उन दिनो की भारतीय जनता का दु ख-सुख, अभाव-अभियोग और आशा-आकाक्षा की बातो का ऐसा सजग चित्र खीचा गया है कि उनके आगे सस्कृत और जैनो के प्राकृत साहित्यो को कुछ नीचा देखना पडता है। अवश्य सस्कृत-साहित्य के अन्तर्गत नीति-शास्त्र, काम-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, प्रमुख लौकिक पुस्तक तथा स्मृति-पुराण जैसे धार्मिक ग्रथो से जनता की रहन-सहन, दिन-चर्या प्रभृति के विषय में थोडा-बहुत पता चलता है, किन्तु वे अधिक-तर आदर्शवाद के प्रचार का माध्यम तथा विधि-निषेधो का सखा सग्रह होने के कारण अतीव नीरस और प्राण-हीन है। इनके विपरीत अत्थ-वण्णना और अट्ठ-कथाओ मे सगृहीत कहानियो के पढने से गण-देवता की जीती-जागती मूर्ति हमारे सम्मुख खडी हो जाती है। उन दिनो के जन-जीवन के और-और पहलुओ की भाँति पालि-ग्रथो ने मनोविनोद के नाना प्रकार के साधनो पर भी यथोचित आलोकपात किया है।

आखेट

ऊपर कहा जा चुका है कि आदिम मानव की जीवन-यात्रा बहुधा शिकार पर आश्रित थी। शिकार खेलने के प्रसग मे शिकारी पशुओ के लगाव मे आने के कारण उनके मनोविज्ञान से परिचित होते थे और उसके अनुसार काम करने में वे सफल होते थे।

शिकार के प्रसंग में काशी-राज ब्रह्मदत्त के बारे में कहा गया है कि वह हिरण के शिकार तथा मांसाशन का बड़ा प्रेमी था[१]। शिकारी अपने साथ प्रायः शिकारी कुत्ते ले जाता था[२]। इस विषय में शासकों को सहायता देने के लिये प्रजा सदैव उत्सुक रहती थी। कभी-कभी उनसे हंकवों का काम लिया जाता था[३]। कोसल राज्य की प्रजा के बारे में कहा गया है कि शासक की इस प्रवृत्ति को सार्थक करने के अभिप्राय से उन्होंने एक कृत्रिम वन बनवाया था[४]। शिकारियों के संपर्क में सदैव आने के कारण पशु-बुद्धि में क्रमशः प्रखरता आती गयी। इस प्रसंग में शरभ जाति के एक हिरण के बारे में कहा गया है कि आततायियों के बाण से आत्म-रक्षा कर, बड़े-बड़े उपाय कर वह भाग निकला[५]। इसी कहानी में प्रसंगतः छः प्रकार की मृग-माया का उल्लेख है जिनकी सहायता से व्याध के जाल में फँसा हुआ एक हिरण चम्पत हो गया[६]।

कुश्ती

शिकार मानव-हृदय की आधारिक प्रवृत्ति होते हुए भी प्रतिस्पर्धा से परे है, अतः उसका निवेदन सीमित है। इसलिये उसकी यौद्धिक प्रवृत्ति को परितृप्त करने के अभिप्राय से इस युग में नाना प्रकार के कृत्रिम युद्ध प्रदर्शित करने की रीति चल निकली जिसमें मनुष्य और पशु अपनी निपुणता तथा शूरता-वीरता प्रदर्शित करके दर्शकों को स्तंभित कर देते थे।

जातक-ग्रंथों में इस प्रकार की कुश्ती का विशद वर्णन हुआ है, जिसमें रंगभूमि की सजावट, अखाड़ा, दर्शकों के बैठने का स्थान, मल्लयुद्ध आदि का पूरा पता चलता है। बीच में अखाड़ा होता था, उसके

---

१ जातक, २।१८२　　३ जातक, १।१५०　　५ जातक, ४।२६०
२ जातक, ४।४३३　　४ जातक, ३।२७०　　६ जातक, १।१६३

चारो ओर गोलाकार दीर्घाएँ होती थी जिनमे दर्शक बैठते थे। इस प्रकार की रगभूमि मे बलदेव और वासुदेव ने जिस रीति से चाणूर और मुष्टिक नाम के दो मल्लो को दे मारा था[1] उसका वर्णन हुआ है। इस प्रतियोगिता का विशद वर्णन आगे होगा।

कभी-कभी स्त्रियाँ भी मल्ल-युद्ध में भाग लिया करती थी। विनय-पिटक में एक मल्ली के बारे मे कहा गया है कि अन्तत वह भिक्षुणी बन गयी थी[2]। मिलिंद पञ्हह, धम्मपद-अत्थकथा और सुमगल विलासिनी प्रमुख ग्रथो मे भी कुश्ती का उल्लेख है।

दीघ निकाय के ब्रह्मजाल सुत्त में कुश्ती के अतिरिक्त दड-युद्ध, मुष्टि-युद्ध, निब्बुद्ध और उय्योधिक का उल्लेख हुआ है[3]। इनमे दड-युद्ध लाठी चलाने से सम्बन्धित था, मुष्टि-युद्ध का अर्थ मुक्का-मुक्की है, इसका आधुनिक नाम 'बाक्सिंग' है, निब्बुद्ध (सस्कृत नियुद्ध) में सभवत दो मनुष्य लडते थे, तथा उय्योधिक स्यात् कृत्रिम युद्ध का नाम रहा होगा। आधुनिक काल के पेशेवर 'बाक्सर' लोगों की तरह उन दिनो मुष्टिक नाम का एक वर्ग होता था। वे मुक्का लड़ कर रोटी कमाते थे[4]।

पशु-युद्ध

उपर्युक्त नकली युद्धो के अतिरिक्त पशु-युद्ध भी होते थे। इस प्रसग में ब्रह्मजाल सुत्त मे हाथी, घोडे, भैंस, बैल, बकरे, मेढे, मुर्गी और बटेर या बत्तको की लडाई का उल्लेख है। जातक-ग्रन्थो में केवल बैल और मेढे की लडाई का उल्लेख है[5]।

यहाँ स्मरणीय है कि प्राचीन यूनान के थेसाली प्रान्त तथा मिस्र में

---

१. जातक, ४।८१–२
२ हिन्दी सस्करण, पृष्ठ ५२९
३ १।६, सुमगल विलासिनी, १।८५
४ विनय (हिन्दी), पृष्ठ ३४९; जातक, ६।२७७
५ १।३३६, २।८२

शिकार के प्रसग में काशी-राज ब्रह्मदत्त के बारे में कहा गया है कि वह हिरण के शिकार तथा मासाशन का बडा प्रेमी था[१]। शिकारी अपने साथ प्राय शिकारी कुत्ते ले जाता था[२]। इस विषय में शासको को सहायता देने के लिये प्रजा सदैव उत्सुक रहती थी। कभी-कभी उनसे हंकवो का काम लिया जाता था[३]। कोसल राज्य की प्रजा के बारे मे कहा गया है कि शासक की इस प्रवृत्ति को सार्थक करने के अभिप्राय मे उन्होने एक कृत्रिम वन बनवाया था[४]। शिकारियो के सपर्क मे सदैव आने के कारण पशु-बुद्धि मे क्रमश प्रखरता आती गयी। इस प्रसग मे शरभ जाति के एक हिरण के बारे मे कहा गया है कि आततायियो के वाण से आत्म-रक्षा कर, बडे-बडे उपाय कर वह भाग निकला[५]। इसी कहानी में प्रसगत छ प्रकार की मृग-माया का उल्लेख है जिनकी सहायता से व्याध के जाल मे फँसा हुआ एक हिरण चम्पत हो गया[६]।

कुश्ती

शिकार मानव-हृदय की आधारिक प्रवृत्ति होते हुए भी प्रतिस्पर्धा से परे है, अत उसका निवेदन सीमित है। इसलिये उसकी यौद्धिक प्रवृत्ति को परितृप्त करने के अभिप्राय से इस युग में नाना प्रकार के कृत्रिम युद्ध प्रदर्शित करने की रीति चल निकली जिसमें मनुष्य और पशु अपनी निपुणता तथा शूरता-वीरता प्रदर्शित करके दर्शको को स्तभित कर देते थे।

जातक-ग्रथो में इस प्रकार की कुश्ती का विशद वर्णन हुआ है, जिसमे रगभूमि की सजावट, अखाडा, दर्शको के बैठने का स्थान, मल्लयुद्ध आदि का पूरा पता चलता है। बीच मे अखाडा होता था, उसके

---

१ जातक, ३।४८९	३ जातक, २।२५०	५ जातक, ४।२६९
२ जातक, ४।४३७	४ जातक, ३।२७०	६ जातक, १।१६३

चारो ओर गोलाकार दीर्घाएँ होती थी जिनमे दर्शक बैठते थे। इस प्रकार की रगभूमि में बलदेव और वासुदेव ने जिस रीति से चाणूर और मुष्टिक नाम के दो मल्लो को दे मारा था[1] उसका वर्णन हुआ है। इस प्रतियोगिता का विशद वर्णन आगे होगा।

कभी-कभी स्त्रियाँ भी मल्ल-युद्ध में भाग लिया करती थी। विनय-पिटक मे एक मल्ली के बारे मे कहा गया है कि अन्तत वह भिक्षुणी बन गयी थी[2]। मिलिंद पञ्हह, धम्मपद-अत्थकथा और सुमगल विलासिनी प्रमुख ग्रथो मे भी कुश्ती का उल्लेख है।

दीघ निकाय के ब्रह्मजाल सुत्त में कुश्ती के अतिरिक्त दड-युद्ध, मुष्टि-युद्ध, निब्बुद्ध और उय्योधिक का उल्लेख हुआ है[3]। इनमें दड-युद्ध लाठी चलाने से सम्बन्धित था, मुष्टि-युद्ध का अर्थ मुक्का-मुक्की है, इसका आधुनिक नाम 'बाक्सिंग' है, निब्बुद्ध (सस्कृत नियुद्ध) में सभवत. दो मनुष्य लडते थे, तथा उय्योधिक स्यात् कृत्रिम युद्ध का नाम रहा होगा। आधुनिक काल के पेशेवर 'बाक्सर' लोगो की तरह उन दिनो मुष्टिक नाम का एक वर्ग होता था। वे मुक्का लड कर रोटी कमाते थे[4]।

पशु-युद्ध

उपर्युक्त नकली युद्धो के अतिरिक्त पशु-युद्ध भी होते थे। इस प्रसग में ब्रह्मजाल सुत्त मे हाथी, घोडे, भैंस, बैल, बकरे, मेढे, मुर्गी और बटेर या वत्तको की लडाई का उल्लेख है। जातक-ग्रन्थो में केवल बैल और मेढे की लडाई का उल्लेख है[5]।

यहाँ स्मरणीय है कि प्राचीन यूनान के थेसाली प्रान्त तथा मिस्र में

---

१ जातक, ४।८१-२
२ हिन्दी सस्करण, पृष्ठ ५२९
३ १।६, सुमगल विलासिनी, १।८५
४ विनय (हिन्दी), पृष्ठ ३४९; जातक, ६।२७७
५ १।३३६, २।८२

वैलों की लडाई होती थी तथा कुछ प्रान्तो में वटेर और मुर्गों की लडाई वहुत लोकप्रिय आमोद मानी जाती थी।

मनोरजन के जिन साधनो का वर्णन ऊपर हुआ है उनका मुख्य उद्देश्य मानवात्मा में अन्तर्निहित युद्ध-प्रवृत्ति को चरितार्थ करना था। इनके अतिरिक्त इस काल मे वहुत से ऐसे आमोद-प्रमोदो का आविष्कार हुआ जिनका एकमात्र उद्देश्य ससार के प्रपच में फँसे हुए लोगों को तत्काल के लिये आनन्द देना था।

बतकही

सुनने वालो का मन वहलाने के लिये वैदिक-काल में जैसे आख्यान-विद् लोग प्राचीन आख्यानादि सुनाया करते थे, उसी प्रकार इस युग में अनेक श्रेणी के कथा-वखानने-वाले, कहानियाँ सुना कर लोगो का मनोहरण करते थे। ये कथाएँ अधिकतर असार होती थी। इस प्रसग में सुमगल विलासिनी मे हलकी-फुलकी कथाओ की एक लम्वी सूची दी गई है। वह यहाँ उद्धृत की जा रही है। पशु-पक्षी सम्वन्धी कथा, राजकथा, चोरकथा, युद्धकथा, अन्नादि सम्वन्धित कथा, जातिकथा, ग्रामकथा, निगमकथा, जनपदकथा, स्त्री-कथा, सुराकथा, स्वास्थ्य सम्वन्धी कथा, पनघट की कथा (कुभट्ठान), भूत-प्रेत सम्वन्धी कथा, लौकिक कथा, समुद्र सम्वन्धी कथा प्रभृति सभी तरह की कथाएँ इस सूची मे सम्मिलित कर ली गई है[1]।

उद्यान-यात्रा

सम्पन्न नागरिक प्राय दो-एक दिन के लिये घरवार छोड कर "वाहरी तरफ की हवा खाने" नगर के वाहर स्थित वगीचे में जाते हैं। स्वास्थ्य-प्रद यह प्रथा वडी प्राचीन है। पालि-ग्रन्थो मे वहुत से ऐसे उदाहरण मिलते हैं। मुख्यत मनोरजन के अभिप्राय से लोग नगर के क्रियाशील जीवन की चिन्ता-भावना पीछे छोड कर थोडी देर के लिए शाति प्राप्त

---

१ १।८९.

करने के लिये वाग-बगीचे में चले जाते, अथवा वन-जगलो की सघन छाया की शरण में पहुँचते थे।

काशी-राज ब्रह्मदत्त के बारे में कहा गया है कि कभी-कभी वे दिन भर उद्यान में विता कर सध्या समय नगर को लौट आते थे[1]। उसी प्रकार कोसल-राज की जब उद्यान-यात्रा करने की उत्कट इच्छा हुई, तब उन्होंने उद्यान-पालक को बगीचे की सफाई करने के लिये कहला भेजा था[2]। कभी-कभी लोग खान-पान की सामग्री साथ ले जगलो को सिधारते थे। एक बार बनारस के नगरश्रेष्ठी और राज-पुरोहित की पुत्रियाँ पान-भोजन की सामग्री, सुगधि द्रव्य और फूल-माला लेकर उद्यान क्रीडा करने के लिये रवाना हो रही थी, उस समय एक चडाल को देखते ही वे लौट आयी थी[3]। और एक वार तीस सम्पन्न नव-युवक अपनी पत्नियो के साथ उद्यान-क्रीडा करने के अभिप्राय से किसी बगीचे में गये थे। दुर्भाग्यवश इनमें से एक मनुष्य की स्त्री नही थी। इसलिये उसके मित्रो ने उसके लिये एक पण्य-स्त्री मँगवा ली[4]।

विनय पिटक में एक घटना का वर्णन है जिसमे बुद्ध भगवान् को सक्रिय भाग लेना पडा था। काशी से लौटते समय भगवान् उरुविल्व के समीप एक जगल में किसी पेड के नीचे आसन लगा कर बैठे थे। उसी समय उरुविल्व के भद्द-वग्गीय नाम के नवयुवको का सघ बाजारू स्त्रियो के साथ उधर से आ निकला। वे वहाँ क्रीडा-कौतुक कर मन बहला रहे थे। एकाएक उन्हे पता चला कि उनकी एक सहेली कही गुम हो गई है। उसकी खोज मे तव भद्द-वग्ग के सभी सदस्य इधर-उधर निकल पडे। निदान जव वे भगवान् तथागत के पास पहुँचे तव उन्होंने उनसे पूछा—"भगवन्, क्या आपने इस प्रकार की एक रमणी को देखा है ?" उत्तर में तथागत वोले—"जिस तत्परता के साथ

---

१ १।१७५

२ १।३८१

३ ४।३९०

४ महावग्ग, १।१४।१

स्त्रियो के साथ वह राजगृह में "समज्ज" अभिनय प्रदर्शित करता था। तालपुट स्वय प्रसिद्ध अभिनेता और कुशल रग-मचाध्यक्ष था[१]।

नाटक

वैदिक-काल में नाटक के अस्तित्व के सम्बन्ध में कुछ लोगो ने सशय प्रकट किया है। पालि-साहित्य मे यत्र-तत्र नाटक का उल्लेख है। सामान्यत पालि-ग्रन्थो में नाटक के लिये "नट-समज्ज" शब्द का उपयोग हुआ है[२]। अभिनय "रगमडल" मे होता था। कुतूहली दर्शक मच और दीर्घाओं मे बैठते थे तथा सुयोग मिलते ही प्रशसा सूचक हर्षध्वनि करते थे[३]। ऐसा मालूम होता है कि उन दिनो-नाटक की मडलियाँ घूम-घूम कर खेल दिखाती फिरती थी। राज-भवनो को छोड, शायद कोई स्थायी नाट्यशाला नही थी।

कणवेर जातक में इस प्रकार की एक यायावर नाटक मडली का वर्णन मिलता है जो देश-विदेश में "समज्ज" प्रदर्शित करती फिरती थी। सामा नाम की एक वार-नारी को उसका प्रेमिक धोखा देकर चला गया था। विरह-विधुरा सामा ने उसे खोज निकालने के लिये बडे-बडे उपाय किये, परन्तु वह असफल रही। निदान वह मडली के नटो की शरण में पहुँची। वह उन्हे फुसलाती हुई कहती है कि "आप लोग नाना देशा की यात्रा करते फिरते हैं। अभिनय के दिन खेल प्रारभ करने के पहले प्रस्तावना के रूप मे मेरा रचित एक गीत गाया करें। सभव है उसे सुन कर मेरा वल्लभ फिर लौट आवे[४]।

तेमिय कुमार रूपी बोधिसत्व को सदैव पारलौकिक चिन्ता मे लीन रहते देख उसके माता-पिता ने नगर की कुल नाटकी स्त्रियो को बुला कर कहा, "जो कुमार को हँसा सकेगी वह उसकी पटरानी बनेगी।"

---

१ Psalms of the Brethren, पृष्ठ ३६९

२ जातक, ६।७

३ जातक, २।२५३

४ ३।६१

गणिकाओ ने अपने भरसक नृत्य-गीत दिखा-सुना और भाव बता कर कुमार को बहलाने की बहुत चेष्टा की, परन्तु वे असफल रही[1] ।

नाटक का नाम खुद्दक पाठ में "विसूक दस्सन"[2] और सुमगल विलासिनी में "पेक्खन"[3] दिया गया है।

जातक ग्रन्थो में कई श्रेणी के कलाकारो का उल्लेख हुआ है जिनमें नट(अभिनेता), नत्तक (नाचने वाले), गायक, पाणिस्सर(ताली बजाने वाले) और कुभथुनिक (डुग्गी बजाने वाले) मुख्य थे[4] । यहाँ पर यह कहना अप्रासगिक न होगा कि उन दिनो के नाटको में नृत्य-गीत की भरमार होती थी, तथा व्याख्यान और वार्त्तालापो की, जो आधुनिक काल के नाटको की विशिष्टता है, कमी होती थी ।

सुरा-पान

यद्यपि नशाखोरी की बुराइयो से सभी कोई परिचित थे और जातक-ग्रन्थो में कठोर शब्दो में इस प्रथा की निन्दा की गई है[5], पर ब्राह्मण-श्रमणो के अतिरिक्त सभी जाति के स्त्री-पुरुष प्राय सुरापान करते थे। कभी कभी श्रमण-ब्राह्मण भी पानासक्त होते थे। परन्तु ऐसे दृष्टान्त विरल है। जातको का कथन है कि थेर सागत ने एक बार सुरापान किया था। इस पर बुद्ध भगवान् ने सम्मति प्रकट की कि यह पाप प्रायश्चित्तार्ह है[6] । पुन मित्रो के बहकाने से एक श्रोत्रिय ब्राह्मण का पुत्र सुरापान करने लगता है[7] । सुरानक्खत्त (उत्सव) के आने पर काशी-राज ने अपने बगीचे मे ठहरे हुए ५०० साधु-सतो के लिये घडा भर-भर कर मदिरा भेजी थी[8]। किन्तु जैसा ऊपर कहा जा चुका है ऐसे उदाहरणो को अपवाद मानना चाहिये ।

---

१ ४।६।९
२ पृष्ठ ३११
३ १।८५
४ ६।२७६
५. ५।१५
६ १।३६१
७ ५।४६६
८ १।३६२

इसके विपरीत क्षत्रिय लोग वेघडक सुरापान करते थे। वत्स-राज उदेन के वारे में कहा गया है कि वह हफ्ते भर निरन्तर सुरापान करते रहे[१]। ब्रह्मदत्त कुमार सप्ताह भर पानोत्सव मनाते थे[२]। वेस्सन्तर ने मुक्तहस्त होकर सुरा का वितरण किया था[३] इत्यादि। अनाथपिण्डिक का अमितव्ययी भाजा भारी पियक्कड निकला[४]। उद्यान यात्रा के प्रसग में किसी सेठ की पुत्री अतिथियो को "सुरा-भत्तम्" (सुरा और अन्न) पिलाती और खिलाती है[५]।

उत्सवादि मनाने के उपलक्ष्य में सुरापान करना साधारण-सी वात थी। प्रति वर्ष काशी[६], राजगृह[७], श्रावस्ती[८] आदि प्रमुख नगरो में धूम-धाम के साथ सुरा-नक्खत्त मनाने की रीति थी। धम्मपद अत्थकथा से ज्ञात होता है कि श्रावस्ती में यह उत्सव सप्ताह भर मनाया जाता था[३]। लडाई में जीत होने पर "जय-पान" उत्सव मनाने की प्रथा थी। ऐसे अवसरो पर शासक की ओर से विजयी सैनिको को सुरा का समायोग किया जाता था[१०]। वत्स-राज उदेन को जीवित वन्दी कर लेने के उपरान्त चण्ड पज्जोट ने निरन्तर तीन दिन तक "जयपान" किया[११]।

कलवरियो में वडी भीड लगी रहती थी। वहाँ नक्द मूल्य दे कर मद्य खरीदना पडता था। मदिरा वोतलो में नही वेची जाती थी, साधारणत घडो में रखी रहती थी[१२]। मोल लेने वाला सुरा-पात्र (वारक) में से प्याले (कोपक) में उँडेल कर[१३] नमक अथवा

---

१ ४।३७५
२ ६।१६१
३. ६।५०२
४ २।४३१
५ ४।३७६, ३९१
६ १।३६२
७ १।४८९
८ ५।११
९ ३।१००
१० ६।३९३
११ धम्मपद अत्थकथा, १।१९३
१२ जातक, १।२५१
१३ जातक, १।३४९

चीनी[1], सूखी मछली[2] या गोश्त[3] के साथ पीता था। कहा जाता है अग और मगध की सीमा पर एक प्रकाण्ड भठियारखाना था। वह यात्री लोगो की वडी भीड़ लगी रहती थी। वहा वे मत्स्य और मास के साथ मदिरा का सेवन करते थे[4]।

कई प्रकार की सुरा वनती थी—वारुणी[5], अम्बिल सुरा[6], कापोतिका[7], आसव[8], मेरय[9], इत्यादि। प्राय लोग अपने अपने घर में मदिरा वना लेते थे[10]।

कभी कोई शासक निषेधाज्ञा जारी कर देता, परन्तु प्राय वह विफल रहता था। काशी के ग्राम-भोजक ने एक वार इस प्रकार की आज्ञा निकाली थी, परन्तु जन-मत के आगे उसकी एक भी चलने नही पायी[11]। वुद्ध भगवान् ने औषव के रूप में मदिरा का उपयोग करने की आज्ञा दी थी[12]।

जुआ

लोग वडे चाव के साथ जुआ (जूतम्) खेलते थे। खेल प्रारभ होने के पहले द्यूत-मडल सजाया जाता था[13]। सम्पन्न व्यक्तियो के यहा प्राय पटरी चादी की होती थी और पासे सोने के[14]। काशीराज वोधिसत्व ने जव पुरोहित के साथ जुआ खेला तो वेचारे पुरोहित को अपने सव कुछ से हाथ धोना पडा। एक वार वोधिसत्व ने अक्ष-धूर्त्त (कपट जुआरी) वन कर जन्म लिया था[15]। विधुर पडित जातक में कुरु राज्य

---

१ जातक, १।२५१
२ जातक, १।३४९
३ जातक १।४८९
४ जातक, २।२११
५ जातक, १।२५१
६ जातक, १।३४९
७ जातक, १।३६०
८ जातक, ६।९
९ जातक, ४।१६१
१० जातक, १।३५०
११ जातक, ४।११५
१२ महावग्ग, ६।३५।६
१३. जातक, १।२९३
१४ जातक, १।२९०
१५ जातक, १।३७९

के धनजय कौरव और पुण्णक नाम के एक यक्ष के बीच जो जुए का खेल हुआ था, उसका विशद वर्णन है। राजभवन से सलग्न द्यूतशाला में यह खेल हुआ था। पुण्णक ने एक विचित्र मणि बाजी पर लगायी। उधर कौरव ने अपने शरीर और श्वेत छत्र को छोड सभी कुछ पण रखा। चौबीस प्रकार के दाँव होते थे। इनमे मालिक, सावत, वहुल, भद्रा प्रभृति शुभ माने जाते थे। राजा द्यूत-गीत गाता हुआ पासा फेंकता था। इस खेल में पुण्णक यक्ष की जीत हुई थी[1]।

वैशिकी

यदि ऐसा कहा जाय कि वेश्यावृत्ति की प्रथा मानव-समाज के सघटन से भी प्राचीन है तो कुछ अत्युक्ति न होगी। वास्तव में विकास-वादी कुछ ऐसे भी समाज-शास्त्री हैं जिनका यह सिद्धान्त है कि सृष्टि कल्प के आदिम युग में जब घर-गृहस्थी रचने का विधि-विधान मानव को मालूम नही था, विवाह नाम के सस्कार का आविर्भाव तक ससार में नही हुआ था, उन दिनो सभी स्त्रियाँ सामान्य थी, अर्थात् सभी पुरुष इच्छानुसार सभी स्त्रियो से ससर्ग कर सकते थे। मानव समाज के बाल्यावस्था की ऐसी झलक महाभारत के अन्तर्गत दीर्घतमस् और श्वेतकेतु के आख्यानो[2] में उपलब्ध है। स्कद पुराण के माहेश्वर खड में भी स्त्रियो के "यथाकामित्वम्" का उल्लेख है।[3]

वेश्यावृत्ति की विशिष्टता इसमें है कि पैसे या कोई वस्तु लेकर तटस्थ रमणी अपना शरीर सभोग के लिये किसी भी पुरुष को देती है। सामान्यत जीवमात्र की भोग-लिप्सा प्रबल होती है। एक का ससर्ग कर उसका जी नही भरता। इसी लिये हमारे देश के प्राचीन शास्त्रकारो ने एक-पत्नी-व्रत की सराहना की है और इसी लिये रामचन्द्र जी आदर्श पति माने जाते हैं। परन्तु यह आदर्श था—अत एव दुर्बल मानव की

---

१ जातक, ६।२८० ३ १६।४१

२ १।१०४।३५, १।१२२।४

पहुँच से परे था। वास्तव मे प्राचीन समाज मे वहु-विवाह की प्रथा व्यापक थी। इसलिये समाज के विवाहित और अविवाहित सदस्यो की काम-तृष्णा मिटाने तथा विवाह-वधन की पवित्रता एवं धार्मिकता सुरक्षित रखने के लिये सभी देश और सभी काल के समाजो ने वेश्यावृत्ति को मान्यता दी है। इसके अतिरिक्त प्राचीन भारत में गणिका और प्राचीन यूनान में हेटीरा वडी कला-कुशल और विदुषी होती थी, अनेक शास्त्रो की पारदर्शी होती थी। इसलिये वे जाति की सस्कृति की जीती-जागती प्रतीक मानी जाती थी। इस विचार से कही कही राष्ट्र की ओर से उन्हे कुछ सुविधाएँ भी दी जाती थी। अत सपन्न और सम्भ्रान्त व्यक्तियो के लिये मनोविनोद के अतिरिक्त वे शिक्षा का साधन भी मानी जाती थी। इस प्रकार कामान्ध पुरुष की सारी चोटें अपने सिर पर उठा कर, त्याग-मूर्ति वेश्या नीलकठ के समान मृत्युजयी वन गई है।

हमारे दश में वैदिक काल में भी पण्य-स्त्रियो की कमी नही थी। वे यथारीति कमा कर अपना निर्वाह करती थी। ऐसी कन्याएँ जिनकी देख-भाल करने वाले भाई प्रभृति नही होते थे, वहुधा वेश्यावृत्ति करती थी[1]। यजुर्वेद ने वेश्यावृत्ति को मान्यता दी है[2]। धनार्जन के उद्देश्य से ऐसी स्त्रियाँ जहाँ मेला (समन) लगता था, वहाँ पहुचती थी[3]। कुमारी लडकी के वच्चो (कानीन) का नाम "अग्रू" होता था[4]। वाजसनेयी में कुमारी-पुत्र को मान्यता मिली है[5]। प्राय ऐसे अवैध वच्चे त्याग दिये जाते थे[6]।

वारांगनाओ का एक नाम गणिका था। नाम ही से सूचना मिलती है, राजनीतिक "गण" अथवा वात्स्यायन के अनुसार "नागरिक-जन-सम-

---

१. ऋग्वेद, ४।५।५, अथर्व, १।१७।१
२. ३०।१५
३. ऋग्वेद, ४।५८।८
४ ऋग्वेद, ४।१९।९, ४।३०।१६
५ ३०।६
६ ऋग्वेद, २।२९।१

कर दिये[१]। ये स्त्रियाँ वेश-भूषा कर तथा हाव-भाव बता कर मुनियो को भी मोहित कर लेती थी। काल-देवल के भाई नारद मुनि इनके फंदे मे फँस गये थे। निदान उसके भाई ने उनको बचा लिया[२]। वण्ण-दासियाँ पनघट जैसे सार्वजनिक स्थानो में बैठ कर ग्राहको का आसरा जोहती थी। अवन्ती के समीप अरजरा पहाडी के नीचे एक नदी के किनारे बहुत-सी वण्णदा-सियाँ देख पडती थी[३]। निस्सन्देह वे नागरिको की बाट देखती थी।

गणिका

पालि-साहित्य में गणिकाओ की कृतियो का विशद वर्णन हुआ है। गणिका वेश्याओ की रानी मानी जाती थी। वस्तुत किसी-किसी गणिका के परिवार मे ५०० तक वण्ण-दासिया होती थी।[४] प्राचीन यूनान की हेटीरा की तरह वे रूप-गुण, विद्या-वैभव, कलाज्ञान, सौजन्य और चमक-दमक मे अतुलनीय होती थी।

कामसूत्र में गणिका शब्द की विशद व्याख्या नही की गयी है। उनकी प्रशसा में केवल इतना ही कहा गया है कि यदि वेश्या भी कला-कुशल, रूपवती, गुण-सम्पन्न और स्वभाव की अच्छी हुई तो वह गणिका कहलायी जाती है और समाज मे उनका आदर-सत्कार होता है। राष्ट्र की ओर से मान्यता मिलती है, गुण के पारखी उसकी सराहना करते है, कामी उनके यहाँ पहुचते और सभी उससे प्रेम का वर्त्ताव करते है[५]।

भरत के नाट्य-सूत्र मे कहा गया है कि गणिकाएँ राजाओ की सेवा करने में कुशल, स्त्रियो की सामान्य कमियो से परे, मधुर-भाषिणी, मनोज्ञा, धीर, पस्त न होने वाली तथा रूप-गुण-शील-यौवन-माधुर्य-शक्ति-सम्पन्न होती है[६]।

---

१ ३।४३३
२ ३।४६३
३ ३।४६३
४. ३।४३५
५ १।३।२०–२१
६ ३५।६१–६२

जैनो के विपाक-सूत्र मे वणिज ग्राम की कामध्वज नाम की एक गणिका के कला-ज्ञान की लम्बी सूची दी गयी है[1]। कहा गया है कि वह ७२ कलाओ की जाननेवाली, ६४ वैशिक कलाओ में कुशल, रतिशास्त्र से सबद्ध क्रम से २९ और २१ कलाओ की पारदर्शी, नागरिको को प्रसन्न करने की ३२ विद्याओ में निपुण, नवो अगो (आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा और मन) द्वारा कामाग्नि को वधकाने की कला मे चतुर, १८ भाषाओ में सुपडित तथा नृत्य-गीत-अभिनय कला मे प्रवीण थी।

कौटिल्य ने बाजारू स्त्रियो को राष्ट्र की ओर से नियन्त्रित करने की सम्मति दी है। इस लिये वेतन-भोगिनी एक गणिका तत्त्वावधायिका नियुक्त करने की सलाह भी उसने दी है। वह नियमानुसार उनकी देख-रेख करती रहे। कौटिल्य का निर्देश है कि बाजारू स्त्रियो से प्रति मास उनकी दो दिन की आय कर के रूप मे ली जाय। गणिकाएँ दरबार में हाजिरी देती थी और उन्हे वेतन मिलता था। उनसे छत्र-धारिणी, स्वर्ण भृ गार-धारिणी, चामर-धारिणी प्रभृति का काम लिया जाता था। इसके अतिरिक्त भडार, पाकशाला, स्नानागार और हरम मे भी वे काम करती थी।

रूपाजीवा, दासी और अभिनेत्रियो को सिखाने के लिये कलाचार्य होते थे। वे उन्हें नृत्य, गीत, अभिनय, लिपिज्ञान, चित्रकर्म, वाद्य-वादन, पुरुषो का भाव ग्रहण, गध-युक्ति, माल्य-विधि, सवाहन तथा नागरिको को भुलाने की कलाएँ सिखाते थे[2]।

काम-सूत्र मे गणिकाओ को निर्देश दिया गया है कि वे अपने प्रेमियो से रुपये वसूल कर मदिर, जलाशय, बाग-बगीचे आदि बनवाये और दूसरो को बीच में रख कर ब्राह्मणो को गोदान देवें[3]।

---

१ १।२ ३. ६।५।२५

२ अर्थशास्त्र, अध्याय २७

नागरिक जन-समवाय के समक्ष प्रस्तुत किया जाता। अन्त में कलाचार्य, लाक्षणिक प्रमुख सम्भ्रान्त श्रेणी के दलाल लगाकर कन्या के गुणों का प्रचार किया जाता तथा मित्र, विट (धूर्त), विदूषक और भिक्षुकी लगाकर उपयुक्त नायक की खोज की जाती थी।

वारांगनाओं का एक नाम पण्य-स्त्री है। इसका अर्थ यह है कि और आवश्यक वस्तुओं की भाँति ऐसी रमणियाँ स्वल्प वा दीर्घकाल के लिये खरीदी जा सकती हैं। अतः उचित मूल्य मिलने पर ऐसी स्त्रियाँ सानंद तत्काल के लिये खरीदने वाले की सम्पत्ति बन जाती हैं। पालि वाङ्मय में कई वारांगनाओं के मूल्य वा शुल्क के बारे में उल्लेख है।

महावग्ग में वैशाली की नगरशोभा अंबपाली के शुल्क के विषय में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि उसका एक रात का पारिश्रमिक ५० (सिक्का) था। लिच्छवियों से टक्कर लेने के लिये राजगृह में शालवती नाम की एक गणिका बैठायी गयी। उसका प्रति रात का शुल्क १०० (सिक्का) रखा गया[१]। इस सिक्के का नाम संभवतः कहापन या कार्षापण था। किन्तु यह ज्ञात नहीं कि यह किस धातु (सोने अथवा चाँदी) का होता था।

बनारस की काली नाम की एक प्रख्यात गणिका के कार्य-क्रम का वर्णन जातक में हुआ है। इस प्रसंग में कहा गया है कि वह प्रति दिन हजार कार्षापण लेती थी। इस रकम की आधी काली स्वयं लेती और शेष वस्त्र-माला-सुगंध इत्यादि मोल लेने में खर्च किया जाता था। एक श्रेष्ठी-पुत्र प्रतिदिन उसके यहाँ जाता था। एक दिन काली का भाई तुण्डिल जुए में बुरी तरह हार कर नंग-धड़ंग घर लौटा। काली ने उसे घर से निकाल दिया। उसकी दशा देख कर सेठ जी को दया आ गई। उन्होंने अपने पहनावे तुण्डिल को दे दिये और स्वयं काली के दिये हुए वस्त्र पहन लिये। पहनने के वस्त्र मिलते ही तुण्डिल एक कलवरिया में घुस पड़ा।

---

१ ८।१।३

उधर सेठ जी दूसरे दिन सबेरे दिगम्बर बनकर घर पहुँचे। काली के यहाँ जो वस्त्र मिलते थे, दूसरे दिन विदा होते समय आनेवाले को वही छोड देने पडते थे[१]।

उसी प्रकार सामा (श्यामा) नाम की एक गणिका के बारे में कहा गया है कि वह "देव-वण्णी"(देवियो के समान रंग-वाली) थी। इसलिये राजाओ की वल्लभा थी। वह बडे ठाट से रहती थी। उसके यहाँ ५०० वण्ण-दासियो का निर्वाह होता था। उसका भी शुल्क हजार (कार्षापण) था। एक दिन दोपहर को जब वह खिडकी पर खडी थी, तब उसने चोर रूपी बोधिसत्त्व को सूली पर चढाने के लिये मसान की ओर ले जाते देखा। बोधिसत्त्व को देखते ही उसके हृदय में प्रेम का उद्रेक हुआ और वह दडित अपराधी को छुडा लाने की प्राणपण से चेष्टा करने लगी। तत्क्षण उसने बतौर घूस के नगर-गुत्तिक (कोतवाल) को हजार रुपये दिये। नगर-गुत्तिक ने बहानाबाजी करके प्राणदड की आज्ञा उस दिन के लिये टाल दी और सामा से कहला भेजा कि अपराधी का स्थान ले सके, ऐसा कोई आदमी शीघ्र भेजो। इस पर शामा ने भोले-भाले एक सेठ को, जो उस पर लट्टू था, चकमा देकर नगर-गुत्तिक के यहाँ भेजा। नगर-गुत्तिक ने सेठ जी को सूली पर चढा दिया और बोधिसत्त्व को सामा के घर भेजवा दिया[२]।

इस कहानी का उपसहार महावस्तु में दिया गया है। सामा बोधिसत्त्व पर लट्टू हो गयी। वह उसे खूब खिलाती-पिलाती और सेवा-टहल करती। किन्तु सब कुछ होते हुए भी उसने भोले-भाले सेठ जी के साथ जो अनुचित बर्त्ताव किया था, वह बात बराबर बोधिसत्व के मन में खटकती रहती थी। निदान एक दिन दम-पट्टी देकर वह सामा को उद्यान-यात्रा के प्रसग में किसी बगीचे में ले गया। वहाँ उसे खूब शराब पिलायी। जब मद्यपान करते-करते वह बिलकुल बेसुध हो गयी तब उसे तालाब के पानी में डुबा

---

१ ४।२४८-९ २. जातक, ६।५९

कर वोधिसत्त्व वहाँ से चलता हुआ। सामा की माँ ने दवा-दारू देकर उसे स्वस्थ किया। चगी होते ही सामा ने अपने प्रियतम को लौटा लाने के लिये कुछ नटो को भेजा। परन्तु वोधिसत्व लौट कर न आये[१]।

वनारस को नगर-शोभा सुलसा के वारे में भी कहा गया है कि वह अतीव रूपवती और वडभागी थी। उसके परिवारमें ५०० वण्ण-दासियाँ थी। उसका भी प्रतिदिन का शुल्क हजार कार्षापण था[२]।

उपर्युक्त "हजार दीनारी" गणिकाएँ सभवत कहानीकारो के मन-गढत जीव हैं, जिनके अस्तित्व के वारे में ठीक-ठीक पता नही लगाया जा सकता। इसलिये यह प्रकरण समाप्त करने के पहले दो-चार इतिहास-प्रसिद्ध गणिकाओ का विवरण दिया जा रहा है।

शिखि नाम के वुद्ध के शासन-काल में अवपाली भिक्खुनी वन कर एक जुलूस के साथ किसी मदिर को जा रही थी। जन-यात्रा जव मदिर के आँगन में पहुची तव उसके आगे-आगे जो अरहत थेरी चल रही थीं, उसने वहाँ थूक दिया। अवपाली ने उसे थूकते देखा नही था। तथापि मदिर के आँगन में वलगम देख कर अचानक वह वोल उठी—"किस वेश्या ने यहाँ थूका है रे!" इस पाप के लिये अगले जन्म में उसको वेश्या होना पडा।

थेरी गाथा के टीकाकार का कहना है कि अवपाली अयोनिसभवा थी। वैशाली के राजोद्यान में आम के एक पेड के नीचे मालियो के सरदार ने उस वच्ची को देखा और घर लाकर उसे पालने पोसने लगा। आम के पेड के नीचे मिलने के कारण कालान्तर में उस वच्ची का नाम अवपाली पडा। मूल सर्वास्तिवादियो के विनय पिटक के अनुसार, अवपाली वैशाली के महानाम नाम के एक सम्पन्न नागरिक की पुत्री थी[३]। अस्तु, जैसे-जैसे दिन वीतते गये, वैसे-वैसे वालिका का रूप और गुण शुक्ल

---

१ २।१६६
२ ३।८३५
३ ११।३७

पक्ष के चंद्रमा की भाति सोलहो कलाओ के समावेश से वढता चला गया। लिच्छवी राज्य के कुल सरदार उसे अपनाना चाहते थे। यहाँ तक कि वे आपस में लडने के लिये तैयार हो गये। ऐसे समय उनके दिमाग में सुबुद्धि उपजी और सरदारो ने आपस मे समझौता कर लिया कि अव-पाली सामान्या रमणी होगी जिससे सभी उसके रूप और गुण का उपभोग कर सके। तभी से वह वैशाली की नगर-शोभा वनी तथा गण की ओर से उसे कुछ रियायतें दी गयी।

अवपाली की आकर्षणी शक्ति ऐसी प्रवल थी कि दूर-दूर से रसिक लोग उसका ससर्ग करने के लिये वैशाली चले आते थे। लिच्छवियो के कोसने पर भी मगध का विंवसार उसका एक प्रेमिक हो गया और अवपाली ने उससे एक पुत्र भी प्राप्त किया था। निदान वैशाली के महत्व को मिटा देने के अभिप्राय से राजगृह-वालो ने अपने यहाँ शालवती को वैठाया।

अवदान-कल्पलता मे गणिका अव्रपाली के विपय में एक मनमोहक कहानी देखने मे आती है। कहा गया है कि लिच्छवी सरदारो ने जव एक राय होकर उसको "गण-भोग्या" वना दिया, तव यथारीति वह वाजार में जा वैठी। किन्तु आँखो को चौंधिया देने वाले उसके रूप और तेज के आगे कोई भी ग्राहक ठहरने नही पाता था। सभी को उल्टे पाव लौटना पडता था। उधर अवपाली भी ग्राहक न जुटने के कारण छटपटाने लगी। ऐसी दशा में उसने चित्रकारो को वुला कर अपने महल की दीवार पर उन दिनो के कुल शासको के जीते-जागते चित्र वनवाये। इनमें से विंवसार का चित्र उसकी नजरो में जँचा और तभी से वह राजा से मिलने के लिये तरसती रही। इधर अवपाली के रूप और गुणो का वखान सुन कर राजा भी उससे मिलने के लिये आकुल रहने लगा। निदान एक दिन राजा भेप बदल कर चुपके से वैशाली पहुच गया और निरतर सात दिन तक उसके यहाँ रहा। इसी समय उसके पेट में वच्चा आया[1]। परन्तु पालिग्रयों

१. २०।५६१–५७३

में कही भी यह कहानी नही दी गयी है। अत इसकी ऐतिहासिकता के बारे में कुछ सशय है।

एक वार वुद्ध भगवान् जव कोटिग्राम में ठहरे हुए थे, तव अवपाली कर्णीरथ (पालकी) पर सवार होकर उनके डेरे पर पहुँची और धर्मोपदेश सुनने के अनन्तर उसने परिषद् समेत वुद्ध भगवान को अपने यहाँ भोजन करने का निमत्रण दिया। उसी समय कई लिच्छवी सरदार भी वहाँ पहुच गये और भगवान् को न्यौता दिया। किंतु उन्होने अवपाली का निमत्रण स्वीकार कर लिया था, इसलिये लिच्छवी सरदारो को ना कर दिया। सरदारो ने तव अवपाली को लाख रुपया देना चाहा। फिर भी अवपाली टस से मस नहीं हुई। इस लिये कुल सरदार अपना-सा मुह लेकर घर लौटे। दूसरे दिन परिषद् समेत वुद्ध भगवान को खिलाने के वाद अवपाली ने सघ को अवपाली-वन दान में दिया[1]। अन्त में अपने वेटे विमल कौण्डण्य का धर्मोपदेश सुनकर उसकी अन्तर्दृष्टि खुल गयी।

ऊपर कहा जा चुका है कि अवपाली गणिका पर वैशाली नगर का महत्व निर्भर था। अत एव वैशाली से टक्कर लेने के लिये नागरिकों ने शालवती नाम की सर्वांग-सुन्दरी एक युवती को कुल विद्या और कलाए सिखा-पढा कर राजगृह में बैठाया। अवपाली का शुल्क ५० (कार्पापण) था तो शालवती का शुल्क सौ रखा गया। थोडे ही दिनों में उसने भी वडा नाम कमाया। क्रमश विंवसार का वेटा राजकुमार अभय उस पर लट्टू हो गया। फलस्वरूप शालवती की कोख में वच्चा आया। वच्चे का जन्म होते ही उसकी माता ने उसे कूडेखाने में रखवा दिया। सौभाग्यवश उसी समय राजकुमार उसी रास्ते से होकर जा रहा था। उसने वच्चे को देखते ही पालन-पोषण के लिये उसे राजभवन को भेज दिया। वडे हो जाने पर विद्या पढने के लिये वही वालक तक्षशिला

---

१ महावग्ग, ६।३०।१-६

भेजा गया। आगे चल कर वह जीवक "कोमारवच्च" नाम का प्रख्यात वैद्य हुआ। वच्चो का इलाज करने में वह वडा प्रवीण निकला[1]। ऐसा सुना जाता है कि शालवती को एक वच्ची भी उत्पन्न हुई थी।

इस पुत्री का नाम सिरिमा था। उसके मरने के वाद वुद्ध भगवान् ने कहा था कि वह जीवक की वहन थी। इस विचार से उन्होने नियमानुसार उसकी अत्येष्टि क्रिया करने का निर्देश दिया[2]। सिरिमा के जीवन से सवधित घटनाओ के वारे में पालि साहित्य मे कोई विशेष सामग्री नही मिलती। केवल मनोरथ पूरणी में कहा गया है कि वह गणिका थी। आगे चल कर कहा गया है कि किसी सेठाइन ने एक व्रत लिया था। इस प्रसग में वह १५ दिन व्रह्मचर्य का पालन करती रही। इन दिनो वह सिरिमा को अपने पति के पास भेजती थी और इसके लिये उस ने सिरिमा को १५ हजार रुपये दिये थे[3]।

कस्सप वुद्ध के काल में अड्ड-काशी भिक्खुनी थी। किसी अर्हन्त थेरी को गाली देने के लिये इसे वुद्ध के शासन-काल में फिर से जन्म लेना पडा। नाम ही से ज्ञात होता है कि उसका जन्म काशी के किसी सपन्न कुल मे हुआ था। परन्तु पूर्व जन्म के कुकृत्य के कारण इस जन्म मे उसे गणिका वनना पडा। काशीराज्य के कुल राजस्व का आधा उसका शुल्क था। इसीलिये उसका नाम अड्ढ-काशी (अर्घ-काशी) पडा। परन्तु थोडे ही दिनो मे उसका मोह दूर हो गया। तव रूप, गुण और ख्याति अभिशाप-सा मालूम होने लगा। उसने प्रवज्या लेने का निश्चय किया। इस पर वनारस के रसिक-ससार में वडी खलवली मची। उन्होने उसके ईप्सित काम में वाधा पहुँचाने का निश्चय किया। उनके चगुलो से छुटकारा पाने के लिये अड्ढ-काशी ने वडे-वडे उपाय किये। किन्तु उसकी एक भी

---

1 महावग्ग, ८।१

2 धमपद वण्णना, ३।१०६

3 १।४५०

में कही भी यह कहानी नही दी गयी है। अत इसकी ऐतिहासिकता के बारे में कुछ सशय है।

एक बार बुद्ध भगवान् जब कोटिग्राम में ठहरे हुए थे, तब अबपाली कर्णारथ (पालकी) पर सवार होकर उनके डेरे पर पहुँची और धर्मोपदेश सुनने के अनन्तर उसने परिषद् समेत बुद्ध भगवान को अपने यहाँ भोजन करने का निमन्त्रण दिया। उसी समय कई लिच्छवी सरदार भी वहाँ पहुच गये और भगवान् को न्यौता दिया। किंतु उन्होंने अबपाली का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया था, इसलिये लिच्छवी सरदारो को ना कर दिया। सरदारो ने तब अबपाली को लाख रुपया देना चाहा। फिर भी अबपाली टस से मस नही हुई। इस लिये कुल सरदार अपना-सा मुह लेकर घर लौटे। दूसरे दिन परिषद् समेत बुद्ध भगवान को खिलाने के बाद अबपाली ने सघ को अबपाली-वन दान में दिया[1]। अन्त में अपने बेटे विमल कौण्डण्य का धर्मोपदेश सुनकर उसकी अन्तर्दृष्टि खुल गयी।

ऊपर कहा जा चुका है कि अबपाली गणिका पर वैशाली नगर का महत्व निर्भर था। अत एव वैशाली से टक्कर लेने के लिये नागरिकों ने शालवती नाम की सर्वांग-सुन्दरी एक युवती को कुल विद्या और कलाए सिखा-पढ़ा कर राजगृह में बैठाया। अबपाली का शुल्क ५० (कार्षापण) था तो शालवती का शुल्क सौ रखा गया। थोडे ही दिनों में उसने भी बडा नाम कमाया। क्रमश बिंबसार का बेटा राजकुमार अभय उस पर लट्टू हो गया। फलस्वरूप शालवती की कोख में बच्चा आया। बच्चे का जन्म होते ही उसकी माता ने उसे कूडेखाने मे रखवा दिया। सौभाग्यवश उसी समय राजकुमार उसी रास्ते से होकर जा रहा था। उसने बच्चे को देखते ही पालन-पोषण के लिये उसे राजभवन को भेज दिया। बडे हो जाने पर विद्या पढने के लिये वही बालक तक्षशिला

---

१ महावग्ग, ६।३०।१-६

भेजा गया। आगे चल कर वह जीवक "कोमारवच्च" नाम का प्रख्यात वैद्य हुआ। वच्चो का इलाज करने में वह वडा प्रवीण निकला[1]। ऐसा सुना जाता है कि शालवती को एक वच्ची भी उत्पन्न हुई थी।

इस पुत्री का नाम सिरिमा था। उसके मरने के वाद वुद्ध भगवान् ने कहा था कि वह जीवक की वहन थी। इस विचार से उन्होने नियमानुसार उसकी अत्येष्टि क्रिया करने का निर्देश दिया[2]। सिरिमा के जीवन से सवधित घटनाओ के वारे मे पालि साहित्य में कोई विशेप सामग्री नहीं मिलती। केवल मनोरथ पूरणी में कहा गया है कि वह गणिका थी। आगे चल कर कहा गया है कि किसी सेठाइन ने एक व्रत लिया था। इस प्रसग में वह १५ दिन ब्रह्मचर्य का पालन करती रही। इन दिनो वह सिरिमा को अपने पति के पास भेजती थी और इसके लिये उस ने सिरिमा को १५ हजार रुपये दिये थे[3]।

कस्सप वुद्ध के काल में अड्ढ-काशी भिक्खुनी थी। किसी अर्हन्त थेरी को गाली देने के लिये इसे वुद्ध के शासन-काल में फिर से जन्म लेना पडा। नाम ही से ज्ञात होता है कि उसका जन्म काशी के किसी सपन्न कुल में हुआ था। परन्तु पूर्व जन्म के कुकृत्य के कारण इस जन्म मे उसे गणिका वनना पडा। काशीराज्य के कुल राजस्व का आधा उसका शुल्क था। इसीलिये उसका नाम अड्ढ-काशी (अर्ध-काशी) पडा। परन्तु थोडे ही दिनो में उसका मोह दूर हो गया। तव रूप, गुण और ख्याति अभिशाप-सा मालूम होने लगा। उसने प्रवज्या लेने का निश्चय किया। इस पर वनारस के रसिक-ससार में वडी खलवली मची। उन्होने उसके ईप्सित काम में वाधा पहुँचाने का निश्चय किया। उनके चगुलो से छुटकारा पाने के लिये अड्ढ-काशी ने वडे-वडे उपाय किये। किन्तु उसकी एक भी

---

१ महावग्ग, ८।१

२ धमपद वण्णना, ३।१०६

३. १।६५०

न चली। निदान निरुपाय हो कर उसने बुद्ध भगवान् के पास सदेश भेजा। उन दिनो भगवान श्रास्वस्ती में ठहरे हुए थे। अड्ढ-काशी के आकुल आह्वान से व्याकुल होकर भगवान् ने प्रतिनिधियो के द्वारा उपसम्पदा देने की प्रथा जारी की [१]।

परन्तु दीपक के नीचे जैसे अधकार होता है, विजली की आड मे जैसे उसकी दाहिका शक्ति छिपी रहती है, उसी प्रकार वारागना की भुवनमोहिनी मुसकान के नीचे उसकी ओछी प्रवृत्तिया छिंपी रहती हैं। सबसे मार्के की वात यह है कि प्रकृति की वे वडी अकृतज्ञ होती हैं। इसलिये भगवान वुद्ध ने उनकी निन्दा की थी [२]।

स्नानागार

हर दशा में स्नान मनोरजन का एक साधन है। शरीर को स्निग्ध और चित्त को प्रसन्न रखने के लिये गरम देशो में स्नान आवश्यक नित्य-कर्म है। शीत प्रधान देशो मे, प्राचीन काल में, वह विलास माना जाता था। गरम देशो में लोग अधिकतर नदी, नाले, पोखरे, झील आदि मे स्नान कर लेते हैं। किंतु अधिक सर्दी के कारण पाश्चात्य देशो में खुली जगहो में स्नान नही किया जा सकता। इस कमी को पूरा करने के लिये स्नानागारो का निर्माण हुआ। वहाँ इच्छानुसार स्नानार्थी ठढे अथवा गरम पानी मे स्नान कर सकते थे और मालिश, साज-सिंगार प्रभृति होता था।

स्नानागार की चर्चा छिडते ही स्वत रोमवालो के सार्वजनिक स्नानागारो मे जो अकृत्य-कुकृत्य होते थे, उनका स्मरण होता है। वास्तव मे ये सव व्यभिचार के अड्डे थे, जहाँ स्त्री-पुरुष एकत्र होकर खुल्लम-खुल्ला मनमानी करते थे। खास रोम में इस प्रकार के ८०० सार्वजनिक स्नानागार थे। इनमें कई ऐसे विशाल थे कि वहाँ हजारो व्यक्ति एकत्र हो सकते थे। उनके भीतर सीमियो छोटे-वडे हौज या चह-वच्चे और

---

१ चुल्ल वग्ग, १०।२२।१ २ जातक, ३।४७५

फुहारो के अतिरिक्त पचासो छोटे-वडे कमरे होते थे,जहाँ शिक्षित दास-दासी और किराये के छोकरे मालिश करते, उवटन लगाते, साज-सिंगार इत्यादि करते। इनके अलावा पान-भोजन के लिये वडे-वडे दालान होते थे और प्रेमियो के मिलने के लिये अनगिनत छोटे कमरे होते थे। ये सब स्नानागार दिन भर खुले रहते थे। उनमें घुसने के लिये पैसे देने पडते थे। नाना प्रकार के स्नानागार होते थे। गरीवो के स्नानागारो मे जाने के लिये शुल्क कम देना पडता था। घनिको के स्नानागारो मे प्रविष्ट होने से खर्चा अधिक बैठता था। सध्या समय घटा वजते ही, दिखावट के लिए सामने का फाटक वन्द हो जाता था, किन्तु पिछले दरवाजे से लोग रात भर आया-जाया करते थे। वहाँ विलास-व्यसन की सामग्रियो का जमघट रहता था और पैसा खरचने से रात भर लोग चैन की वाँसुरी बजा सकते थे। प्रारभिक दशा मे विवस्त्रा नर-नारी अधेरे में स्थित कुड और चह-वच्चो मे एक साथ स्नान करते थे। इस प्रथा का परिणाम भेद-विचार-हीन व्यभिचार था। कान्स्टनटाईन ने इस रीति पर प्रतिवध लगा दिया। तव से यद्यपि पुरुप और स्त्रियो के लिये अलग-अलग कुड नियत कर दिये गये और वहाँ प्रकाश का प्रवन्ध भी कर दिया गया, तथापि नगे स्नानार्थी एक दूसरे को देख सकते, मिल-जुल सकते और हसी-मजाक भी कर स. ते थे। इस के अतिरिक्त स्नानागारो में सभी कामो में निपुण सैकडो दास-दासी और किराये के छोकरे होते थे। आगन्तुक पुरुप और महिलाओ की लालसा मिटाने के लिये वे सैदव तैयार रहते थे।

इतिहास-प्रसिद्ध "रोमन वाथ" की तुलना मे विनय पिटक के चुल्ल-वग्ग में वर्णित "जन्ताघर" वा स्नानागार का वातावरण विलकुल फीका था। वहाँ दुर्नीति की गध तक नही थी। सवसे वडी वात यह है कि ये स्नानागार सार्वजनिक नही थे। ये अधिकतर विहार वा मठ से सलग्न होते थे और स्नानार्थी भी मठ मे रहने वाले भिक्षु होते थे। सभव है, नागरिको के लिये भी स्नान करने का ऐसा प्रवध रहा हो।

न चली। निदान निरुपाय हो कर उसने बुद्ध भगवान् के पास सदेश भेजा। उन दिनो भगवान श्रास्वस्ती में ठहरे हुए थे। अड्ढ-काशी के आकुल आह्वान से व्याकुल होकर भगवान् ने प्रतिनिधियो के द्वारा उपसम्पदा देने की प्रथा जारी की[१]।

परन्तु दीपक के नीचे जैसे अवकार होता है, विजली की आड में जैसे उसकी दाहिका शक्ति छिपी रहती है, उसी प्रकार वारागना की भुवनमोहिनी मुसकान के नीचे उसकी ओछी प्रवृत्तिया छिपी रहती है। सबसे मार्के की बात यह है कि प्रकृति की वे बडी अकृतज्ञ होती है। इसलिये भगवान वुद्ध ने उनकी निन्दा की थी[२]।

स्नानागार

हर दशा में स्नान मनोरजन का एक साधन है। शरीर को स्निग्ध और चित्त को प्रसन्न रखने के लिये गरम देशो मे स्नान आवश्यक नित्य-कर्म है। शीत प्रधान देशो में, प्राचीन काल मे, वह विलास माना जाता था। गरम देशो में लोग अधिकतर नदी, नाले, पोखरे, झील आदि मे स्नान कर लेते हैं। किंतु अधिक सर्दी के कारण पाश्चात्य देशो में खुली जगहो में स्नान नही किया जा सकता। इस कमी को पूरा करने के लिये स्नानागारो का निर्माण हुआ। वहाँ इच्छानुसार स्नानार्थी ठढे अथवा गरम पानी मे स्नान कर सकते थे और मालिश, साज-सिंगार प्रभृति होता था।

स्नानागार की चर्चा छिडते ही स्वत रोमवालो के सार्वजनिक स्नानागारो मे जो अकृत्य-कुकृत्य होते थे, उनका स्मरण होता है। वास्तव मे ये सब व्यभिचार के अड्डे थे, जहाँ स्त्री-पुरुष एकत्र होकर खुल्लम-खुल्ला मनमानी करते थे। खास रोम में इस प्रकार के ८०० सार्वजनिक स्नानागार थे। इनमे कई ऐसे विशाल थे कि वहाँ हजारो व्यक्ति एकत्र हो सकते थे। उनके भीतर बीसियो छोटे-बडे हौज या चह-बच्चे और

१ चुल्ल वग्ग, १०।२२।१ २ जातक, ३।८७५

फुहारो के अतिरिक्त पचासो छोटे-वडे कमरे होते थे,जहाँ शिक्षित दास-दासी और किराये के छोकरे मालिश करते, उवटन लगाते, साज-सिंगार इत्यादि करते। इनके अलावा पान-भोजन के लिये वडे-वडे दालान होते थे और प्रेमियो के मिलने के लिये अनगिनत छोटे कमरे होते थे। ये सब स्नानागार दिन भर खुले रहते थे। उनमें घुसने के लिये पैसे देने पडते थे। नाना प्रकार के स्नानागार होते थे। गरीवो के स्नानागारो में जाने के लिये शुल्क कम देना पडता था। धनिको के स्नानागारो में प्रविष्ट होने से खर्चा अधिक वैठता था। सध्या समय घटा वजते ही, दिखावट के लिए सामने का फाटक वन्द हो जाता था, किन्तु पिछले दरवाजे से लोग रात भर आया-जाया करते थे। वहाँ विलास-व्यसन की सामग्रियो का जमघट रहता था और पैसा खरचने से रात भर लोग चैन की वाँसुरी वजा सकते थे। प्रारभिक दशा में विवस्त्रा नर-नारी अवेरे में स्यित कुड और चह-वच्चो में एक साथ स्नान करते थे। इस प्रथा का परिणाम भेद-विचार-हीन व्यभिचार था। कानूस्टनटाईन ने इस रीति पर प्रतिवध लगा दिया। तव से यद्यपि पुरुप और स्त्रियो के लिये अलग-अलग कुड नियत कर दिये गये और वहाँ प्रकाश का प्रवन्ध भी कर दिया गया, तथापि नगे स्नानार्थी एक दूसरे को देख सकते, मिल-जुल सकते और हसी-मजाक भी कर सकते थे। इन के अतिरिक्त स्नानागारो में सभी कामो में निपुण सैकडो दास-दासी और किराये के छोकरे होते थे। आगन्तुक पुरुप और महिलाओ की लालसा मिटाने के लिये वे सैदव तैयार रहते थे।

इतिहास-प्रसिद्ध "रोमन वाथ" की तुलना मे विनय पिटक के चुल्ल-वग्ग में वर्णित "जन्ताघर" वा स्नानागार का वातावरण विलकुल फीका था। वहाँ दुर्नीति की गव तक नही थी। सवसे वडी वात यह है कि ये स्नानागार सार्वजनिक नही थे। ये अधिकतर विहार वा मठ से सलग्न होते थे और स्नानार्थी भी मठ में रहने वाले भिक्षु होते थे। सभव है, नागरिको के लिये भी स्नान करने का ऐसा प्रवध रहा हो।

सबको ज्ञात होगा कि तेज के कम होने के भय से ब्रह्मचारी प्रतिदिन स्नान नही करते थे। विहार में रहने वाले भिक्खु-भिक्खुनी भी पखवारे में एक दिन से अधिक स्नान नही करते थे। इस नियम के तोडने से प्रायश्चित्त करना पडता था। हाँ, गरमी के दिनो, वर्षा के प्रारभ तथा बीमारी की दशा में तथा देशाटन करते समय वे प्रति दिन स्नान कर सकते थे[1]। यह नियम केवल पूर्वी और मध्य देश में रहने वाले भिक्खुओ के लिये रचा गया था। अवन्ती और दक्षिण के भिक्षु प्रति दिन स्नान कर सकते थे[2]।

नहाते समय लोग अपने शरीर के भिन्न-भिन्न अग लकडी के खभे या भीत पर रगडते थे। सारी देह में चूना पोतने की रीति थी। इसके लिये हाथ के आकार के एक औजार (गधब्ब-हत्थ), रगीन पत्थर के बने हुए दानो की माला में चूना लगाकर शरीर पर फेरने के उपकरण (कुरुविदक सुत्ति), घड़ियाल के दांतो के बने हुए पीठ खुजलाने के औजार (मल्लक) इत्यादि का उपयोग होता था। नहाते समय भिक्खु लोग एक दूसरे का गात्र-मर्दन वा सवाहन भी करते थे[3]। नहाने के लिये खुली जगहो मे पुष्करणी या पोखरो के अतिरिक्त स्नानागारों मे चह-बच्चे या कुड होते थे। इनकी भीत और फर्श—पत्थर, ईंट या काठ के बनाये जाते थे। नीचे उतरने के लिये सीढियां होती थी। गदा पानी निकालने के लिये नल होते थे[4]।

जन्ताघर

गरम पानी या भाप में स्नान करने के लिये जो कमरे होते थे, उनका नाम "जन्ताघर" था। ऐसे स्नानागारो में चूल्हे का धुआ निकलने के लिये धूम-नेत्र वा चिमनी होती थी। भीतो पर पलस्तर होता था, फर्श ईंट, लकडी या पत्थर की होती थी और छत चमडे से मढी जाती थी। स्नाना-

१ पाचित्तिय धम्म—५७
२ महावग्ग, ५।१३।६
३ चुल्लवग्ग, ५।१।३—५
४. चुल्लवग्ग, ५।१७।२, १४।२—३

र्थियो के वैठने के लिये काष्ठासन होता था। भाप द्वारा नहाते समय मुह पर सुगधित भीगी मिट्टी पोतने की प्रथा थी जिससे आँच लग कर मुख-मडल झुलस न जाय। स्नानागारो में कपाट होते थे जो भीतर से वन्द कर दिये जाते थे। जलाधार से कलछी द्वारा गरम पानी निकाल कर स्नानार्थी के शरीर पर छोडा जाता था। भाप मे नहाने वालो का शरीर ठडा करने के लिये अलग कमरा होता था। पानी का भंडार अलग होता था। स्नान करने का वस्त्र अलग होता था। चीवर आदि स्नानागार से सलग्न दालान में रस्सी पर रख दिये जाते थे[1]।

जैनो के प्राकृत साहित्य में कई राजाओ के स्नान करने की परिपाटी का विशद विवरण पाया जाता है। इन वर्णनो से ज्ञात होता है कि प्रात काल व्यायामादि करके जव वे थक जाते थे, तव व्यायामशाला में तैल-चर्म विछा कर वे वैठ जाते थे। उस समय सुदक्ष संवाहक शत-पाक और सहस्र-पाक तेल द्वारा शरीर के कुल अग-प्रत्यगो की मालिश करते थे। इस प्रकार की मालिश से जव थकावट दूर हो जाती थी, तव वे व्यायामशाला से निकल कर मज्जन-गृह वा स्नानागार को जाते थे। वहा वे एक विचित्र पीठिका पर वैठ जाते थे। उनके शरीर पर नाना प्रकार के सुगधित पानी जैसे-सुखोदक, पुष्पोदक, गधोदक, शुद्धोदक—वारी-वारी से छोडे जाते थे। स्नान करते समय हँसी-मजाक करने की प्रथा थी। स्नान समाप्त होने पर सुकोमल वस्त्र द्वारा शरीर पोछा जाता था। इसके अनन्तर वस्त्र-आभूषण पहन कर राजा दरवार में जाते थे[2]। प्राकृत ग्रंथो में वर्णित राजा-महाराजाओ की स्नान-पद्धति तथा कादम्वरी में वर्णित महाराज शूद्रक के स्नान की परिपाटी वहुधा मिलती-जुलती है। नीचे उनका साराश दिया जा रहा है।

---

१. चुल्लवग्ग ५।१४।४

२ कल्प सूत्र, ४।६०; नाया-धम्म-कहाओ, १।१।२४; औपपातिक सूत्र, ३१ इत्यादि

"सूर्य भगवान के आकाश के बीचोबीच पहुचते ही नाना प्रकार के वाद्यो के वादन के साथ शख-ध्वनि हुई। तत्क्षण दरबार की कार्य-वाही स्थगित कर दी गयी और महाराज सभा विसर्जित कर, थोडे से अतरग राजपुत्रो के साथ महल के भीतरी भाग में प्रविष्ट हुए। वहाँ उन्होने वस्त्र-आभूषण उतार कर थोडा-सा (मधुर) व्यायाम किया। पसीना सूख जाने पर महाराज परिचारको के साथ "स्नान भूमि" में पधारे। ऊपर सफेद रग का चँदवा टगा हुआ था, उसे घेर कर चारण लोग खडे थे। बीच में सुगधित जल से भरी हुई एक द्रोणी (बाथ-टब्) और उसके बगल में स्फटिक की बनी हुई नहाने की चौकी रखी हुई थी। वहाँ पहुचते ही महाराज पहले उस द्रोणी में प्रविष्ट हुए। उस समय वारागना -परिचारिकाओ ने उनके सिर पर सुगधित आँवले का लेप चढा दिया। इसके बाद महाराज द्रोणी से निकल कर स्नान की पीठिका पर जा बैठे। परिचारिकाएँ अपने-अ ने पहनावे, गहने और केश-पाश उचित रीति से सभालकर बगल मे रखे हुए सोने और चाँदी के घडो में के जल से उन्हे नहलाने लगी। स्नान की परिपाटी समाप्त होते ही फिर शख-ध्वनि हुई। वाद्य-वादन हुआ और चारणो ने स्तुति-पाठ किया। इस बीच महाराज ने वस्त्रादि पहन लिये और माथे पर पगडी बाँध ली। तब वे पूजा-पाठ करने लगे[१]।"

प्राकृत ग्र थो में वर्णित राजाओ की स्नान-पद्धति और कादम्बरी में दिये हुए वर्णन में अतर इतना ही है कि—

(अ) पूर्वी भाग के शासक लोग प्रात काल ही व्यायाम और स्नानादि से निपट लेते थे, मध्य देश के राजा दोपहर में स्नानादि करते थे।

(आ) पूर्वी प्रात में तेल-मालिश करने की रीति थी, मध्य देश मे लोग माथे पर आवले का लेप चढाते थे।

---

१ १।८५

(इ) पूर्वी प्रात में स्नानागारो में नहाने की रीति थी, मध्य देश में खुली जगह में स्नान किया जाता था।

बालोपयोगी क्रीड़ा-कौतुक

सौभाग्यवश वैदिक साहित्य में जिस बात की कमी पायी जाती है, पालि साहित्य मे उसकी पूर्ति होती है। आमोद-प्रमोद के जिन साधनो का वर्णन ऊपर हुआ है, साधारणत वे वयस्क व्यक्तियो से सम्बन्ध रखने वाले हैं। इनके अतिरिक्त बालोपयोगी बहुत से खेल-कूदो का उल्लेख पालि साहित्य मे है। नीचे उन्ही का वर्णन दिया गया है।

बालको की विशेषता यह है कि स्वभाव से वे बडे अनुकरण-प्रिय होते है। वे बडो को जो कुछ भी करते देखते हैं, हू-बहू उसकी नकल करते हैं। इसी लिए बालको के आगे सदैव अच्छे दृष्टान्त रखने की आवश्यकता है। दूसरी बात यह है कि वे खेलने को हँसी-मजाक या खिलवाड नही समझते। छोटी-छोटी लडकियो को सभी ने गुडियो का विवाहोत्सव मनाते अवश्य देखा होगा। उसमें विलक्षणता यह होती है कि यद्यपि वयस्क दर्शक उसे खिलवाड समझ कर कितना ही तुच्छ क्यो न मानें, खेलने वाली बालिकाएँ उसे कभी हँसी नही समझती। गभीरता पूर्वक वे विवाह-सम्बन्धित सभी क्रिया-कर्म और रीति-रिवाजो को निबाहती जाती है। उसमें थोडी-सी भी कमी अथवा त्रुटि नही होने पाती।

बालक-बालिकाएँ खेल से सम्बद्ध विषयो को इतनी गम्भीरता और लगन के साथ सम्पन्न करती हैं कि उससे तीक्ष्ण बुद्धि वाले मनोवैज्ञानिक को झट पता चल जाता है कि किसकी मनोवृत्ति का स्वाभाविक झुकाव किस ओर है। इस विचार से एक मनोवैज्ञानिक ने खेल-कूद को बालक-बालिकाओ के लिये "आत्म-प्रकाश का साधन" माना है। अर्थात् उसके द्वारा बच्चे के मन का स्वाभाविक झुकाव किस विषय की ओर है इसका इगित मिल जाता है।

नीचे बालोपयोगी विशुद्ध क्रीड़ा-कौतुको की जो सूची दी जा रही

है उसमें कुछ खेल ऐसे भी थे जिन्हे हम "यौद्धिक" और "बौद्धिक" कह सकते है।

वालको मे गेंद खेलने की रीति का व्यापक प्रचार था। गेंद का नाम भेंडुक (कदुक) था[१]। गेंद खेलने का नाम "गुलकीला" था। साधारणत: तागे लपेट कर गेंद वनाये जाते थे[२] तथा गेंद फेंके जाते थे[३]। इसमें हार-जीत भी होती थी[४]।

खेल की सामग्री रखने के लिये "कीला भडक" (एक प्रकार की टोकरी) होती थी[५]। इसी में खेल के सामान रखे जाते थे।

हाथी, रथ[६], वकक (हल), धनुष, घटिक (गुल्ली मारने का लम्वा डडा), चिंगुलिक (ताड का पत्ता हाँक कर पहिये के आकार की गोल वस्तु चलाना), पत्ताढक (पत्तीदार खोखले डठल में वालू ठूसना), उस्सोढ (नाच)[७] और मक्खचिका (चक्कर काटना) सामान्यतः वच्चो के खेल माने जाते थे। अतिम खेल अधिक खेलने के कारण किसी नगरश्रेष्ठी के पुत्र को वदहजमी का रोग हो गया था। निदान जीवक ने उसे नीरोग किया[८]।

किशोरोपयोगी क्रीड़ा-कौतुक

किशोरो के उपयोगी सलाक-हत्थम् (दोनो हथेलियो में रग पोत कर भीत या फर्श पर चित्र अकित करना), अक्ख (गेंद खेलना), पगचीरम् (पत्तीदार डठल से मारना), अक्खरिका (अधर में लिखना), मनेसिका (औरो की चिन्ता की थाह लगाना), यथावज्जम् (लगडे, लूले और काने आदि का अनुकरण करना) प्रभृति कई खेल थे[९]।

---

१. जातक, ४।३०
२. धम्मपद अत्थकथा, १।१७९
३. धम्मपद अत्थकथा ३।४५५
४ जातक, ६।६
५. मनोरथपूरणी, १।४२५
६. जातक ६।१२
७. सुमगल विलासिनी, १।८६
८. विनयपिटक (हिन्दी), पृष्ठ २७०
९. सुमगल विलासिनी, १।८६

उपयुक्त क्रीडा-कौतुको का यदि विश्लेपण किया जाय तो प्रतीत होगा कि रथक, धनुक जैसे खेल यौद्धिक थे, हल आजीविका से सम्वद्ध था, अक्खरिका और मनेसिका वौद्धिक खेल थे तथा सलाक-हत्थम् और यथावज्जम् कला-सम्वन्धी खेल थे।

मनोरजन के साधनों की सूची

पालि-साहित्य से सवधित इस प्रकरण के समाप्त करने के पहले यह कहने की आवश्यकता है कि विनयपिटक[1] और सुमगल विलासिनी[2] मे उस समय प्रचलित मनोरजन के सावनो की विस्तृत सूची पायी जाती है। इनमें से अविकतर सावनो का वर्णन ऊपर हो चुका है। अत नीचे केवल ऐसे ही सावनो का विवरण दिया जा रहा है, जिनका ऊपर उल्लेख नही हुआ है।

आकाशम्—साकृत्यायन जी ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है "आकाश-पथ मे क्रीडा"। परन्तु उन्होंने इस प्रकार के खेल की सभाव्या-सभाव्यता पर सम्यक् विचार नहीं किया[3]। सुमगल विलासिनी मे वुद्धघोप ने अर्थ किया है "शून्य मे शतरज खिलना"। कम से कम यह सभव है। अभी तक शतरज के कुछ "गँवी खेलाड़ी" दिखाई पड़ते है जो गोटियो की ओर न देख कर भी चाल वतला देते है।

परिहार-पथम्—भूमि पर छोटे-वड़े, नाना आकार के वृत्त वना कर उन्हे न छू कर चलना (परिहार)।

सप्तिका; खलिता, पचगीर, त्रिगुलक—भिन्न भिन्न प्रकार के जुए थे।

सोभ-नगरकम्—अप्सराओ का दृश्य इत्यादि दिखाना। सभवत. सम्राट् प्रियदर्शिन् ने अपने चौथे गिरिनार शिलालेख में इसी प्रकार के दृश्यो की कल्पना करते हुए लिखा था—"अआनिच दिव्यानि रूपानि दसयितु ।"

चण्डाल-अयोगुल-कीला—लोहे की वनी हुई गोली खेलना।

वंस—वाँस खडा करके खेलना।

---

१. चुल्लवग्ग, १।१३।२

२ १।८५– ८६

३. विनयपिटक (हिन्दी), पृष्ठ ३४९

सतिक—गिट्टियो की ढेरी में नख से मार कर एक-एक गिट्टी अलग करना। हाथ से छूने वाले की हार होती थी। इसे आधुनिक काल के कैरम का पूर्वज कह सकते हैं।

अन्त में यह कहने की आवश्यकता है कि ६४ कलाओ के अन्तर्गत कुछ ऐसे विषय भी थे जो मनोरजन के साधन माने जा सकते है। दृष्टान्त स्वरूप चित्तकर्म (चित्रकर्म), सलित्तक अथवा सक्खरा-खिपन सिप्प[1], चक्का चलाने की कला का उल्लेख किया जा सकता है। धम्मपद अत्थकथा का कथन है कि बनारस का रहने वाला एक ब्राह्मण इस विद्या में बडा कुशल था। चक्का चला कर वह बरगद की पत्तियो पर हाथी, घोडे जैसे जानवरो का चित्र बना देता था। बदले में दर्शक उसे भोजन की सामग्री देते थे[2]।

(आ) प्राकृत ग्रथो मे वर्णित मनोरजन के साधन

समान्यत रेत में द्रव जमना सभावना की परिधि से परे है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के जैनियो की अर्धमागधी (प्राकृत) भाषा में लिखित शास्त्र-ग्रथो में मुख्यत वैराग्य, सयम, तप, व्रत, स्वाध्याय, ध्यान, साधु आचार, भिक्षाटन, सिद्धि प्रमुख स्वावलबन के जो भिन्न-भिन्न पहलू है उनकी चर्चा की गयी है। आध्यात्मिकता के इस जगल में आमोद-प्रमोद के साधनो की खोज करने जाना प्राय आकाश-कुसुम तोडने के लिये हाथ बढाना है। किन्तु मरुभूमि में भी कभी-कभी ओसिस् को हरियाली दीख पडती है। वहाँ थके मादे राही थोडी देर बैठ कर आराम करते है। उसी प्रकार गृही-पाठको की कल्पना-शक्ति को सशक्त बनाने तथा उनके हृदय पर प्रभाव डालने अथवा गूढ विषयो की विशद व्याख्या करने के लिये जैन शास्त्रकारो ने किसी नगर के महत्त्व और ऐश्वर्य का वर्णन करते हुए या जन-यात्रा अथवा उत्सवादि का विवरण

---

१ जातक, १।४१८　　२ २।६९

देते हुए किंवा किसी शिक्षाप्रद घटना वा आख्यानों का वर्णन करते समय प्रसगत: उन दिनो के समाज में प्रचलित आमोद-प्रमोद के साधनों का थोडा-बहुत दिग्दर्शन कराया है। इस लेख मे यथासंभव उन्हीं का उपयोग किया गया है।

जैनो के शास्त्र-ग्रथो की रचना की तिथि के बारे में अभी तक कोई निश्चय नही हो पाया। किवदती यह है कि भगवान् महावीर स्वामी के तिरोभाव (ई० पू० ५२८ अथवा ४७८) के प्राय दो सौ वर्ष बाद ई० पू० चौथी शती के अतिम पाद मे जब मगध प्रात में भारी अकाल पडा था तब भद्रबाहु स्वामी अपने अनुयायियो के साथ पुन्नाट वा कर्णाटक प्रात (दक्षिणी भारत में) को चले गये। भद्रबाहु के चले जाने पर स्थूलभद्र मगध में रहने वाले जैन मतावलबियो के प्रधान बने। भद्रबाहु के बाद एकमात्र स्थूलभद्र को शास्त्र-ग्रथो का पूरा ज्ञान था। इसी समय इनके सरक्षण के लिये स्थूलभद्र की देखरेख में पाटलिपुत्र में एक धर्म-सभा हुई थी। इस सभा की ओर से १२ अगो की रचना हुई। उधर दक्षिण से लौटने के बाद भद्रबाहु के अनुयायी दिगम्बरो ने इनको ठुकरा दिया। कालान्तर में श्वेताम्बरो के शास्त्र-ग्रथो के विलोप होने की नौबत आयी। यह देखते हुए आचार्य देवऋद्धि क्षमाश्रमण ने वल्लभी (गुजरात) में एक सभा की (४५४ वा ४६७ ई०)। इसी परिषद् की ओर से कुल अगो का फिर से सकलन हुआ। इन ग्रथो की प्रामाणिकता के बारे में संशय का कोई अवकाश नही। वे मुख्यत: पाटलिपुत्र की सभा की ओर से सगृहीत पाडुलिपियो पर आधारित थे। अत: वे महावीर स्वामी के श्रीमुख से निकली हुई वाणियो के परपरागत सग्रह थे। अग और उपागो के सकलन करने का श्रेय अज्ज सुहम्म (सुधर्मा) प्रमुख गणधरो को है। किन्तु ऐसा नही समझना चाहिये कि श्वेताम्बरो के शास्त्र-ग्रथो की रचना की यही पर इति-श्री हो गयी। जोड-जाड का काम बराबर जारी रहा। यहां तक कि नये ग्रंथो की भी रचना हुई और कालान्तर में वे उपाग, छेद-सूत्र इत्यादि नाम से प्रच-

सतिक—गिट्टियो की ढेरी में नख से मार कर एक-एक गिट्टी अलग करना। हाथ से छूने वाले की हार होती थी। इसे आधुनिक काल के कैरम का पूर्वज कह सकते है।

अन्त में यह कहने की आवश्यकता है कि ६४ कलाओ के अन्तर्गत कुछ ऐसे विपय भी थे जो मनोरजन के सावन माने जा सकते हैं। दृष्टान्त स्वरूप चित्तकर्म (चित्रकर्म), सलित्तक अथवा सक्खरा-खिपन सिप्प[1], चक्का चलाने की कला का उल्लेख किया जा सकता है। धम्मपद अत्थकथा का कथन है कि वनारस का रहने वाला एक व्राह्मण इस विद्या में वडा कुशल था। चक्का चला कर वह वरगद की पत्तियो पर हाथी, घोडे जैसे जानवरो का चित्र वना देता था। वदले में दर्शक उसे भोजन की सामग्री देते थे[2]।

(आ) प्राकृत ग्रथो मे वर्णित मनोरजन के सावन

समान्यत रेत में दूव जमना सभावना की परिधि से परे है। श्वेताम्वर सम्प्रदाय के जैनियो की अर्घमागवी (प्राकृत) भापा में लिखित शास्त्र-ग्रथो मे मुख्यत वैराग्य, सयम, तप, व्रत, स्वाघ्याय, घ्यान, साधु आचार, भिक्षाटन, सिद्धि प्रमुख स्वावलवन के जो भिन्न-भिन्न पहलू है उनकी चर्चा की गयी है। आध्यात्मिकता के इस जगल में आमोद-प्रमोद के सावनो की खोज करने जाना प्राय आकाश-कुसुम तोडने के लिये हाथ वढाना है। किन्तु मरुभूमि में भी कभी-कभी ओसिस् की हरियाली दीख पडती है। वहां थके मादे राही थोडी देर वैठ कर आराम करते हैं। उसी प्रकार गृही-पाठको की कल्पना-शक्ति को सशक्त वनाने तथा उनके हृदय पर प्रभाव डालने अथवा गूढ विपयो की विशद व्याख्या करने के लिये जैन शास्त्रकारो ने किसी नगर के महत्व और ऐश्वर्य का वर्णन करते हुए या जन-यात्रा अथवा उत्सवादि का विवरण

---

१ जातक, १।४१८　　२ २।६९

देते हुए किंवा किसी शिक्षाप्रद घटना वा आख्यानों का वर्णन करते समय प्रसंगतः उन दिनो के समाज में प्रचलित आमोद-प्रमोद के साधनों का थोड़ा-बहुत दिग्दर्शन कराया है। इस लेख में यथासंभव उन्हीं का उपयोग किया गया है।

जैनो के शास्त्र-ग्रंथो की रचना की तिथि के बारे में अभी तक कोई निश्चय नही हो पाया। किंवदन्ती यह है कि भगवान् महावीर स्वामी के तिरोभाव (ई० पू० ५२८ अथवा ४७८) के प्रायः दो सौ वर्ष बाद ई० पू० चौथी शती के अंतिम पाद में जब मगध प्रांत में भारी अकाल पड़ा था तब भद्रबाहु स्वामी अपने अनुयायियो के साथ पुन्नाट वा कर्णाटक प्रांत (दक्षिणी भारत में) को चले गये। भद्रबाहु के चले जाने पर स्थूलभद्र मगध में रहने वाले जैन मतावलंबियो के प्रधान बने। भद्रबाहु के बाद एकमात्र स्थूलभद्र को शास्त्र-ग्रंथो का पूरा ज्ञान था। इसी समय इनके संरक्षण के लिये स्थूलभद्र की देखरेख में पाटलिपुत्र में एक धर्म-सभा हुई थी। इस सभा की ओर से १२ अंगो की रचना हुई। उधर दक्षिण से लौटने के बाद भद्रबाहु के अनुयायी दिगम्बरो ने इनको ठुकरा दिया। कालान्तर में श्वेताम्बरो के शास्त्र-ग्रंथो के विलोप होने की नौबत आयी। यह देखते हुए आचार्य देवऋद्धि क्षमाश्रमण ने वल्लभी (गुजरात) में एक सभा की (४५४ वा ४६७ ई०)। इसी परिषद् की ओर से कुल अंगो का फिर से संकलन हुआ। इन ग्रंथो की प्रामाणिकता के बारे में संशय का कोई अवकाश नही। वे मुख्यतः पाटलिपुत्र की सभा की ओर से संगृहीत पांडुलिपियो पर आधारित थे। अतः वे महावीर स्वामी के श्रीमुख से निकली हुई वाणियो के परम्परागत संग्रह थे। अंग और उपांगो के संकलन करने का श्रेय अज्ज सुहम्म (सुधर्मा) प्रमुख गणधरो को है। किन्तु ऐसा नही समझना चाहिये कि श्वेताम्बरो के शास्त्र-ग्रंथो की रचना की यहीं पर इति-श्री हो गयी। जोड़-जाड़ का काम बराबर जारी रहा। यहाँ तक कि नये ग्रंथो की भी रचना हुई और कालान्तर में वे उपांग, छेद-सूत्र इत्यादि नाम से प्रच-

लित हो गये। जैनो के धार्मिक ग्रथो के सकलन तथा रचना के बारे मे उनका विश्वास है कि गणधरो के अतिरिक्त और कोई अगो का सकलन नही कर सकता, भद्रवाहु सरीखे वृद्ध स्थविर निर्युक्त्यादि की रचना कर सकते है[1]। कहने का आशय यह है कि काम चलाने के लिये सभी कोई स्वीकार करते है कि श्वेताम्बर सप्रदाय वालो के अग और उपागो का सकलन लगभग ई० पू० चौथी शती और प्रचलित सन् की पाँचवी शती के वीच हुआ था।

उद्यान-यात्रा

वन्द घरो में रहते-रहते जव जीवन की एकरूपता से प्राणवल नागरिको की तबीयत ऊब जाती थी तव प्राचीन रीति के अनुसार बाहरी तरफ की हवा खाने के लिये वे वाग-वगीचे को सिधारते थे। वहाँ वे जितने समय रहते, जीवन-यात्रा-पद्धति से सवद्ध सारी झझट भुला देते और आनन्द मे मग्न हो कर जीवित रहने का मजा चखते थे। नाया-धम्म-कहाओ का कहना है कि चम्पा के दो सपन्न सार्थवाहो के पुत्र, जिन दत्त और सागर दत्त शरीर के दो होते हुए भी हृदय एक था। वचपन में वे एक साथ पाले पोसे गये थे। वाल्यावस्था मे दोनो एक साथ खेले-कूदे थे, पुन किशोर अवस्था में वे एक ही गुरु के पास पढे भी थे। नवयौवन मे दोनो ने सौगध खायी थी कि दाँत काटी रोटी को छोडकर वे कही नही जायेंगे। एक दिन दोनो ने उद्यान-यात्रा करने की ठानी। अत खान-पान की वहुत सी सामग्री तथा फूल-माला और सुगधि द्रव्यादि लेने के अतिरिक्त उन्होने अपने साथ चम्पा की नामी गणिका देवदत्ता को ले लिया। उसकी दैनिक दक्षिणा हजार अशरफी थी। देवदत्ता के रूप तथा गुणो का वर्णन करते हुए लेखक कहते हैं—वह वडी सपन्न थी, उसके यहाँ खान-पान की वस्तुओ की कमी नही थी, उसके घर में वहुत से जीवो का पालन-पोपण होता था, वह स्त्रीजनो से सवधित नृत्य-गीत आदि ६४ कलाओ में प्रवीण थी,

१ आवश्यक निर्युक्ति, पृष्ठ ४८

गणिकाओ से सबधित आलिगनादि ६४ क्रियाएं भी उसे आती थी; सहवास की ३० प्रक्रियाएँ वह भली भाँति जानती थी, २१ प्रकार के कार्य गुणो में वह कुशल थी, नवयौवना होने से उसके नवो अग में सिहरन हो रही थी, उसे १८ देशो की भाषाए आती थी, उसकी वेश-भूषा देखते ही मन में काम की उत्पत्ति होती थी, उसके महल पर पताका लहराती थी, राष्ट्र की ओर से उसे छाता और चवर मिले थे, वह सदैव कन्नीरथ (पालकी) की सवारी करती थी तथा हजारो गणिकाओ और वारनारियो की सरपच थी। दूसरे दिन सुभूमि-भाग उद्यान को जाते समय दोनो मित्रो ने देवदत्ता को अपने सजे हुए रथ पर बिठा लिया। बगीचे में पहुचने के उपरान्त नन्दा तालाब मे बहुत देर तक वे जल-केलि करते रहे। फिर भोजनादि कर लेने के बाद सध्या तक वे देवदत्ता के साथ लता-मडप, केलिगृह इत्यादि में रमते-फिरते रहे। रात को वे घर लौटे[1]।

पिण्ड निर्युक्ति से विदित होता है कि चद्रानना नगरी का राजा चद्रावतंस था। उसकी त्रिलोक-रेखा प्रमुख कई रानियाँ थी। नगर के पूर्व और पश्चिम में राजा के सूर्योदय और चन्द्रोदय नाम के दो बगीचे थे। वसन्त ऋतु में एक दिन राजा ने सपरिवार क्रीडा-कौतुक कर मन बहलाने के अभिप्राय से उद्यान-यात्रा करने का निश्चय किया। इसलिये नगर मे घोषणा कर दी गयी कि उक्त दिन कोई भी नागरिक सूर्योदय बाग मे न जाय तथा लकडी और घास-फूस जुटाने के लिये लोग चन्द्रोदय उद्यान में जायें। ढिढोरे के बाद नागरिको को सूर्योदय बाग मे घुसने से रोकने के लिये पहरेदार रख दिये गये। रात को राजा के मन में यह चिन्ता हुई कि यदि पूर्व दिशा में स्थित सूर्योदय बाग में प्रातःकाल बिताया जाय, तो कडी धूप का सामना करना पड़ेगा। इसलिये राजा ने अपने विचार बदल दिये और चन्द्रोदय बाग में जाना तय किया। सवेरे हरम समेत राजा चन्द्रोदय उद्यान मे पहुचा और रानी और उनकी सहेलियों

---

१. १।३।३

लित हो गये। जैनो के धार्मिक ग्रथो के सकलन तथा रचना के बारे मे उनका विश्वास है कि गणधरो के अतिरिक्त और कोई अगो का सकलन नही कर सकता, भद्रबाहु सरीखे वद्ध स्थविर निर्युक्त्यादि की रचना कर सकते है[1]। कहने का आशय यह है कि काम चलाने के लिये सभी कोई स्वीकार करते है कि श्वेताम्बर सप्रदाय वालो के अग और उपागो का सकलन लगभग ई० पू० चौथी शती और प्रचलित सन् की पाँचवी शती के बीच हुआ था।

उद्यान-यात्रा

बन्द घरो मे रहते-रहते जब जीवन की एकरूपता से प्राणवत नागरिको की तबीयत ऊब जाती थी तब प्राचीन रीति के अनुसार बाहरी तरफ की हवा खाने के लिये वे बाग-बगीचे को सिधारते थे। वहाँ वे जितने समय रहते, जीवन-यात्रा-पद्धति से सबद्ध सारी झझट भुला देते और आनन्द में मग्न हो कर जीवित रहने का मजा चखते थे । नाया-धम्म-कहाओ का कहना है कि चम्पा के दो सपन्न सार्थवाहो के पुत्र, जिन दत्त और सागर दत्त शरीर के दो होते हुए भी हृदय एक था। बचपन मे वे एक साथ पाले पोसे गये थे। बाल्यावस्था में दोनो एक साथ खेले-कूदे थे, पुन किशोर अवस्था में वे एक ही गुरु के पास पढे भी थे। नवयौवन में दोनो ने सौगध खायी थी कि दाँत काटी रोटी को छोडकर वे कही नही जायेंगे। एक दिन दोनो ने उद्यान-यात्रा करने की ठानी। अत खान-पान की बहुत सी सामग्री तथा फूल-माला और सुगधि द्रव्यादि लेने के अतिरिक्त उन्होने अपने साथ चम्पा की नामी गणिका देवदत्ता को ले लिया। उसकी दैनिक दक्षिणा हजार अशरफी थी। देवदत्ता के रूप तथा गुणो का वर्णन करते हुए लेखक कहते है—वह बडी सपन्न थी, उसके यहाँ खान-पान की वस्तुओ की कमी नही थी, उसके घर में बहुत से जीवो का पालन-पोषण होता था, वह सयोजनो से सबधित नृत्य-गीत आदि ६४ कलाओ में प्रवीण थी,

१ आवश्यक निर्युक्ति, पृष्ठ ४८

गणिकाओ से सबंधित आलिंगनादि ६४ क्रियाएं भी उसे आती थी; सहवास की ३० प्रक्रियाऐं वह भली भांति जानती थी, २१ प्रकार के कार्य गुणो में वह कुशल थी, नवयौवना होने से उसके नवो अग मे सिहरन हो रही थी, उसे १८ देशो की भाषाएं आती थी, उसकी वेश-भूषा देखते ही मन में काम की उत्पत्ति होती थी, उसके महल पर पताका लहराती थी, राष्ट्र की ओर से उसे छाता और चवर मिले थे, वह सदैव कन्नीरथ (पालकी) की सवारी करती थी तथा हजारो गणिकाओ और वारनारियो की सरपच थी। दूसरे दिन सुभूमि-भाग उद्यान को जाते समय दोनो मित्रो ने देवदत्ता को अपने सजे हुए रथ पर विठा लिया। वगीचे में पहुचने के उपरान्त नन्दा तालाव मे बहुत देर तक वे जल-केलि करते रहे। फिर भोजनादि कर लेने के बाद सध्या तक वे देवदत्ता के साथ लता-मडप, केलिगृह इत्यादि में रमते-फिरते रहे। रात को वे घर लौटे[1]।

पिण्ड निर्युक्ति से विदित होता है कि चद्रानना नगरी का राजा चद्रावतस था। उसकी त्रिलोक-रेखा प्रमुख कई रानियां थी। नगर के पूर्व और पश्चिम में राजा के सूर्योदय और चन्द्रोदय नाम के दो वगीचे थे। वसन्त ऋतु में एक दिन राजा ने सपरिवार क्रीडा-कौतुक कर मन वहलाने के अभिप्राय से उद्यान-यात्रा करने का निश्चय किया। इसलिये नगर मे घोपणा कर दी गयी कि उक्त दिन कोई भी नागरिक सूर्योदय बाग में न जाय तथा लकडी और घास-फूस जुटाने के लिये लोग चन्द्रोदय उद्यान में जायें। ढिढोरे के वाद नागरिको को सूर्योदय वाग मे घुसने से रोकने के लिये पहरेदार रख दिये गये। रात को राजा के मन में यह चिन्ता हुई कि यदि पूर्व दिशा में स्थित सूर्योदय वाग में प्रातःकाल विताया जाय, तो कडी धूप का सामना करना पडेगा। इसलिये राजा ने अपने विचार वदल दिये और चन्द्रोदय वाग में जाना तय किया। सवेरे हरम समेत राजा चन्द्रोदय उद्यान में पहुचा और रानी और उनकी सहेलियो

---

१. १।३।३

के साथ क्रीड़ा-कौतुक करने लगा। इस बीच कुछ कुतूहली नागरिक अन्त-पुरचारिणी रानियो की उद्यान-क्रीडा देखने के लिये सूर्योदय बाग के झाड जगलो के भीतर छिप कर जा बैठे। पहरेदारो ने उन्हें पकड लिया। उधर राजाज्ञा के अनुसार जो लोग चद्रोदय बाग में लकडी आदि लेने गये थे और इच्छा न रहते हुए भी जिन्होने रानियो को बगीचे मे मनमानी क्रीडा करते देख लिया था, वे भी पकड लिये गये। निदान जिन्होने जान-बूझ कर राजाज्ञा का उल्लघन किया था, उन्हे सजा मिली। शेष बरी कर दिये गये[१]।

अतगडदसाओ में एक शिक्षाप्रद घटना का उल्लेख हुआ है। राजगृह नगर के बाहर एक बडे भारी बगीचे मे मुद्‌गर-पाणि नाम के यक्ष का मदिर था। अर्जुन नाम का एक माली उस उपदेवता का बडा भक्त था। एक दिन प्रातकाल अपनी धर्म-पत्नी बधुमती के साथ बहुत-सी फूल-माला, सुगधि, वस्त्र और खान-पान की सामग्री लेकर वह वहां पहुच गया। जिस समय वह भक्ति के साथ मूर्त्तिकी साज-सजावट कर रहा था, उसी समय आवारो के एक गुट्ट (ललियाएणाम गोट्ठी) के छ सदस्यो ने उस पर अचानक हमला कर दिया और उसके हाथ-पैर बांध कर एक कोने में छोड दिया और पारी-पारा करके उन दुष्टो ने बधुमती पर बलात्कार किया। इस घटना से अर्जुन का मन उस यक्ष से बिलकुल हट गया। एक निष्ठावान् उपासक को खोने की आशका से उस देवता ने अचानक अर्जुन की भुजाओ में कई हाथियो की शक्ति सचारित कर दी। तब अर्जुन अपना बधन तोडकर उठ खडा हुआ और उस यक्ष की मुगरी लेकर उन छ दुष्टो और बधुमती का वध किया। तभी से वह खून का प्यासा बन कर राजगृह की सडको का फेरा लगाता और जो भी उसके सामने आ जाता उसकी हत्या कर देता था। इससे नगर मे बडा आतक फैल गया। लोग घर से निकलने की हिम्मत नही करते थे। ऐसे ही समय में सुदर्शन नाम का एक श्रेष्ठी-पुत्र महावीर स्वामी

१ सत्र २१२-१८

के दर्शन करने का सकल्प कर घर से निकल पडा। पिता-माता के वहुत समझाने पर भी उसने उनकी एक नहीं सुनी। निदान वहुत कुछ समझा बुझाकर सुदर्शन कुमार ने अर्जुन को शात किया। अन्तत. महावीर स्वामी ने उसे प्रवज्या दे दी[१]।

ललित गोष्ठी

आज कल गाव-गाव मे सभा और समितियो के दर्शन मिलते है। नगरो की वात ही क्या? साधारणतः ऐसी सस्थाओ में नागरिक लोग एकत्र हो सध्या समय आमोद-प्रमोद करते हैं। नाया-धम्म-कहाओ से पता चलता है कि उन दिनो चम्पा नगरी में ललित गोष्ठी (ललियाएणाम गोट्ठी) नाम की एक प्रमोद सभा थी तथा इसके कुल सदस्य सम्पन्न-कुल के थे। स्वय शासक इस सभा का पृष्ठपोषक था। कभी-कभी इसके सदस्य आमोद प्रमोद करने के वहाने वेहयाई भी कर वैठते थे। कहा जाता है कि एक दिन उस सभा के छ सदस्य देवदत्ता गणिका के साथ उद्यान-यात्रा के प्रसग में सुभूमि-भाग वगीचे में गये। वहां निश्चिन्त होकर वे क्रीडा-कौतुक करने लगे। इस सिलसिले में कहा गया है कि एक सदस्य ने उस गणिका को गोद में वैठा लिया, दूसरा उसके मस्तक पर छाता खोल कर खडा हो गया, तीसरा उसके केश-पाश मे फूल खोसता रहा, चौथा महावर लेकर उसके पैर रगने लगा, पांचवा चॅवर डोलाने लगा और छठा आगे आगे पानी छिडकता हुआ चला। इस प्रकार का जुलूस वना कर उन्होने वगीचे की परिक्रमा की[२]।

जुआ

जुए के वारे मे सूत्रकृताग में स्पष्ट शब्दो मे कहा गया है कि अष्ट-पद (अट्ठविय) खेलना नही चाहिये[३]।

---

१ ६।३।१-५०
२. १।१६।७७–८०
३. १।९।१७

ठानाग-सूत्र मे पत्नी आदि के पुत्र-वियोग की कथा, आँखो को बिगाड़ने वाली कथा तथा चारित्र भेदने वाली वतकही की निन्दा की गई है[१]। आचाराग सूत्र में जैन सावु और सावुनियो को ऐसे स्थान में, जहाँ किस्से-कहानिया सुनायी जायें (अक्खाइय-ट्ठान), जाने से मना किया गया है[२]।

अट्टनशाला

प्राकृत मूल ग्रन्थो की एक ऐसी विशिष्टता है जो उन्ही दिनो के रचित पालि अथवा सस्कृत ग्रन्थो में वहुत कम पायी जाती है। वह यह है कि वे वडे-वडे राजाओ की दिनचर्या का वर्णन करते समय प्रात स्नान करने के पहले उन्हे सामान्यत अट्टनशाला या व्यायामशाला में ले जाते है जहाँ वे नियमानुसार नाना प्रकार के व्यायामादि करते हैं। औपपातिक सूत्र में भमसार (विवसार) का पुत्र कुणिय (अजातशत्रु)[३], नाया-धम्म-कहाओ मे श्रेणिक[४], अतगड दसाओ में अधग वण्ही (अधक वृष्णी)[५], कल्पसूत्र में खत्तिय सिद्धार्थ[६], थोडे मे सभी शासक प्रतिदिन प्रात-काल नियमितरूप से व्यायाम करते है। व्यायामशाला मे वे सामान्यत लटकते या झूलते (वग्गण), कुश्ती लडते और भिन्न-भिन्न अग-प्रत्यगो का सचालन करते थे। व्यायाम करते करते जव वे थक जाते थे तव सवा-हक आकर कस कर मालिश करते थे। फिर स्नान और पूजनादि से निवृत्त होकर वे राजसभा में जाते थे।

वच्चों के खेल-कूद

इस प्रसग में डिम् डिम् वा वचकनिया ढोल का उल्लेख सूत्रकृताग मे हुआ है[७]। नाया-धम्म-कहाओ का कहना है कि राजगृह के सेठ धन्ना का चिलात नाम का एक दास था। वह सेठ की एकलौती पुत्री सुपमा को हवा खिलाने के लिये वाग में ले जाता था। चिलात पराया माल चुराने का वडा आदी था। वगीचे मे जव वच्चे खेल-कूद में दत्तचित्त

१ ७।३।४८ ४ १।१।२४ ६ ५।६०
२ २।१।१।१४ ५ पृष्ठ २० ७ १।४।२।१४
३ सूत्र ३१

रास

प्रश्न व्याकरण सूत्र में ब्रह्मचारियो को रासलीला में सम्मिलित होने से मना किया गया है [१]।

गुल किला वा गेंद खेलना

ऐसा मालूम होता है कि उन दिनो लडके-वच्चे और किशोर-किशोरी सभी गेंद खेलते थे। सूत्रकृताग में कपडे के वने हुए गोलक वा गेंद का उल्लेख है[२]। अन्तगड दसाओ में कहा गया है कि द्वारका-निवासी सोमिल व्राह्मण की पोती सोमा एक दिन प्रात काल स्नानादि से निवृत्त होकर सडक पर निकल आयी और एक सुनहरा गेंद लेकर खेलने लगी। इसी समय कृष्ण भगवान् और उनका छोटा भाई गय-सुखमाल (गज-सुकोमल) हाथी पर सवार होकर उस रास्ते पर आ निकले। श्री कृष्ण ने सोमा का अनुपम रूप देख कर तत्क्षण अपने भाई के साथ उसका विवाह करने का सकल्प किया। किन्तु इस वीच गय-सुखमाल ने प्रव्रज्या ले ली। इसलिये यह विवाह हो नही पाया [३]। पुन विपाक सूत्र से ज्ञात होता है कि एक धनिक स्वार्थवाह की पुत्री देवदत्ता अपने घर के छज्जे पर गेंद खेलती थी [४]।

नाया-धम्म-कहाओ से विदित होता है कि तेतलीपुर के राजा कनकरथ के अमात्य तेतली पुत्र ने जव पहले-पहल कालाद नाम के सोनार की पुत्री पोट्टिला को देखा, तव वह अपने घर की छत पर दासियो के साथ गेंद खेल रही थी। तेतली पुत्र उसका अग-सौष्ठव और सौन्दर्य देख कर मोहित हो गया। अन्तत उसने उससे विवाह कर लिया [५]।

कथा

समवाय सूत्र में रमणी, भोजन, राजा तथा देश से सम्वन्धित वतोले-वाजी का नाम विकथा (विगहाओ) दिया गया है [६]। उसी प्रकार

---

१ २।४।१०
२ १।४।२, १४
३ पृष्ठ ७२
४ ११९
५ ११४।२
६ ४।१

ठानाग-सूत्र मे पत्नी आदि के पुत्र-वियोग की कथा, आँखो को बिगाडने वाली कथा तथा चारित्र भेदने वाली वनकहो की निन्दा की गई है[१]। आचाराग सूत्र में जैन साधु और साधुनियो को ऐसे स्थान में, जहाँ किस्से-कहानिया सुनायी जायें (अक्खाइय-ट्ठान), जाने से मना किया गया है[२]।

अट्टनशाला

प्राकृत मूल ग्रन्थो की एक ऐसी विशिष्टता है जो उन्ही दिनो के रचित पालि अथवा सस्कृत ग्रन्थो में बहुत कम पायी जाती है। वह यह है कि वे बडे-बडे राजाओ की दिनचर्या का वर्णन करते समय प्रात स्नान करने के पहले उन्हे सामान्यत अट्टनशाला या व्यायामशाला में ले जाते है जहाँ वे नियमानुसार नाना प्रकार के व्यायामादि करते हैं। औपपातिक सूत्र में भमसार (बिबसार) का पुत्र कुणिय (अजातशत्रु)[३], नाया-धम्म-कहाओ मे श्रेणिक[४], अतगड दसाओ में अधग वण्ही (अधक वृष्णी)[५], कल्पसूत्र में खत्तिय सिद्धार्थ[६], थोडे मे सभी शासक प्रतिदिन प्रात-काल नियमितरूप से व्यायाम करते है। व्यायामशाला मे वे सामान्यत लटकते या झूलते (वग्गण), कुश्ती लडते और भिन्न-भिन्न अंग-प्रत्यगो का सचालन करते थे। व्यायाम करते करते जब वे थक जाते थे तब सवा-हक आकर कस कर मालिश करते थे। फिर स्नान और पूजनादि से निवृत्त होकर वे राजसभा में जाते थे।

बच्चों के खेल-कूद

इस प्रसंग में डिम् डिम् वा वचकनिया ढोल का उल्लेख सूत्रकृताग में हुआ है[७]। नाया-धम्म-कहाओ का कहना है कि राजगृह के सेठ धन्ना का चिलात नाम का एक दास था। वह सेठ की एकलौती पुत्री सुषमा को हवा खिलाने के लिये बाग में ले जाता था। चिलात पराया माल चुराने का बडा आदी था। बगीचे में जब बच्चे खेल-कूद में दत्तचित्त

१ ७।३।५८ ४ १।१।२४ ६ ५।६०
२ २।११।१४ ५ पृष्ठ २० ७ १।४।२।१४
३ सूत्र ३१

रास

प्रश्न व्याकरण सूत्र में ब्रह्मचारियो को रासलीला में सम्मिलित होने से मना किया गया है [१]।

गुल किला वा गेंद खेलना

ऐसा मालूम होता है कि उन दिनो लडके-बच्चे और किशोर-किशोरी सभी गेंद खेलते थे। सूत्रकृताग में कपडे के बने हुए गोलक वा गेंद का उल्लेख है[२]। अन्तगड दसाओ में कहा गया है कि द्वारका-निवासी सोमिल ब्राह्मण की पोती सोमा एक दिन प्रात काल स्नानादि से निवृत्त होकर सडक पर निकल आयी और एक सुनहरा गेंद लेकर खेलने लगी। इसी समय कृष्ण भगवान् और उनका छोटा भाई गय-सुखमाल (गज-सुकोमल) हाथी पर सवार होकर उस रास्ते पर आ निकले। श्री कृष्ण ने सोमा का अनुपम रूप देख कर तत्क्षण अपने भाई के साथ उसका विवाह करने का सकल्प किया। किन्तु इस बीच गय-सुखमाल ने प्रवज्या ले ली। इसलिये यह विवाह हो नही पाया [३]। पुन विपाक सूत्र से ज्ञात होता है कि एक धनिक स्वार्थवाह की पुत्री देवदत्ता अपने घर के छज्जे पर गेंद खेलती थी [४]।

नाया-धम्म-कहाओ से विदित होता है कि तेतलीपुर के राजा कनकरथ के अमात्य तेतली पुत्र ने जब पहले-पहल कालाद नाम के सोनार की पुत्री पोट्टिला को देखा, तब वह अपने घर की छत पर दासियो के साथ गेंद खेल रही थी। तेतली पुत्र उसका अग-सौष्ठव और सौन्दर्य देख कर मोहित हो गया। अन्तत उसने उससे विवाह कर लिया [५]।

कथा

समवाय सूत्र में रमणी, भोजन, राजा तथा देश से सम्बन्धित बतोले-बाजी का नाम विकथा (विगहाओ) दिया गया है [६]। उसी प्रकार

---

१ २।४।१०
२ १।४।२, १४
३ पृष्ठ ७२
४ १।९
५ १।१४।२
६ ४।१

हाथ से पकड कर दूर फेंक दिया। इस घटना के अनन्तर कुल खिलाडी फिर एकत्र हुए और गेंद खेलने लगे। खेल की शर्त्त यह थी कि जिसकी जीत होगी उसे हारने वाला कंधे पर बैठा कर घर पहुँचावेगा। थोडी देर मे वह मिथ्या देवता बालक बन कर उन बच्चो के साथ खेलने लगा। शीघ्र ही उसकी हार हुई। तब वह झट महावीर को कंधे पर बैठा कर दौडने लगा। जैसे जैसे वह दौडता गया, वैसे वैसे उसका शरीर दैत्य-दानवो की भांति बढता गया। यह देख कर बालक महावीर ने उसकी पीठ पर कस कर ऐसा एक मुक्का जमाया कि पल भर में वह अतिकाय दानव सिमट कर मच्छड बन गया। इस पर उसने भगवान् से चिरौरी-विनती की और वहाँ से चलता बना। इस घटना के अनन्तर वर्द्धमान का एक नाम "श्री वीर" पड़ा[1]।

खेद का विषय यह है कि टीकाकार ने आमलकी क्रीडा की पद्धति की विशद व्याख्या नही की। हाँ—भागवत पुराण में आमलक मुष्ट्यादि क्रीडा का नाम आया है[2]। किन्तु वह अटकल लगाने का खेल था। आगे चल कर उसका वर्णन होगा।

ऊपर बच्चो के खेल-कूद का जो विवरण दिया गया है उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि—

(१) गेंद का उपयोग प्रायः सार्वजनिक था; प्रायः सभी बच्चे गेंद खेलते थे,

(२) बच्चो के खेलने के लिये नगरो मे खेल-भूमि होती थी;

(३) कभी-कभी दल बद्ध होकर बच्चे वन-विहार के प्रसग में जगलो में जाकर खेलते थे।

सुरापान

सामान्यतः प्राकृत मूल-ग्रथो में सुरापान जैसे व्यसन का उल्लेख बहुत कम हुआ है। उवासग दसाओ[3], विपाक-सूत्र[4], और नाया-

---

१ पृष्ठ १०१

२ १०।१८।१४

३. १।२४०

४. १।२

रहते थे, तब वह उनके खेल के सामानो पर हाथ साफ करके धीरे से चलता होता। इस प्रसग मे कहा गया है कि वह लाख के बने हुए पासे, गेंद, बडे गेद, चियडो की बनी हुई पुतलिया प्रभृति उडा ले जाता था[१]। पुन उसी ग्रन्थ मे और एक स्थान मे कहा गया है कि राजगृह नगर मे धन्ना नाम का एक सेठ रहता था। उसका पथक नाम का एक दास-पुत्र था। पथक के बारे में कहा गया है कि वह बालोचित खेल-कूद के परिदर्शन तथा सघटन करने मे बडा कुशल था[२]।

अतगड दसाओ मे पोलसपुर के राजकुमार अतिमुक्त कुमार के बारे मे कहा गया है कि जब वह समान वय के बालको के साथ इदट्ठान (इन्द्र-स्थान) नाम की खेल-भूमि में खेल रहा था, तब गौतम स्वामी उधर से आ निकले। राजकुमार ने तभी से उनका सग नही छोडा। निदान महावीर स्वामी ने उसे प्रवज्या दी[३]।

भगवान् श्री महावीर स्वामी का एक नाम 'श्रीवीर' है। जिस घटना के बाद उन्हे यह उपनाम प्राप्त हुआ था उसका विशद विवरण देते हुए टीकाकार जिनभद्र मुनि कल्पसूत्र में लिखते है कि एक दिन अपने कुछ सगी-साथियो के साथ बालक वर्द्धमान आमलकी क्रीडा के प्रसग में नगर के बाहर किसी जगल मे चले गये। वहाँ वे दौड-धूप करने और पेडो पर चढ कर फल आदि तोडने लगे। महावीर की तत्परता और फुरती देख कर इन्द्र महाराज के दरबार मे उपस्थित कुल देवता दग हो गये। इस पर उनकी राय ठहरी कि इन्द्र भगवान् भी बालक महावीर से लोहा नही ले सकते। देवताओ की सम्मति सुन कर ओछी प्रकृति का एक निचला देवता मन ही मन बहुत जलने लगा। निदान देवताओ की सर्वमान्य राय को मिथ्या करने के अभिप्राय से वह बडे भारी अजगर का रूप धारण कर जिस वृक्ष पर महावीर स्वामी चढे हुए थे, उसके तने को चारो ओर से लपेट कर पडा रहा। उस भयकर साँप को देखते ही महावीर के कुल सगी-साथी तितर-बितर हो गये। तब भगवान् ने उस साँप को दोनो

१ १।१८।८ २ १।२।७ ३ ६।१५।६

हाथ से पकड़ कर दूर फेंक दिया। इस घटना के अनन्तर कुल खिलाडी फिर एकत्र हुए और गेंद खेलने लगे। खेल की शर्त यह थी कि जिसकी जीत होगी उसे हारने वाला कधे पर बैठा कर घर पहुँचावेगा। थोडी देर में वह मिथ्या देवता बालक बन कर उन बच्चो के साथ खेलने लगा। शीघ्र ही उसकी हार हुई। तब वह झट महावीर को कधे पर बैठा कर दौडने लगा। जैसे जैसे वह दौडता गया, वैसे वैसे उसका शरीर दैत्य-दानवो की भाँति बढता गया। यह देख कर बालक महावीर ने उसकी पीठ पर कस कर ऐसा एक मुक्का जमाया कि पल भर में वह अतिकाय दानव सिमट कर मच्छड बन गया। इस पर उसने भगवान् से चिरौरी-विनती की और वहाँ से चलता बना। इस घटना के अनन्तर वर्द्धमान का एक नाम "श्री वीर" पडा[1]।

खेद का विषय यह है कि टीकाकार ने आमलकी क्रीडा की पद्धति की विशद व्याख्या नही की। हाँ—भागवत पुराण में आमलक मुष्ट्यादि क्रीडा का नाम आया है[2]। किन्तु वह अटकल लगाने का खेल था। आगे चल कर उसका वर्णन होगा।

ऊपर बच्चो के खेल-कूद का जो विवरण दिया गया है उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि—

(१) गेंद का उपयोग प्रायः सार्वजनिक था; प्रायः सभी बच्चे गेंद खेलते थे;

(२) बच्चो के खेलने के लिये नगरो मे खेल-भूमि होती थी;

(३) कभी-कभी दल बद्ध होकर बच्चे वन-विहार के प्रसग में जगलो मे जाकर खेलते थे।

सुरापान

सामान्यत प्राकृत मूल-ग्रथो में सुरापान जैसे व्यसन का उल्लेख बहुत कम हुआ है। उवासग दसाओ[3], विपाक-सूत्र[4], और नाया-

---

१ पृष्ठ १०१
२. १०।१८।१४
३. १।२४०
४. १।२

के नाटक मडली में आ मिलने से विश्वकर्मा की आय बहुत बढ गई। आपाढभूति के कला-ज्ञान की सभी सराहना करते थे। एक दिन राजभवन में नाटक खेलने का बुलावा आया। अत अपनी-अपनी पत्नियो को घर मे छोड कर कुल नट राज-भवन में एकत्र हुए। आषाढभूति की पत्नियो ने सोचा कि आज पति रात भर नही लौटेंगे। अत जी भर सुरा पान किया जाय। बात मन में उठने की देर थी। तत्क्षण वे दोनो बेवडक सुरापान करने लगी। दोनो ने इतना पिया, इतना पिया कि थोडी देर मे उनके पहनावे अपने स्थान से हट गये और दोनो अचेत होकर ऊपर की मजिल के एक कमरे में पडी रही। उधर राजभवन मे किसी जरूरी काम के आ जाने से राजा ने खेल स्थगित कर दिया। बडी रात को विश्वकर्मा और आषाढभूति घर लौटे। पर लौटने पर आषाढभूति ने कमरे मे जो दृश्य देखा उससे मारे लज्जा और अनुताप के वह पसीना-पसीना हो गया। बिना कुछ कहे-सुने आषाढभूति उलटे पाँव घर से निकला। पर विश्वकर्मा के समझाने से उसकी पत्निया महात्मा के चरणो पर गिर पडी[1] और उसे रोक लिया।

आमोद-प्रमोद के साधनों की सूची

यद्यपि जैन धर्मावलम्बी साधु-सत, श्रमणोपासिका, ब्रह्मचारी प्रभृति आमोद-प्रमोद में सम्मिलित नही होते थे, तथापि समाज में बहुत-से ऐसे कलाकार थे जो विशेष विशेष अवसरो पर अपनी कला प्रदर्शित कर लोगो का मनोविनोद करते थे। सामान्यत उत्सवादि के उपलक्ष्य मे और जन-यात्रा के अवसरो पर ऐसे पेशेवर लोगो की माँग होती थी।

औपपातिक सूत्र के प्रारभ में चम्पा नगरी के वर्णन प्रसग मे कहा गया है कि वहा नट (नाटक के अभिनेता), नर्त्तक (नचैया), जल्ल (डोरी पर खेल दिखाने वाले), मल्ल (कुश्ती लडने वाले पहलवान), मौष्टिक(मुक्का लडने वाले) विडम्बक (मजाकिया), कथक

१. पिड निर्युक्ति, सूत्र ४७४

(कहानी सुनाने वाले), प्लवक (उछलने-कूदने वाले), लासक (जो प्रेम सबधी गीत गाते थे), आख्यायक (ज्योतिषी), लख (बासबाजी दिखाने वाले), मख (जो चित्र दिखा कर पैसा कमाते है), तूण बजाने वाले, वीनकार और तालाचर (थपोडी पीटने वाले) प्रभृति बहुत-से कलाकार थे[1]।

आचाराग सूत्र में कहा गया है कि देशाटन के प्रसग में महावीर स्वामी जब राढ देश में गये तब वहाँ के निवासियो ने उन्हे बहुत सताया। किन्तु उन्होंने उसकी परवाह न की और न उन्होंने नचवैये और गवैये, मूक अभिनेता (आघय), लट्ठबाज और मुक्केबाजो की कृतियो की ओर ही आख उठा कर देखा[2]।

अतगडदसाओ में कहा गया है कि कुमार गोयम (गौतम) के सम्मान में जो सवारी निकाली गई, उसमें विदूषक, थपोडी पीटने वाले, चापलूस, अभिनेता, भाड, हँसोड प्रमुख बहुत-से कलाकार सम्मिलित हुए थे[3]।

औपपातिक सूत्र मे ज्ञात होता है कि महावीर स्वामी जी से मिलने के लिये जब महाराज कुणिय चले तब उनके साथ हँसोड, मुह-फट, चापलूस, बजवैये, नट, भांड प्रभृति थे[4]।

उसी प्रकार महावीर स्वामी के जन्म पर जो उत्सव मनाया गया था, उसमें नट, नचवैये, डोरी पर नाच दिखाने वाले, पाठक, रास सबधी गीत गाने वाले (लासका.), बांसबाजी दिखाने वाले, थपोडी पीटने वाले तथा तूण और वीन बजाने वालो ने भाग लिया था[5]।

अन्त में यह कहना अप्रासगिक न होगा कि भगवान् महावीर ने ऐसे श्रमण-निर्गन्थो की निन्दा की जो हँसोड, भाड़, मुह-फट वा नृत्य-गीतप्रिय हैं[6]।

---

१. सूत्र १
२. १।८।१।८
३. पृष्ठ ४९
४. सूत्र ३१
५ कल्पसूत्र, ५।१०२
६ औपपातिक, सूत्र ३८

के नाटक मडली में आ मिलने से विश्वकर्मा की आय बहुत बढ गई। आषाढभूति के कला-ज्ञान की सभी सराहना करते थे। एक दिन राजभवन में नाटक खेलने का बुलावा आया। अत अपनी-अपनी पत्नियो को घर मे छोड कर कुल नट राज-भवन में एकत्र हुए। आषाढभूति की पत्नियो ने सोचा कि आज पति रात भर नही लौटेंगे। अत जी भर सुरा पान किया जाय। बात मन मे उठने की देर थी। तत्क्षण वे दोनो बेधडक सुरापान करने लगी। दोनो ने इतना पिया, इतना पिया कि थोडी देर में उनके पहनावे अपने स्थान से हट गये और दोनो अचेत होकर ऊपर की मजिल के एक कमरे में पडी रही। उधर राजभवन मे किसी जरूरी काम के आ जाने से राजा ने खेल स्थगित कर दिया। बडी रात को विश्वकर्मा और आषाढभूति घर लौटे। पर लौटने पर आषाढभूति ने कमरे में जो दृश्य देखा उससे मारे लज्जा और अनुताप के वह पसीना-पसीना हो गया। बिना कुछ कहे-सुने आषाढभूति उलटे पाँव घर से निकला। पर विश्वकर्मा के समझाने से उसकी पत्निया महात्मा के चरणो पर गिर पडी[1] और उसे रोक लिया।

आमोद-प्रमोद के साधनों की सूची

यद्यपि जैन धर्मावलम्बी साधु-सत, श्रमणोपासिका, ब्रह्मचारी प्रभृति आमोद-प्रमोद में सम्मिलित नही होते थे, तथापि समाज मे बहुत-से ऐसे कलाकार थे जो विशेष विशेष अवसरो पर अपनी कला प्रदर्शित कर लोगो का मनोविनोद करते थे। सामान्यत उत्सवादि के उपलक्ष्य मे और जन-यात्रा के अवसरो पर ऐसे पेशेवर लोगो की माँग होती थी।

औपपातिक सूत्र के प्रारभ मे चम्पा नगरी के वर्णन प्रसग मे कहा गया है कि वहा नट (नाटक के अभिनेता), नर्तक (नचैया), जल्ल (डोरी पर खेल दिखाने वाले), मल्ल (कुश्ती लडने वाले पहलवान), मौष्टिक (मुक्का लडने वाले) विडम्बक (मजाकिया), कथक

१ पिंड निर्युक्ति, सूत्र ४७४

(कहानी सुनाने वाले), प्लवक (उछलने-कूदने वाले), लासक (जो प्रेम सबधी गीत गाते थे), आख्यायक (ज्योतिषी), लख (बासवाजी दिखाने वाले), मख (जो चित्र दिखा कर पैसा कमाते है), तूण बजाने वाले, वीनकार और तालाचर (थपोडी पीटने वाले) प्रभृति बहुत-से कलाकार थे[1]।

आचाराग सूत्र में कहा गया है कि देशाटन के प्रसग में महावीर स्वामी जब राढ देश में गये तब वहाँ के निवासियो ने उन्हे बहुत सताया। किन्तु उन्होने उसकी परवाह न की और न उन्होने नचवैये और गवैये, मूक अभिनेता (आघय), लट्ठबाज और मुक्केबाजो की कृतियो की ओर ही आख उठा कर देखा[2]।

अतगडदसाओ में कहा गया है कि कुमार गोयम (गौतम) के सम्मान में जो सवारी निकाली गई, उसमें विदूषक, थपोडी पीटने वाले, चापलूस, अभिनेता, भाड, हँसोड प्रमुख बहुत-से कलाकार सम्मिलित हुए थे[3]।

औपपातिक सूत्र से ज्ञात होता है कि महावीर स्वामी जी से मिलने के लिये जब महाराज कुणिय चले तब उनके साथ हँसोड़, मुह-फट, चापलूस, बजवैये, नट, भाँड प्रभृति थे[4]।

उसी प्रकार महावीर स्वामी के जन्म पर जो उत्सव मनाया गया था, उसमें नट, नचवैये, डोरी पर नाच दिखाने वाले, पाठक, रास सबधी गीत गाने वाले (लासका.), बाँसवाजी दिखाने वाले, थपोडी पीटने वाले तथा तूण और वीन बजाने वालो ने भाग लिया था[5]।

अन्त में यह कहना अप्रासगिक न होगा कि भगवान् महावीर ने ऐसे श्रमण-निर्गन्थो की निन्दा की जो हँसोड़, भांड़, मुह-फट वा नृत्य-गीतप्रिय हैं[6]।

---

१. सूत्र १ ३. पृष्ठ ४९ ५ कल्पसूत्र, ५।१०२
२. १।८।१।८ ४. सूत्र ३१ ६. औपपातिक, सूत्र ३८

के नाटक मडली में आ मिलने से विश्वकर्मा की आय बहुत बढ गई। आपाढभूति के कला-ज्ञान की सभी सराहना करते थे। एक दिन राजभवन में नाटक खेलने का बुलावा आया। अत अपनी-अपनी पत्नियो को घर में छोड कर कुल नट राज-भवन में एकत्र हुए। आषाढभूति की पत्नियो ने सोचा कि आज पति रात भर नही लौटेंगे। अत जी भर सुरा पान किया जाय। बात मन में उठने की देर थी। तत्क्षण वे दोनो बेधडक सुरापान करने लगी। दोनो ने इतना पिया, इतना पिया कि थोडी देर में उनके पहनावे अपने स्थान से हट गये और दोनो अचेत होकर ऊपर की मजिल के एक कमरे में पडी रही। उधर राजभवन मे किसी जरूरी काम के आ जाने से राजा ने खेल स्थगित कर दिया। बडी रात को विश्वकर्मा और आषाढभूति घर लौटे। पर लौटने पर आषाढभूति ने कमरे मे जो दृश्य देखा उससे मारे लज्जा और अनुताप के वह पसीना-पसीना हो गया। बिना कुछ कहे-सुने आपाढभूति उलटे पाँव घर से निकला। पर विश्वकर्मा के समझाने से उसकी पत्निया महात्मा के चरणो पर गिर पडी[1] और उसे रोक लिया।

आमोद-प्रमोद के साधनो की सूची

यद्यपि जैन धर्मावलम्वी साधु-सत, श्रमणोपासिका, ब्रह्मचारी प्रभृति आमोद-प्रमोद में सम्मिलित नही होते थे, तथापि समाज में बहुत-से ऐसे कलाकार थे जो विशेप विशेष अवसरो पर अपनी कला प्रदर्शित कर लोगो का मनोविनोद करते थे। सामान्यत उत्सवादि के उपलक्ष्य मे और जन-यात्रा के अवसरो पर ऐसे पेशेवर लोगो की माँग होती थी।

औपपातिक सूत्र के प्रारभ मे चम्पा नगरी के वर्णन प्रसग में कहा गया है कि वहा नट (नाटक के अभिनेता), नर्त्तक (नचैया), जल्ल (डोरो पर खेल दिखाने वाले), मल्ल (कुश्ती लडने वाले पहलवान), मौष्टिक(मुक्का लडने वाले) विडम्वक (मजाकिया), कथक

१ पिंड निर्युक्ति, सूत्र ४७४

गधार, मज्झिम, पचम, वेवत और णेसात है। फिर सातो स्वर-स्थान का उल्लेख हुआ है। कहा गया है कि जिह्वाग्र में सज्ज, वक्षस्थल मे रिसभ, कठ में गधार, जिह्वा के बीच मे मज्झिम, नाक में पचम, दांत और ओठ में धेवत और सिर में णेसात नाम के स्वर का स्थान है।

आगे चल कर एक एक स्वर के स्रोत पर विचार किया गया है। कहा गया है कि प्रत्येक स्वर एक-एक जीव से निकला है। जैसे मोर से सज्ज, मुर्गे से ऋपभ, हस से गवार, भेड (ऊरणक) से मज्झिम, कोयल से पचम, सारस से धेवत तथा कराकुल (क्रौंच) से णेसात का उद्भव हुआ।

उसी प्रकार कुछ वाद्य यत्रो से एक-एक स्वर की उत्पत्ति हुई। इस प्रसग में कहा गया है कि मृदग से सज्ज, गोमुखी से ऋपभ, शख से गवार, झल्लरी से मज्झिम, दर्दरिका (वाद्य यत्र) से पचम, पटह से धेवत तथा महाभेरी से णेसात की उत्पत्ति हुई।

फिर स्वर-लक्षण का विशद वर्णन हुआ है। कहा गया है कि सज्ज के सावने से धन, गौ, मित्र और पुत्र की प्राप्ति होती है, सावक का विनाश नही होता तथा वह रमणियो का चहेता वनता है। रिसभ से ऐश्वर्य, सेनापति का पद, धन, वस्त्र, गध, अलकार, स्त्री और शय्या की प्राप्ति होती है। गवार के सावको के हृदय मे कला-ज्ञान वज्र जैसा जम जाता है, यहाँ तक कि शस्त्रधारी पुरुप भी उसे अपने स्थान से हिला नही सकता। मज्झिम के पारदर्शी मौजी होते हैं, वे स्वयं मनचाहा खाते-पीते तथा औरो को भी देते हैं। पचम के ज्ञाता पृथ्वीपति वनते हैं तथा अनगिनत शूर-वीर उनके इशारे पर चलते है। धेवत के जानकार चिडीमार, जाल में फँसाने वाले, सुअर हँकाने वाले और मछुओ की भाँति वडे झगडालू होते हैं। उसी प्रकार णेसात के पारग चडाल, मुक्के वाज गो-वधकारी और चोर जैसे पापी होते है।

इसके अनन्तर कहा गया है कि सप्त स्वर के तीन "गाम" वा ग्राम होवे हैं। क्रम मे उनके नाम सज्ज, मज्झिम और गधार हैं।

गांधर्व कला

हमारे समाज के ब्रह्मचारी और स्नातक, तथा बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियो की भांति जैन साधु-साधुनी और ब्रह्मचारियो को ऐसे जलसो में सम्मिलित होने से मना किया गया है जहां नृत्य-गीतादि होते रहें[१]। तथापि प्राकृत साहित्य से पता चलता है कि इन दिनो गाधर्व कला की बडी प्रगति हुई थी। साधु-सत लोग यद्यपि गाधर्व से मुह मोडते थे तथापि भारतीय समाज में उन दिनो नृत्य-गीत-वाद्यादि का व्यापक प्रचार था। शासक, धनिक जैसे जन-नायको का सरक्षण एव प्रश्रय मिलने के कारण इन सब ललित कलाओ की बडी उन्नति हुई। कल्प-सूत्र से पता चलता है कि सुधर्मा नाम की सभा में बैठे हुए इन्द्र महाराज नृत्य-गीत-वादित्र आदि का रस ले रहे थे[२]।

गीत-वाद्यादि का प्रचार ऐसे व्यापक पैमाने पर था कि जैनो के धार्मिक साहित्य से सगीत-शास्त्र से सम्बद्ध कुछ सिद्धान्त और नियमो के रचे जाने का आभास पाया जाता है। समय के विचार से ये सिद्धान्त भरत के नाट्य-शास्त्र से प्राचीन है कि नही, यद्यपि निश्चयपूर्वक कहना कठिन है, तथापि दोनो मे थोडी-बहुत सैद्धान्तिक एकरूपता है।

स्थानाग सूत्र में चार प्रकार के गीतो का उल्लेख हुआ है। उनके नाम क्रम से उत्क्षिप्त, पत्रक, मदक और रोविंदक है[३]।

राजप्रश्नीय मे सगीत की चार प्रकार की गति का वर्णन हुआ है, प्रारम्भ मे द्रुत फिर विलम्बित, प्रारम्भ में विलम्बित फिर द्रुत, प्रारभ और अन्त मे द्रुत, तथा प्रारभ और अन्त मे विलम्बित[४]।

स्थानाग मे सगीत-शास्त्र की प्रारम्भिक रूप-रेखा बडी निपुणता के साथ दर्शायी गई है। इस प्रकरण का नाम स्वर-मडल दिया गया है। नीचे उसी का साराश दिया जा रहा है।

प्रारम्भ में सप्तस्वरो के नाम दिये गये हैं। क्रम से वे सज्ज, रिसभ

---

१ आचाराग, २।११।१-४, १४
२. २।१३
३ ४।४।४०
४ ३।८

गधार, मज्झिम, पचम, धेवत और णेसात है। फिर सातो स्वर-स्थान का उल्लेख हुआ है। कहा गया है कि जिह्वाग्र में सज्ज, वक्षस्थल मे रिसभ, कठ में गधार, जिह्वा के बीच मे मज्झिम, नाक में पचम, दांत और ओठ में धेवत और सिर में णेसात नाम के स्वर का स्थान है।

आगे चल कर एक एक स्वर के स्रोत पर विचार किया गया है। कहा गया है कि प्रत्येक स्वर एक-एक जीव से निकला है। जैसे मोर से सज्ज, मुर्गे से ऋषभ, हस से गधार, भेड (ऊरणक) से मज्झिम, कोयल से पचम, सारस से धेवत तथा कराकुल (क्रौंच) से णेसात का उद्भव हुआ।

उसी प्रकार कुछ वाद्य यत्रो से एक-एक स्वर की उत्पत्ति हुई। इस प्रसग में कहा गया है कि मृदग से सज्ज, गोमुखी से ऋषभ, शख से गधार, झल्लरी से मज्झिम, दर्दरिका (वाद्य यत्र) से पचम, पटह से धेवत तथा महाभेरी से णेसात की उत्पत्ति हुई।

फिर स्वर-लक्षण का विशद वर्णन हुआ है। कहा गया है कि सज्ज के साधने से धन, गौ, मित्र और पुत्र की प्राप्ति होती है, साधक का विनाश नही होता तथा वह रमणियो का चहेता बनता है। रिसभ मे ऐश्वर्य, सेनापति का पद, धन, वस्त्र, गध, अलकार, स्त्री और शय्या की प्राप्ति होती है। गधार के साधको के हृदय मे कला-ज्ञान वज्र जैसा जम जाता है, यहाँ तक कि शस्त्रधारी पुरुष भी उसे अपने स्थान से हिला नही सकता। मज्झिम के पारदर्शी मौजी होते हैं, वे स्वयं मनचाहा खाते-पीते तथा औरो को भी देते है। पचम के ज्ञाता पृथ्वीपति बनते हैं तथा अनगिनत शूर-वीर उनके इशारे पर चलते हैं। धेवत के जानकार चिडीमार, जाल में फँसाने वाले, सुअर हँकाने वाले और मछुओ की भाँति बडे झगडालू होते हैं। उसी प्रकार णेसात के पारग चडाल, मुक्केबाज गो-वधकारी और चोर जैसे पापी होते है।

इसके अनन्तर कहा गया है कि सप्त स्वर के तीन "गाम" वा ग्राम होते हैं। क्रम से उनके नाम सज्ज, मज्झिम और गधार हैं।

एक-एक ग्राम की सात-सात मूर्च्छना होती हैं। सज्ज गाम की मगी, कोरव्वीय, हरी, रयतनी, सारकता, सारसी और सुद्ध सज्जा नाम की सात मूर्च्छना, मज्झिम की उत्तरमदा, रजनी, उत्तरा, उत्तरा सगा, असोकता, सोवीरा और अभिरु नाम की सात, तथा गधार की नदी, खुद्दिया, पूरिमा, सुद्ध गधार, उत्तर गधार, आयामा और कोडीमात नाम की सात मूर्च्छना है।

स्वर-ग्राम प्रभृति का विशद विवरण देने के अनन्तर सक्षेप में गान्धर्व अथवा सगीत-शास्त्र की चर्चा की गई है। कहा गया है कि सातों स्वर नाभि-मडल से उत्पन्न होते हैं, गीत और रोदन दोनो की योनि वा उत्स एक ही है। सामान्यत किसी श्लोक के एक पद के आवृत्ति करने में जितना श्वासोच्छ्वास किया जाता है वही उसका काल है। गीत के आकार के बारे में कहा गया है कि वह प्रारम्भ में मद, बीच मे उदात्त और अन्त में हल्का होवे। कहा गया है कि गाते समय छः दोषो से अपने को बचाना चाहिये। इनके नाम क्रम से भीति, द्रुत, रहस्य (दवा हुआ स्वर), उत्ताल (बेताला), काक स्वर (श्रुतिकटु) और नकियाना है। सामान्यत सगीत के आठ गुण हैं। क्रम से वे स्वर-कला से परिपूर्ण, रक्त (पवित्र), अलकृत, व्यक्त (स्पष्ट), अविघुट्ट (सुरीला), मधुर, सम और सुकुमार होवें। कहा गया है कि इस प्रकार के गायक को शिक्षित कहा जाता है। अन्त में सगीत-लक्षणादि पर सम्यक् विचार-विवेचन किया गया है [1]।

भरत के नाट्य-शास्त्र से तुलना

स्थानाग के स्वर-मडल नाम के प्रकरण में सगीत शास्त्र की जो रूप-रेखा दी गई है, भरत के नाट्य-शास्त्र से वह मिलती-जुलती कम है। सगीत शास्त्र से सवद्ध जो विशेष विशेष पारिभाषिक शब्द हैं, उनमें बहुत कुछ एकरूपता है। किन्तु कहीं-कहीं उनका उपयोग दूसरे ही अर्थ मे हुआ है। स्थानाग की भांति नाट्य-शास्त्र में स्वर, ग्राम, मूर्च्छना जैसे

१ ७।२।१-२०

शब्द सामान्य है। किन्तु सप्त स्वर की समानता होते हुए भी ग्राम और मूर्च्छना की आकृति-प्रकृति मे आकाश-पाताल का अन्तर है।

स्थानाग में सज्ज, मज्झिम और गंधार तीन ग्रामों का उल्लेख हुआ है, तो नाट्य-शास्त्र में कुल दो ही षड्ज और मध्यम को मान्यता दी गई है[1]। नाट्य-शास्त्र में स्वर-लक्षण का विशद वर्णन नहीं हुआ है। परिभाषा के रूप में यही कहा गया है कि श्रुति, ग्राम और मूर्च्छना के सटीक समावेश से स्वर का उद्भव होता है[2]। मूर्च्छना के नामो में भी मेल नही। स्थानाग के अनुसार उत्तरमद्रा, रजनी और उत्तरा मज्झिम गाम को मूर्च्छना है, परन्तु भरत ने उन्हे षड्ज ग्राम की मूर्च्छना माना है[3]।

ऐसी दशा में सभव है कि स्थानाग का सकलन नाट्य-शास्त्र की रचना के पहले दूसरे किसी प्रान्त मे हुआ हो। नाट्य-शास्त्र को अन-वद्यता, परिपूर्णता और वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर ध्यान देते हुए यही अनुमान किया जाता है कि उसकी रचना स्थानाग सूत्र के बाद हुई होगी।

वादित्र

कठ सगीत को प्राणवन्त बनाने तथा मानव-हृदय में प्रेरणा भरने के लिये यन्त्र-सगीत का उद्भव हुआ। प्राकृत ग्रन्थो से पता चलता है कि प्राचीन काल में हमारे देश मे नाना प्रकार के वाद्य यन्त्रो का आविष्कार हुआ था। कठिनाई यह है कि इनमें से बहुत-से वाद्य यन्त्रो का आज-कल उपयोग नही होता। अनुमान किया जाता है कि कालान्तर में उनका विलोप हो गया। ऐसी दशा मे कुल वाद्य यन्त्रो का हिन्दी पर्यायवाची शब्द देना सभव नहीं।

परिपूर्णता के विचार से राजप्रश्नीय में वाद्य यन्त्रो की जो सख्या दी गई है, वह सभवत प्रामाणिक है। उक्त पुस्तक मे उनकी सख्या ४९ बतायी गई है[4]। प्रश्न व्याकरण सूत्र में ब्रह्मचारियो को जिन-जिन

१. २८।२७–३०
२. २८।१३
३ २८।२७–३०
४. १।५०

वाद्य यन्त्रो की ध्वनि सुनना नही चाहिये, उनकी लम्वी सूची प्रस्तुत की गई है। इनमें मुरर (मुरज-छोटी डुग्गी), मृदग, पणव (मादल), दद्दुर (पटह), दमामा, कच्छभी (वडी वीणा), वीन, विपची (छोटी वीणा), वल्लगी, घटा, वासुरी, तती, तलताल, तूर्य, पव्वय इत्यादि है[1]।

स्थानाग में देवलोक के वर्णन प्रसग में कहा गया है कि वहाँ सदैव सुरीले वाजे वजा करते हैं। इस सिलसिले में तती, तलताल, तुडिय (तूर्य), घण, मुइग (मृदग) तथा पडप (पटह) प्रमुख वाद्य यन्त्रो का नाम आया है [2]।

नाया-धम्म-कहाओ में हस्तिशीर्ष के शासक कनक केतु के वारे में कहा गया है कि उसने नीले रग के घोडे लाने के लिये कुछ व्यापारियो को कालिक द्वीप को रवाना किया। इस प्रसग में कहा गया है कि उसने खान-पान की वहुत-सी सामग्री के अतिरिक्त उनका मन वहलाने के लिये अनेक वीणा, वल्लकी (लोहे की तात), भामरी (वीणा), कच्छभी, भभा (भेरी), छब्भागरी, विचित्र वीणा प्रभृति गाडियो पर रखवा दी[3]।

औपपातिक सूत्र में कहा गया है कि जव कुणिय महावीर स्वामी से मिलने गया था, तव जुलूस के आगे-आगे शख, पणव, पटह, भेरि, झल्लरी, स्वरमुखी (काहला), हुडुक्क, मुरज, मृदग और दुदुभि प्रभृति वाजे वजाते हुए वहुत-से लोग चल रहे थे[4]।

भगवती सूत्र में एक सूची मिलती है। इसमे कई वाद्य यन्त्र ऐसे है जिनके नाम ऊपर नही आये है। उनके नाम क्रम से शृ ग, सखिय (छोटा शख), पोया (वडी काहला), परिपिरिया (एक प्रकार का ढोल), भंभा (वडा ढोल) है[5]।

उसी प्रकार आचाराग सूत्र में श्रमणोपासक और उपासिकाओ को

---

१ २।५।१५
२ ८।१।३
३ १।१७।१६
४ सूत्र ३१
५ ५।४।४

ऐसे स्थानों में जाने से मना किया गया है जहाँ वाद्य-यन्त्रादि बजाये जाते हों। इस प्रसंग में जो सूची प्रस्तुत की गई है उसमें कुछ बाजे तार के बने हुए थे, जैसे वीणा, विपची, वच्चीसम (वद्धिशक), तुणक, पणक तुंब वीणक, दुकुल (दुनुली) इत्यादि, कुछ ढोल जैसे मढे हुए थे, जैसे मृदंग, नंदी मृदंग, झल्लरी; कुछ ठोक कर बजाये जाते थे, जैसे ताल, कंसताल, लत्तिय (झांझ), गोहिय (गोजिह्वा) इत्यादि, शेष फूंक कर बजाये जाते थे, जैसे शंख, वेणु, वंस, खरमुहि इत्यादि[1]।

स्थानांग सूत्र में वाद्य-यन्त्रों को चार विभागों में बांटा गया है। वीणा प्रभृति को तत, पटह आदि को वितत, कांस्यतालादि को घन और बांसरी प्रभृति को झुसिर कहा गया है[2]।

आतोद्य लक्षण के वर्णन प्रसंग में भरत ने वाद्य-यन्त्रों के चार विभाग बताये हैं। तार के बने हुए वाद्य यन्त्रों का नाम उन्होंने तत दिया है, डुग्गी, मृदंग प्रभृति का पौष्कर, झांझ, मंजीरे आदि का घन और बांसुरी, भेरी इत्यादि का नाम उन्होंने सुषिर दिया है[3]।

यहाँ लक्ष्य करने का विषय यह है कि स्थानांग सूत्र में ढोल, मृदंग जैसे मढे हुए (अवनद्ध) वाद्य यन्त्रों का नाम वितत पड़ा है, किन्तु भरत ने उनका नाम पौष्कर दिया है।

नृत्य

नृत्य प्रयोजनम् नाम के प्रकरण में भरत मुनि ने नाच की प्रयोजनीयता पर विचार करते हुए उसके गीत अथवा वार्तालाप का अर्थ स्पष्ट करने तथा मनोज्ञ बनाने के पहलू पर विशेष बल नहीं दिया है; प्रत्युत उसकी शोभा बढ़ाने की शक्ति, मंगलकारिता तथा मनोरंजन के साधन होने के दृष्टिकोण से उसकी सराहना की है।

भगवती सूत्र में कई बार ३२ प्रकार की नाट्य विधियों का उल्लेख हुआ है[4], किन्तु कहीं भी उसका विशद वर्णन नहीं हुआ है। एक

१. २।१११।१-४
२. ४।४।५०
३. २८।२
४. ३।२, १३।१०, १६।६, २८।२ इत्यादि

स्थान में साज-सिगार कर एक नर्त्तकी (नट्टिया) द्वारा रंगमंच (रंगट्ठाण) पर हजारो दर्शको का ध्यान खीचते हुए ३२ प्रकार की नाट्य विधियो के प्रदर्शित करने का उल्लेख भी हुआ है[1]। इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने कई प्रकार की नाट्य-विधियो के नाम दिये हैं। क्रम से उनके नाम ईहामृग, ऋषभ, तुरग, नर, मकर, विहग, व्याल, किन्नर प्रभृति हैं। ये सब भक्ति-चित्र नाम की नाट्य-विधि के अंग हैं।

भरत के नाट्य-शास्त्र मे नाट्य-लक्षण नाम के प्रकरण में दस प्रकार के नाटको के बारे में चर्चा की गई है। इनमें एक का नाम ईहामृग है। इसकी विशद व्याख्या करते हुए भरत लिखते है कि सामान्यतः इस श्रेणी के नाटको के पात्र देवी-देवता होते है। किसी देवी को अपनाने के लिये इसमे युद्ध-विग्रह का समावेश होता है, देवियों को हरने या बहकाने के दृश्यादि होते है, पुरुषो का वध भी किया जाता है। अन्त में शाति स्थापित हो जाती है[2]।

ऊपर दिये हुए विवरण से प्रतीत होगा कि भरत मुनि ने ईहामृग श्रेणी के नाटको के कथा भाग में जो विशिष्टता होनी चाहिये उसी की चर्चा की है। किन्तु यहाँ नाट्य का अर्थ रंगमंच पर अभिनीत होने वाला नाटक नही, प्रत्युत नृत्त है। सौभाग्यवश राजप्रश्नीय में पूरी सूची मिलती है[3]।

उन दिनो भगवान् महावीर आमलकप्पा नगर के समीप अम्ब-शालवन चैत्य में ठहरे हुए थे। एक दिन सन्ध्या समय परिषद् के उठ जाने पर सूर्याभ देव भगवान् के मनोविनोद के लिये देवकुमार और देवकुमारियो की टोली लेकर नृत्य-कला प्रदर्शित करने लगे। इस प्रसंग में ३२ प्रकार की नाट्य-विधियो की पूरी सूची प्रस्तुत की गई है।

(१) मंगल भक्ति चित्र नाटक—इसके आठ विभाग थे। क्रम से उनके नाम स्वस्तिक (सोत्थिय), श्रीवत्स, नंदावर्त, वर्धमान, भद्रासन,

---

१. ११।१० २ २०।८२–८७ ३ १५२ .

कलस, मत्स्य तथा दर्पण थे। जैन-शास्त्र ग्रन्थो के अनुसार ये सब मगल के चिह्न है।

(२) भक्ति चित्र नाटक—इसके कई विभाग थे। क्रम से उनके नाम आवर्त्त, प्रत्यावर्त्त, उत्तरावर्त्त, पक्ति—सीधी और टेढी, स्वस्तिक, श्री स्वस्तिक, तूत फल के समान (पूसमाणग), मछली और मगर के अडो के आकार, जारामारा (मणि विशेष), पुष्पावली, पद्मपत्र, सागर-तरग, वनलता (अशोक), पद्मलता इत्यादि थे।

(३) चित्राकार-ईहामृग, ऋषभ, तुरग, नर, मगर, विहग, वालक, किन्नर, रुरु, सरभ, चमरी, हाथी प्रभृति।

(४) चक्रवाल—टेढा-मेढ़ा, टूटा-फूटा (अर्ध चन्द्राकार और पूर्ण चन्द्र)।

(५) आवली आकार—चन्द्रमा की पक्ति, सूर्य की पक्ति, हसावली, एकावली (हार), तारावली, कनकावली, रत्नावली (हार), मुक्तावली इत्यादि।

(६) प्रभृतिक—सूर्योदय और चन्द्रोदय की पद्धति।

(७) गमनागमन—चन्द्र-सूर्य के आकाश पथ मे विचरने की रीति।

(८) आवरण—चन्द्र-ग्रहण और सूर्य-ग्रहण की पद्धति।

(९) अस्तमण—सूर्य और चन्द्र के अस्त गमन की परिपाटी।

(१०) मडल प्रभृति—चन्द्र-मडल, सूर्य-मडल, नाग-मडल, यक्ष-मडल, भूत-मडल, राक्षस-मडल, गधर्व-मडल आदि।

(११) द्रुत-विलम्बित—वृषभ की ललित गति, सिंह की मनोहर अग-भगी, घोडे की चाल, मस्त हाथी की गति, मस्त घोडे की चाल इत्यादि।

(१२) सागर-नगर प्रभृति—शकट-आकार, सागर और नगर के आकार इत्यादि।

(१३) नदा-चन्दा प्रभृति—नदावर्त्त और चन्द्रावर्त की आकृति।

(१४)अडाकार—मगर और मछली तथा उनके अडे की आकृति।

(१५) क-वर्ग के पांच अक्षरो के आकार क-कार, ख-कार, ग-कार, घ-कार, ङ-कार।

(१६-१९) उसी प्रकार च-वर्ग, ट-वर्ग, त-वर्ग और प-वर्ग के पांच-पांच अक्षर।

(२०) पल्लवाकार—अशोक, आम, जामुन और कोसब की कोपलों के आकार।

(२१) लताकार—पद्मलता, नागलता, चम्पकलता, अशोकलता और कुन्दलता।

(२२) द्रुत नाट्य विधि।

(२३) विलम्बित नाट्य-विधि।

(२४) द्रुत-विलम्बित नाट्य विधि—प्रारभ में द्रुत, फिर मन्द।

(२५) अचिय (अचित)।

(२६) रिभिय।

(२७) अचिय-रिभिय।

(२८) आरभड।

(२९) भसोल।

(३०) आरभड-भसोल।

(३१) ऊपर उछल कर नीचे आ जाना, तिरछे कूदना, सकुचित तथा प्रसारित करना, आवागमन, भयभीत और सम्भ्रान्त (व्याकुल) होना।

(३२) अत में देवकुमार और देवकुमारियो ने एक साथ मिल कर भगवान् श्री महावीर स्वामी के पूर्व जन्म (जब वे नन्द राजा थे) तथा वर्त्तमान जीवन की प्रधान-प्रधान घटनाओ का अभिनय किया। इस नाटक का नाम "भगवान् चरित्र" था।

ऊपर ३२ प्रकार की नाट्य विधियो की जो सूची प्रस्तुत की गई है उसकी छान-बीन करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि—

(अ) ये सब सामूहिक नृत्य की भिन्न-भिन्न परिपाटियाँ थी जिन अनेक नर्तक और नर्तकियो ने भाग लिया था,

(आ) ऐसे प्रदर्शनो में सामान्यत वैयक्तिक मुद्रा के अतिरिक्त अनेक प्रकार के आकारादि रचने पर अधिक बल दिया जाता है। अकेले का नाच होने पर नचवैया बहुधा भाव और ठवन प्रभृति दिखा कर बाजी मार ले जाता है। परन्तु सामूहिक नृत्य मे पारस्परिक सहयोगिता तथा हिलने-डोलने में एकरूपता के होने की बडी आवश्यकता है। सामूहिक नृत्य में ही आकारो की रचना हो सकती है।

(इ) भरत के नाट्य-शास्त्र मे सामूहिक नृत्य पर अधिक बल नही दिया गया है। उस ग्रन्थ में वैयक्तिक नृत्य, अभिनय की परिपाटी (नृत्त), गीत और वाद्य पर अधिक ध्यान दिया गया है। ऐसी दशा में राजप्रश्नीय में दी हुई नाट्य-विधि और भरत के नाट्य-शास्त्र में दिये हुए विधि-विधानो में बडा अन्तर है। अवश्य, इधर-उधर दिये हुए पारिभाषिक शब्द दोनो मे सामान्य हैं। जैसे नाट्य-शास्त्र में नाना प्रकार के स्वस्तिको के नाम दिये हुए हैं[1], किन्तु राजप्रश्नीय में जो नाम मिलते हैं, उनसे वे मिलते नही। उसी प्रकार नाट्य-शास्त्र का गजक्रीडित[2], मयूर ललित[3], हरिण प्लुत[4], सिंह विक्रीडित[5] जैसे नामो में थोडा-बहुत सामंजस्य होते हुए भी कार्यत. दोनो मे बडा अन्तर है।

ऐसा लगता है कि नाट्य-शास्त्र मे दिया हुआ चित्राभिनय[6] नाम के नृत्त में एक साथ बहुत-से लोगो के नाचने की गुंजाइश है। शकटास्य[7] नाम भी सामान्य है। किन्तु कार्यत दोनो में आकाश-पाताल का अन्तर है।

---

१ ४।३५-३७
२. ४।१२८
३ ४।१४०
४ ४।१४३
५. ४।१४९
६ अध्याय २६
७ १२।८

'नृत्य' और 'नृत्त'

अन्त में यह कहना अप्रासगिक न होगा कि प्राचीन आचार्यों ने "नृत्य" और "नृत्त" की व्याख्या करते हुए कहा है कि ताल-लय के साथ मेल रखते हुए अग-सचालन (गात्र-विक्षेप) का नाम "नृत्य" है। उधर ताल-लय के साथ सामजस्य रखते हुए अग-भगिमा द्वारा अपने मन के भाव प्रकट कर वही भाव दर्शको के मन में उपजाने की कला का नाम "नृत्त" है। दूसरे शब्दो में सामान्यत "नाच" कहने से हम लोग जो अर्थ लगाते है, उसका नाम "नृत्य" था, तथा नाचते समय अग-प्रत्यगो को हिला-डुला और लहरा कर मानसिक भावो को व्यक्त करने की कला का नाम "नृत्त" था। आज-कल कही-कही इसका नाम "नृत्य-नाट्य", रखा गया है।

नाटक

परम्परा के अनुसार आचाराग सूत्र में जैन श्रमणो को ऐसे स्थानो में जाने से मना किया गया है जहा नाटक खेले जाते हो अथवा नृत्य-गीत प्रभृति होते रहे [१]।

स्थानाग में चार प्रकार के नाटको के बारे में कहा गया है। उनके नाम क्रम से अचित, रिभित, आरभट और भिसोल है [२]। पुनश्च उसी ग्रन्थ में कहा गया है कि दृष्टान्तिक, पाडशृत (पांडसुए), सामतो-वनीक और लोकमध्यावसान नाम के चार प्रकार के अभिनय होते है [३]।

स्थानाग मे उनका विशद वर्णन नही हुआ है। राज प्रश्नीय में इनका थोडा-बहुत स्पष्टीकरण हुआ है। सूर्याभ देवता के इन्द्राभिषेक के अवसर पर देवताओ ने नाटक खेला था। इस प्रसग में चार प्रकार की नाट्य-विधियो का उल्लेख हुआ है—द्रुत, विलम्बित, द्रुत-विलम्बित, अचित,

---

१ २।११।१४ २ ४।४।४० ३ ४।४।४०

आरभी, अतिम-आरभी, आरभड-भसोल-उत्पातिक। इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार ने कहा है कि नचवैये अग-प्रत्यग सकुचित और प्रसारित करते, आवागमन करते, भयभीत होते और सहम जाते हैं। आगे चल कर चार प्रकार की अभिनय-कला का उल्लेख हुआ है। क्रम से उनके नाम दृष्टातिक, प्रतिपतिका, सामतोपतिपातिकाओ और लोकमध्यावसना है[1]।

यहाँ कहना अप्रासगिक न होगा कि भरत मुनि ने नाटयशास्त्र में समवकार, ईहामृग, डिम व्यायोग, उत्सृष्टिकाक इत्यादि, दस प्रकार के नाटको का उल्लेख किया है[2]। किंतु बृहत्-कथा-कोष में आधिकारिक रूप से भरत का नाम लेकर वताया गया है कि उन्होंने सिग्नटक (पिड्गक), भाणी (भाणिका), छत्र (चित्रा), रास (रासक), दुम्बिली (डोम्बिका) प्रमुख पांच ही प्रकार के नाटको का उल्लेख किया है[3]। खेद का विषय है कि लेखक के सामने नाटय-शास्त्र की जो प्रति है, उसमें सिवा "भाण" के और कोई भी नाम नहीं मिलता।

भरत जी ने अभिनय की भी चार परिपाटियां वतायी हैं। क्रम से उनके नाम आगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक है[4]। इस प्रकार राजप्रश्नीय और नाट्य-शास्त्र में आकाश-पाताल का अतर है।

ऊपर "सुरापान" के प्रसग में आषाढभूति के आत्मिक अधःपतन का वर्णन हुआ है। इस सिलसिले में कहा जा चुका है कि राजभवन से लौटने पर जब उस महात्मा ने अपनी पत्नियो को नशे मे चूर और बेसुध पाया तब मारे अनुताप और लज्जा के उलटे पांव वह घर से निकला जा रहा था जब विश्वकर्मा के उकसाने से उन स्त्रियो ने आषाढभूति के पांव पकड लिये और अपने भरण-पोषण (पजीवन) का प्रबंध करने के लिये चिरौरी-

---

१. ३।८ ३ पृष्ठ १०४

२ २०।८४ ४. ८।८-९

विनय पिटक में भिक्खुनियो पर चित्रशालाओ में जाने का प्रतिबध लगाया गया है [१]। जातक ग्रथो में कहा गया है कि ओसधि कुमार ने अपने सगी-साथियो से एक-एक कहापण चदा वसूल कर एक भव्य क्रीडा-शाला वनवायी थी। इसकी भीतो पर उसने चित्रकारों के द्वारा सुन्दर-सुन्दर चित्र खिचवाये थे [२]। पुन उसी कहानी से ज्ञात होता है कि महोसध कुमार ने पातालपुरी में जो महल वनवाया था, उसकी सजावट के लिये पत्थर की वनी हुई सुरम्य स्त्री-मूर्त्तियो के अतिरिक्त उसने भीतो पर इद्र महाराज की खेल भूमि, सिनेरु पहाड के चारो ओर जो समुद्र स्थित है, महासमुद्र, चारो महाद्वीप, नगराज हिमवत, अनोत्तम झील, चद्र-सूर्य, चतुर्महाराजिक, स्वर्ग इत्यादि के मनोरम चित्र वनवाये थे [३]। थेर गाथा में कहा गया है कि विंविसार ने रोगुन के राजा तिस्स को एक फलक पर चित्रित वुद्ध भगवान् की जीवनी और सोने की पत्ती पर खुदे हुए भगवान् के जन्म-वृत्तात के दृश्य भेंट किये थे [४]। मिलिन्द पञ्हह में दान में चित्रादि देने से मना किया गया है [५]।

आचाराग-सूत्र में जैन सावुओ को "आइण्ण सलेख" (ऐसे स्थान जहाँ कुरुचिपूर्ण दृश्यादि चित्रित हो) में टिकने से मना किया गया है [६]। नाया-घम्म-कहाओ से ज्ञात होता है कि महाराज श्रेणिक के महल की भीतो पर सुन्दर-सुन्दर चित्र खीचे हुए थे [७]। उसी प्रकार मेघ कुमार के महल में भी चित्र वने हुये थे [८]। विदेह राज्य के शासक मल्ल-दिन्न के वारे में कहा गया है कि उसने एक "चित्तसभा" वनवायी थी जिसमें कोकशास्त्र में वर्णित ८४ आसनो के चित्र उरेहे हुए थे [९]। इस प्रसग मे एक चित्रकार की विशिष्टता के वारे में यह कहा गया है

---

१ हिन्दी सस्करण, पृष्ठ ५५
२ ६।३३३
३ ६।४३२
४ पृष्ठ ९०
५ २।१२१
६ २।२।३।१३
७ १।१।१७
८ १।१।८१
९ १।८।८७

कि वह अपनी कला में ऐसा पारदर्शी था कि किसी जीव के शरीर का एक ही अंग देख कर वह हू-बहू उसकी पूरी मूर्ति बना दे सकता था। चित्रशाला में काम करते समय उसने एक दिन मल्लदिन्न कुमार की बड़ी बहन मल्ली कुंवरी का एक अंगूठा परदे के नीचे के रीते स्थान से देख लिया और अपनी पारदर्शिता के सहारे उसने उसकी पूरी मूर्ति उतार कर रख दी। इस पर शासक उससे बहुत बिगड़ा और उसे देश से निकलवा दिया। दुखी होकर बेचारा चित्रकार कुरु राज्य में चला गया। वहां का शासक अदिन्नशत्रु वह चित्र देख कर मोहित हो गया और राजकुमारी को अपनाने के लिये उसने विदेह राज्य पर आक्रमण कर दिया [1]।

ऊपर दिये हुए साहित्यिक प्रमाणों से यही प्रतीत होता है कि

(अ) प्राचीन काल में चित्रकला का प्रचार व्यापक था,

(आ) चित्रागारों में दर्शनार्थियों की जो भीड़ लगी रहती थी उस से यही प्रकट होता है कि यह कला लोक-प्रिय थी,

(इ) कुछ कलाकारों ने इस कला में बड़ी उत्कर्षता प्राप्त की थी,

और (ई) इस ललित कला से संबद्ध कुछ सिद्धांतों की रचना होने लगी थी।

वर्तमान अध्याय में मनोविनोद के जिन-जिन साधनों का उल्लेख है उनकी समीक्षा करने से स्वभावत चार महत्वपूर्ण विषयों के प्रति हमारा ध्यान आकृष्ट होता है—

(अ) अभिजात वर्ग के सदस्य जो सामान्यत आलस्य में अपना जीवन व्यतीत करते थे, भौतिक शरीर को स्वस्थ और कर्मण्य बनाये रखने के लिये नियमित रूप से व्यायाम प्रभृति करते थे,

(आ) गांधर्व बेसुरी चिल्लाहट नहीं रहने पाया। प्रत्युत नियम-कानूनों के बन जाने से वह शास्त्र अथवा विद्या बन गया,

---

१ ११८।९०

(इ) गोष्ठी और परिषदों की भाँति १०।२० मनुष्य मिल कर मनोविनोद के लिये सभा-समितियो का सघटन करने लगे थे,

(ई) नगरो में बालक-बालिकाओ के लिये खेल-भूमि होती थी, जहाँ वे एकत्र हो सामाजिकता के सुख का अनुभव करती थी।

(इ) संस्कृत साहित्य में वर्णित मनोरंजन के साधन

मन बहलाने के सभी साधनो का अतीव प्राचीन नाम "क्रीडा" था। महर्षि पाणिनि ने कुश्ती, शस्त्रास्त्र चलाने का प्रदर्शन, आखेट, जुआ, उद्यान-यात्रा तथा नृत्य-गीत जैसे आमोद-प्रमोद के सब साधनो का सामान्य नाम "क्रीडा" रखा। इस प्रकार पाणिनि के काल में कुश्ती का नाम मल्ल-क्रीडा, शस्त्रास्त्र चलाने के प्रदर्शन का नाम प्रहरण क्रीडा, जुआ खेलने का नाम द्यूत क्रीडा प्रभृति पडा। पुन अष्टाध्यायी के अनुसार शिकार आदि मनोविनोद के साधनो का सामान्य नाम "क्रीडा"[१], खेलाडियो का नाम "आक्रीडी"[२] तथा क्रीड् धातु के सामने अनु, स, परि जैसे अव्यय जोडने से भिन्न-भिन्न खेलो का बोध होता है[३]। महाभारत में "क्रीडा" शब्द के अतिरिक्त[४] मन बहलाने के साधनो के लिये कभी-कभी "विहार" शब्द[५] का उपयोग हुआ है वात्स्यायन ने मनोविनोद के साधनो का सामान्य नाम "क्रीडा" दिया है[६]। बालचरित नाटक में भास ने हल्लीसक नाम के नृत्य का नाम "क्रीडा" दिया है[७]। अत. "क्रीडा" और "विहार" पर्यायवाची शब्द हैं तथा दोनो का अर्थ मनोरजन के साधन है।

संस्कृत साहित्य की रूपरेखा

इस युग की विशिष्टता यह है कि इन दिनो सस्कृत भाषा में धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त लौकिक साहित्य के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कई ग्रथो

---

१ ६।२।७४
२ ३।२।१४२
३ १।३।२१
४ ३।२३९।१८
५. ३।२३९।२२
६ १।४।४२
७ तीसरा अक

की रचना वा सकलन हुआ। धार्मिक साहित्य के क्षेत्र मे रामायण और महाभारत के अतिरिक्त मार्कण्डेय, पद्म, वायु, मत्स्य और विष्णु पुराणो का सकलन हुआ तथा मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु प्रमुख शास्त्रियो ने धर्मशास्त्रो की रचना की। उधर लौकिक साहित्य के क्षेत्र मे पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना की तथा पतञ्जलि और कात्यायन सरीखे विद्वानो ने उसका भाष्य लिखा। इनके सिवा कौटिल्य का अर्थशास्त्र, वात्स्यायन का काम-शास्त्र तथा भरत का नाट्य-शास्त्र भी इन्ही दिनो बने। सर्वोपरि भास और कालिदास ने इस युग मे अपने अमर नाटको की रचना की जिनमें लोक-जीवन की जीती-जागती झाँकी मिलती है। इनके अतिरिक्त इसी काल में महावस्तु, ललित विस्तर, बुद्धचरित, सौन्दरानन्द काव्य, जातकमाला, अवदान-शतक, दिव्यावदान प्रमुख बौद्ध मत के सस्कृत ग्रथो की रचना हुई जिससे सस्कृत-साहित्य की समृद्धि की अभिवृद्धि हुई। सस्कृत वाङ्मय के इस विभाग में अश्वघोष मध्य मुकुट-मणि माने जाते हैं। कुछ लोगो का कहना है कि अश्वघोष महाकवि कालिदास के भी पथ प्रदर्शक थे।

मनोविनोद के साधनों की विविधता

वस्तुत इस काल के मनोरजन के साधनो की विविधता देख कर हम विस्मित हो जाते हैं। मोटे तौर पर ये दो भागो में विभक्त किये जा सकते हैं—सार्वजनिक और स्थानीय। आखेट, जल-क्रीडा, गान्धर्व, नाटक उद्यान-यात्रा जैसे आमोद-प्रमोद के साधन सार्वजनिक थे। उदारहण के रूप में जल-क्रीडा पर विचार किया जा रहा है। द्वारका-निवासी यादव लोग समुद्र में जल-केलि करते थे, नदी-मातृक देश के लोग नदियो का उपयोग करते थे, शेष तालाब और झील में खेलकर मन बहलाते थे। मनोरजन के सार्वजनिक साधनो के अतिरिक्त कुछ साधन स्थानीय होते थे। आमोद-प्रमोद के ऐसे साधन बहुधा अगल-बगल की भौगोलिक स्थिति पर निर्भर थे। जैसे जगल से ढके हुए भूभागो मे वन-विहार के प्रसग में सघन जगलो के भीतरी भागो में चले जाने की प्रथा थी।

गण)[१]। वरौत के पत्थर पर की खुदाई में इस प्रकार के शिकार के दृश्य देखने में आते हैं।

रामायण में आखेट को एक प्रकार का व्यायाम माना गया है। इस प्रसग मे कहा गया है कि रात को शिकारी नदी किनारे जानवरो की वाट देखा करते थे[२]। एक स्थान में कहा गया है कि प्राचीन काल में राजा लोग मास और चाम प्राप्त करने के अभिप्राय से शिकार खेलने जाते थे[३]। अत रामचन्द्र जी स्वच्छन्दता के साथ शिकार खेलने के लिये तरस रहे हैं[४]। सभी को मालूम होगा कि "शब्द वेधी" दशरथ ने धोखे से एक ऋषि-पुत्र को वाण से वीध दिया था[५]। राजा इल के वारे मे कहा गया है कि नौकर-चाकर सेना और सगी-साथियो के साथ वह शिकार खेलने के लिये चैत में वन को गया और उसने अनगिनत हिरन प्रमुख जीवो को मारा[६]।

महाभारत में राजा दुष्यन्त की शिकार-यात्रा का विशद वर्णन हुआ है[७]। शान्तनु ने अपने राज्य में शिकार खेलने के वहाने हिरन, सुअर और चिडियो का वध करने की मनाही कर दी थी। इसलिये उस के शासन-काल को "ब्रह्मधर्मोत्तर" वा अहिंसा धर्म-प्रधान कह कर सराहना की गई है[८]। उसी ग्रथ में परोक्ष रीति से शिकार सवधी कुछ नियम-कानून दिये गये है जो वडे रोचक है। कहा गया है कि प्रकाश्य रूप से तथा माया की रचना कर पशुओ का शिकार करना वैध है, पशु जव असावधान रहे तव उसे मारा जा सकता है[९]। पुन, यदि किसी शिकारी ने एक पशु को मारने का निश्चय किया हो तो उस पर दूसरा शिकारी वार नही कर सकता था[१०] इत्यादि।

---

१. ४।४।११
२ २।६३।२०—२१
३ ३।४३।३१
४ २।४९।१४—१६
५ २।६३।२०
६ ७।८७।८—१०
७ १।६९
८ १।१००।१५—१६
९ १।११८।१२
१० ३।३९।१९—२१

हैहय वंश के राजा सुमित्र के बारे में कहा गया है कि उसने एक हिरन को बाण से बेधा था, परन्तु वह भाग निकला। अमात्य और रनिवास के साथ राजा उसके पीछे-पीछे दौडने लगा[1]। अनुशासन पर्व में कहा गया है कि बाहु-बल द्वारा कमाया हुआ मांस खाने से क्षत्रियों की निन्दा नहीं होती। अपने व्यक्तित्व को भूलकर जब तक पशु के स्तर तक न पहुँचा जाय तब तक शिकार नहीं खेला जा सकता। ऐसी दशा में ही शिकारी या तो पशु को मार गिराता है अथवा पशु शिकारी को ले बीतता है। इसी लिये सब राजा शिकार खेलने में रस लेते हैं[2]।

मानव धर्मशास्त्र से विदित होता है कि शिकार खेलने के लिये कुछ लोग शिकारी कुत्ते रखते थे। मनु भगवान ने सम्मति दी है कि ऐसे लोगों के यहाँ भोजन न करना चाहिए[3]। विष्णु ने कुत्ते आदि हिंसक जंतुओं के मारे हुए जीवों का मांस, तथा चाण्डाल और दस्यु जैसे नीच जातियों के दिये हुए मांस को पवित्र माना है[4]।

यूनानी राजदूत मेगास्थिनीज ने मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त की मृगया-यात्रा का विशद वर्णन किया है। उसका कहना है कि शासक कभी-कभी शिकार खेलने के लिये राजभवन से बाहर निकला करता था। उसकी यात्रा में तडक-भडक की भरमार होती थी। स्त्रियाँ राजा को घेरे रहती थीं। घेरे के बाहर चोबदार लोग भाला लेकर चलते थे। राज-मार्ग के बीचोबीच रस्सी बांध दी जाती थी तथा झांकने वालों को मृत्युदण्ड दिया जाता था। राजा मचान पर से घेरे के भीतर हाँके लाये गये जानवरों का शिकार करता था। उस समय ३।४ स्त्रियाँ राजा के शरीर की रक्षा करती थीं। खुले मैदान में शिकार खेलते समय वह हाथी की सवारी करता था। तब सशस्त्र स्त्रियाँ रथ, घोडे और हाथियों पर सवार होकर राजा के साथ चलती थीं[5]।

---

१ १२।१२६।१
२. १३।११६।१५
३ ४।२१६
४. २३।५०
५ मेक्-क्रिन्डल, पृष्ठ ७१

यहाँ स्मरणीय है कि कौटिल्य ने शासको के शिकार खेलने के लिये सरक्षित जगल रखने का निर्देश दिया है। ऐसे जगलो में रहने वाले वाघ, हाथी प्रमुख हिंस्र पशुओ के नख और दाँत निकाल लिये जाते थे[1]।

पद्मपुराण के उत्तरखड में सिहल के राजा विक्रमवेताल का शिकार-यात्रा का विवरण मिलता है। राजा को कश्मीर के शासक शौर्यवर्मा ने भेंट में दो कुतिया भेजी थी। एक दिन राजकुमारो के साथ वाजी लगाकर विक्रमवेताल शिकार खेलने गये। राजा ने दोनो कुतियो को अपने साथ ले लिया। इनमें से एक राजा के पास रही, दूसरी कुमारो के पास। उस दिन उन्होंने खरगोश का शिकार करने का निश्चय किया था। थोडी देर में जोर से भागता हुआ एक खरगोश दिखायी दिया। तत्क्षण राजा ने धावा करने के लिये अपनी कुतिया को छोड दिया। कुमार ने भी उसी समय अपनी कुतिया को छोड दिया। दोनो कुतियो ने प्राणपण से उस खरहे का पीछा किया। कुछ देर वाद, वहुत दौडने के कारण थक कर खरहा एक गड्ढे में गिर पडा। इस लिये कुतिया उसे पकड नही पायी। कुछ समय वाद एक छलाग मार कर खरहा गड्ढे के बाहर निकल आया। राजा की कुतिया ने तव उस पर हमला किया। खरगोश के मुह से फेन निकलने लगा। फिर भी लडखडाता और उछलता हुआ खरहा थोडी दूर निकल गया। ऐसी दशा में कुमार की कुतिया ने उसकी गरदन पर दांत वैठाया जिससे रक्त निकल आया। फिर क्या था, कुमार लोग सहर्ष चिल्ला उठे—"हमारी जीत हुई।" शोर के कारण सहम कर कुतिया ने खरहे को छोड दिया। खरगोश तेजी से दौडकर एक झाडी में जा छिपा। थोडी देर में राजा की कुतिया गध सूघ कर टोह लेती हुई वहाँ पहुँच गई। वहाँ से निकल कर खरहा वत्स मुनि के आश्रम में जा पहुचा। वहा कीचड में फँस जाने के कारण उसके प्राण निकल गये[2]।

---

१ अर्थशास्त्र, पृष्ठ ४९   २ १८८।७-३०

उसी पुराण के सृष्टि खड में कहा गया है कि प्रभजन नाम के एक राजा ने दूर से एक हिरनी पर वाण चलाया। उस समय वह निश्चिन्त हो कर वच्चे को दूध पिला रही थी। इस पर उस हिरनी ने राजा को अभिशाप दिया कि शिकार के नियमो को तोडने के कारण अगले जन्म मे तुम्हें वाघ वनना पडेगा। इस प्रसग में कहा गया है कि जव पशु पानी पीता रहे, वच्चो की देख-रेख करता रहे अथवा मैथुन में प्रवृत्त रहे तव उसे मारना नही चाहिए[1]। पुन. उसी पुराण के ब्रह्म खड में कहा गया है कि जन्माष्टमी के दिन चित्रसेन नाम का एक राजा व्रती न रह कर, वाघ का शिकार करने के अभिप्राय से जगल में पैठा। परन्तु वाघ के भाग निकलने के कारण राजा की कामना पूरी नही हुई। निदान घूमता-फिरता वह यमुना के तट पर पहुच गया। वहाँ उसने गोपियो को ठाट के साथ जन्माष्टमी का उत्सव मनाते देखा। उनके कहने से राजा ने उस व्रत का पालन किया और अतत स्वर्ग में पहुँचा[2]।

रघुवश[3] और शकुन्तला[4] म कालिदास ने शारीरिक व्यायाम की दृष्टि से शिकार खेलने की प्रथा की सराहना की है। शिकार खेलने की अलग पोशाक (मृगया-वेशम्) होती थी[5]। सिर के वालो को लपेट कर जूड़ा वाँध दिया जाता था और ऊपर से फूल तथा वेलवूटे का वना हुआ छोटा सा ताज पहन लिया जाता था। पोशाक का रग पत्तियो के रग मे मिलता-जुलता होता था। शिकारी के साथ कुत्ते और हँकवे होते थे जो पशुओ को चारो ओर से घेर कर शिकारी के सामने पहुचा देते थे[6]। राजा के शरीर की रक्षा करने के लिये यूनानी स्त्रियाँ होती थी। वे माला पहनती और हाथ में धनुष लिये रहती थी[7]।

---

१ १८।२५४
२. १३।६९.
३ ९।४९,
४. अव, २
५ रघुवंश, ९।५०
६ रघुवश, ९।६९-७८
७ शकुन्तला, पृष्ट ५७

दशकुमारचरित में शिकार खेलने के परिणामो पर विशद विवेचन किया गया है। कहा गया है कि इससे पैरो का अद्भुत व्यायाम होता है, कफ का नाश होता है, जिससे भोजन पचने की क्रिया तेजी से होती है, चर्वी घटती है जिससे शरीर कर्मण्य, फुर्तीला और बलवान् बनता है, शीत-ताप-वर्षा और हवा से कुछ भी विगडता नही, पशुओ के मनोविज्ञान से परिचय होता है, भोजन के लिये मास मिलता है, भेडिये और शेरो का नाश होने से यातायत में सहूलियत होती है, झाड-जगल और पहाडी प्रान्तो से परिचय होता है तथा जगली जन-जातियो से जान-पहचान होती है[1]।

इस प्रकरण को समाप्त करने के पहले ई० पू० चौथी शती मे जिस रीति से जगली हाथी पकडे जाते थे उसका विवरण देना अप्रासगिक न होगा। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यह विवरण यूनानी राजदूत मेगास्थिनीज का है जिसने अपनी आँखो से यह कार्यवाही देखी थी। आसाम, मैसूर, प्रमुख कुछ प्रान्तो में अभी तक जगली हाथियो को पकडने के लिये "खेदा" करने की प्रथा है, अर्थात् उनको खदेड कर एक स्थान में लाया जाता है। नीचे दिया हुआ ब्यौरा भी बहुत-सी बातो मे उससे मिलता-जुलता है।

जगली हाथियो को पकडने के लिये पहले झाड-जगलो से घिरा हुआ एक लबा चौडा भू-भाग चुना जाता था। एरियन का कहना है कि यह भू-भाग इतना प्रशस्त होता था कि उसके भीतर अनायास एक सेना-शिविर स्थापित किया जा सकता था। इस भू-खड के चारो ओर गहरी खाई खोदी जाती थी। यह खदक गहराई में चार पुरसा और चौडाई में पांच पुरसा होता था। खाई की दोनो बगलो में खोदी हुई मिट्टी का ढेर लगा दिया जाता था। इसी ढेर के भीतर बीच-बीच में मिट्टी हटाकर चौकीदार और हॅंकवा के रहने के लिये छोटी-छोटी कुटिया बनायी

---

१ २।८

जाती थी। कुटियो के द्वार खाई की ओर होते थे। घेरे के भीतर आने-जाने के लिये एक ही पुल होता था। इसे सदैव तिनके, टहनी और पत्तियो के द्वारा छिपा रखा जाता था। तैयारी हो जाने पर ३।४ पालतू हथनियो को उस घेरे के भीतर छोड दिया जाता था। हथनियो के आने का समाचार मिलते ही आस-पास के कुल जगली हाथी अधिक रात होने पर उस घेरे के चारो ओर चक्कर काटते फिरते थे। वे एकाएक उस घेरे के भीतर घुसने का साहस नही करते थे। उधर अपनी-अपनी कुटियो मे से पहरे-दार और हँकवे जगली हाथियो की कार्यवाही लक्ष्य करते जाते थे। निरंतर कई दिन बाहर ही बाहर घूमने के बाद वे क्रमश घेरे के भीतर घुस पडते थे। झुड के घेरे के भीतर पैठते ही पहरेदार पुल हटा देते थे। प्रारभिक दशा में जगली हाथियो को पान-भोजन की कुछ भी सामग्री नही दी जाती थी। इस प्रकार कुछ दिनो में जब वे दुर्बल हो जाते थे तब एक लडाका और मस्त हाथी उस घेरे के भीतर छोड दिया जाता था। वहाँ पहुँचते ही वह अपरिचित हाथियो से लड़ने लगता था और अनायास वह सूने जगली हाथियो को पटक देता था। ऐसे जोखिम के समय कुछ कार्य-कुशल महावत पेट के बल रेगते हुए आगे बढ कर जगली हाथियो की टाँगें बाँध देते थे। वह प्राणपण से बधन खोलने का प्रयास करता था, परन्तु पालतू हाथी मार-मार कर उसकी नसें ढीली कर देता था। निदान जब वे बिल्कुल पस्त हो जाते थे तब उन्हें कुछ खाने का पदार्थ दिया जाता था। क्रमशः पालतू हाथियो के साथ बाँध कर वे हाथी-खाने में लाये जाते थे। वहाँ उनका पालन-पोषण तथा शिक्षण आदि होता रहता था[१]।

मल्ल-युद्ध या कुश्ती

ऊपर कहा जा चुका है कि दौड की प्रतियोगिता, पशु-युद्ध प्रमुख मनोरंजन के जितने साधन हैं उनका मुख्य उद्देश्य कार्यत भाग लेने

[१] मेक् क्रिन्डल, पृष्ठ ९०

वालो में प्रतिस्पर्धा की भावना जागरित करते हुए दर्शको के मन में जो युद्ध-लिप्सा छिपी हुई रहती है, उसे शान्त कर, मन बहलाने का होता है। इस दृष्टिकोण से विचार करने से मल्ल-युद्ध या कुश्ती हमारे हृदय में निहित युद्ध-लिप्सा को शान्त करने का एक अचूक साधन है। इसमें शारीरिक बल के साथ ही दाँव-पेंचो का प्रयोगात्मक ज्ञान होना भी परमावश्यक है। हमारे देश में मल्ल-क्रीडा या कुश्ती बहुत प्राचीन काल से मनबहलाव का एक उत्कृष्ट साधन मानी जाती है।

पाणिनि के "समि मुष्ठौ" सूत्र[1] को पुष्ट करने के अभिप्राय से कात्यायन तथा पतञ्जलि दोनो भाष्यकारो ने "मल्लस्य सग्राह" का उदाहरण दिया है। यहाँ "सग्राह" शब्द का अर्थ—कुश्ती लडते समय पहलवान लोग शारीरिक बल के द्वारा हाथ और उँगलियो से जो एक दूसरे को थामे हुए रहते हैं, वही है। यहाँ "सग्राह" शब्द का अर्थ "सग्रह करना" वा "जुटाना" नही। पुन· "स्पर्धायामाङ"[2] सूत्र को पुष्ट करने के लिये उदाहरण प्रस्तुत किया गया है कि "मल्लोमल्लमाहूयते," मल्ल मल्ल को ललकारता है। प्रारभिक दशा में यह किया जाता है। आगे चलकर दोनो प्रतिद्वदियो की ओर से तत्परता की आवश्यकता होती है।

सभी को मालूम है कि पाण्डवो ने अज्ञातवास का काल मत्स्य देश की राजधानी विराट् नगर में रहकर विताया था। उनके वहाँ रहते समय असाढ (मासे चतुर्थे) में समारोह के साथ ब्रह्मोत्सव मनाया गया था। इस उत्सव की विलक्षणता यह थी कि इसके प्रसग में कुश्ती की प्रतियोगिता होती थी जिसमें कार्यत भाग लेने के लिये दूर-दूर से नामी पहलवान आते थे। इस बार भी वहा उस उत्सव के उपलक्ष्य में बहुत से मल्लो का जमघट हुआ था। इन मल्लो में जीमूत नाम का एक पहलवान था जिससे कोई भी टक्कर नहीं ले पाता था। इसलिये मारे

---

१ ३।३।३६ २ १।३।३१

गुमान के वह धरती पर पांव नही धरता था। दगल मे भाग लेने के लिये वह भी आ पहुँचा और उपस्थित सब पहलवानो को लडने की चुनौती दी। परन्तु उससे लडने का साहस किसी का नही हुआ।

ऐसी दशा में विराट् राज के बार-बार कहने से भीम, जो उन दिनो रसोइये का काम कर रहा था, जीमूत से लडने के लिये तैयार हो गया। अखाडे में पैठने के बाद भीम ने अपने पहनावे की काछ आदि को भली भाँति सँभाल लिया। फिर उसने जोर से जीमूत को ललकारा। इस मल्ल-युद्ध की विशेषता यह थी कि इसमें शस्त्रास्त्र का उपयोग बिलकुल नही हुआ था। अस्तु।

प्रारभिक दशा मे हाथा-बाँही होने लगी। बीच बीच मे जोरो से चपेटने का शब्द सुनाई देने लगा। एक दूसरे के किसी अग को जब दबोचने का प्रयास करता, तब झट वह उससे छुडा लेता। जभी, एक का कोई अग दूसरे के किसी अग से टकरा जाता, तत्क्षण वह दूसरे को झटकार देता। कभी किसी को धरती पर पछाड कर दूसरा उसके शरीर को भली भाँति दलने-मलने लगता। कभी विपक्षी के अगो को घुमा-घुमाकर मथने-सा लगता। इस युद्ध में पछाड, मुक्केबाजी, झापड, नाखून गडाने और लातो का बहुधा उपयोग हुआ था। कदाचित् जाँघ और सिरो के टकराने से भयकर शब्द होता था। दर्शक लोग एकटक दोनो के प्रयुक्त दाँवपेच देखकर आनद उठाते थे और चिल्ला-चिल्लाकर अपना मनोभाव व्यक्त करते थे। वे कभी जाँघो से मार-मारकर एक दूसरे को खींचते, उठा लेते, चारो ओर घुमाते, फिर पटक देते। लडते समय दोनों प्रतिद्वंद्वी एक दूसरे को धिक्कारते भी थे। अततोगत्वा भीम ने जीमूत को अचानक दोनों हाथो के बल ऊपर उठा लिया और सिह के समान गरजता हुआ उसे अपने सिर के चारो ओर चरखी जैसा घुमाने लगा। इस प्रक्रिया का परिणाम यह निकला कि थोडी देर मे जीमूत के प्राणपखेरू निकल भागे। तब महापराक्रमी भीम ने उसकी लोथ धरती पर पछाड दिया। जीमूत की

और कभी जांघ और सिरो के टकराने से भयकर शब्द होता था। जनता साग्रह, दम वद कर दोनो योद्धाओ के दाँव-पेंच की प्रयोगात्मक करतूत तन्मय होकर देख रही थी। बीच-बीच में चिल्ला-चिल्लाकर वह शाबाशी देती और मनोभाव व्यक्त करती। कुछ समय बाद कस महाराज ने बाया हाथ हिला कर तुरही और मृदगो के वादको को चुप हो जाने की आज्ञा दी। इस प्रकार वहुत देर तक कृष्ण भगवान् चाणूर को छकाते रहे। अन्त में जव वह विल्कुल पस्त हो गया तव दोनो हाथो से चाणूर का सिर नवाकर भगवान् ने उसके माथे पर एक भारी घूसा जमाया और साथ ही घुटनो से उसके सीने पर एक प्रचड ठोकर मारी। बस् तत्क्षण चाणूर का दम निकल गया और उसकी लाश धरती पर लोटने लगी।

चाणूर के परलोक सिधारने के वाद कृष्ण भगवान् को तोषलक नाम के और एक पहलवान का सामना करना पडा। किन्तु थोडी देर छकाने के वाद भगवान् ने दोनो हाथो से उसे ऊपर उठा लिया और उसे वे घुमाने लगे। निदान जोर से धरती पर पछाड कर वे उसके शरीर को दलने-मलने लगे। फलत पहलवान के मुह से लहू निकलने लगा और स्वल्प काल में वह भी इस ससार से कूच कर गया। उधर बलराम जी ने मुष्टिक को मार गिराया।

राम-कृष्ण की तत्परता देख कर कस के होश-हवास जाते रहे। क्रोध से कापते हुए उसने दोनो भाइयो को समाजवाट से निकाल देने और वसुदेव, नद आदि को वदीशाला मे ठूस देने की आज्ञा दी। किन्तु उसकी इस आज्ञा के पालन होने के पहले ही कृष्ण भगवान् उस अत्याचारी शासक पर अचानक टूट पडे[1]।

जातक ग्रन्थो में इस घटना का कुछ विकृत विवरण दिया गया है। घट जातक का कथन है कि देवगब्भा और उपसागर के दस वेटे थे। इनमें वासुदेव जेठे और वलदेव मझले थे। पहले ही कस से कहा गया

---

१ ७।२९-३०

था कि देवगब्भा के बेटो के हाथ तेरी मृत्यु होगी। इस लिये देवगब्भा पुत्र होते ही नद गोप नाम के एक असामी की नव-जात लडकी के साथ उसे बदल लेती है और कस महाराज को कहला भेजती है कि मेरे पुत्री हुई है। इस प्रकार दसो बार वह अपने भाई को धोखा देती गयी। कालान्तर में जब देवगब्भा के दसो पुत्र कुछ बडे हो गये, तब वे चारो ओर बडा उपद्रव मचाने लगे। पता चलते ही कस ने उन्हे मरवा डालने का निश्चय किया। इस प्रसग मे कहा ग । है कि उसने धूम-धाम के साथ एक दगल करवाने का ढोग रचा और चाणूर और मुष्टिक नाम के दो पहलवानो को सिखा-पढा कर तैयार रखा। नियत दिन पर रग-मडल बन कर तैयार हो गया, उसकी साज-सजावट भी अनोखी रीति से की गई तथा जय पताका फहरा दी गई। दर्शको के बैठने के लिये दीर्घा, मच, आसन प्रभृति रखे गये। कस महाराज की आज्ञा मिलते ही चाणूर और मुष्टिक अखाडे मे आ डटे, ताल ठोक कर कूदने-फांदने और रुक-रुक कर गरजने लगे। क्रमश सुन्दर वेश-भूषा में और माला-चन्दन धारण कर बलदेव और वासुदेव अपने सभी भाइयो को साथ लेकर रग-मडल में आ पहुँचे। उनके वहाँ पहुचते ही मल्ल-युद्ध आरभ हो गया। किन्तु बलदेव ने चाणूर और मुष्टिक दोनो का वध कर दिया[1]।

पद्म पुराण[2] और स्कदपुराण[3] का सुझाव है कि दीवाली के दूसरे दिन बलि-प्रतिपदा के सवेरे, पशु-युद्ध के अतिरिक्त पहलवानो की कुश्ती का प्रदर्शन किया जाय तथा विजयी को राजा पुरस्कार दे।

स्कद पुराण के ब्रह्मखड मे कहा गया है कि काशी-राज प्रताप मुकुट के कहने से अशोकदत्त नाम का एक ब्राह्मण युवक दक्षिण से आये हुए एक दिग्विजयी पहलवा के साथ भिड गया, तथा अन्त मे उसको पटक दिया। प्रसन्न होकर राजा ने उसे पारितोषिक दिया और अमात्य का पद दिया[4]।

---

१ ६।८०-८२
२ उत्तर खड, १२२।३८
३. कार्त्तिक मास माहात्म्यम्, १०।३२
४ सेतु-माहात्म्य. ९।५-१४

नकली युद्ध

पद्मपुराण के पाताल खड में कहा गया है कि श्री रामचन्द्र के अयोध्या मे लौटने का समाचार मिलते ही भरत जी ने नागरिको को आनन्द मनाने की आज्ञा दी थी। इस प्रसग में कहा गया है कि उन्होने वीर योद्धाओ को "क्रीडा-युद्ध" दिखाने को कहा था [१]।

प्रहरण-क्रीड़ा

पाणिनि के काल मे मुष्टि-युद्ध तथा डडा आदि चलाने की प्रतियोगिता होती थी। ये भी एक प्रकार के खेल माने जाते थे। मनोविनोद क इन साधनो का नाम महर्षि पाणिनि ने "प्रहरण-क्रीडा" दिया है। "तदस्याम् प्रहरणमिति क्रीडायाम्" [२] सूत्र के अनुसार खेल-खेल मे जिस शस्त्र का उपयोग किया जाय उसके नाम पर खेल का नाम पडता है। इस प्रसग में महाभाष्यकार ने "मौष्टा","दाण्डा" इत्यादि का उदाहरण प्रस्तुत किया है। इन क्रीडाओ में मुष्टि तथा डडे का उपयोग-होने के कारण प्रदर्शन का नाम भी उन आक्रमणात्मक पदार्थों के अनुसार पडा है। दीघ निकाय के ब्रह्मजाल सूत्र में भी "मुट्ठि-युद्ध" तथा "दड-युद्ध" का उल्लेख हुआ है।

विषय को स्पष्ट करने के लिये यहाँ कहने की आवश्यकता है कि "तत्र तेनेदमितिसरूपे" [३] सूत्र को पुष्ट करने के अभिप्राय से सामान्यत जो "केशाकेशि", "कचाकचि", "दण्डादण्डि", "मुशलामुशलि" प्रभृति उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं, उनमें उन उन शस्त्रो के द्वारा युद्ध वा मारपीट करने का आभास मिलता है।

कुशलता का प्रदर्शन

आज कल जैसे साल-दो-साल लिख-पढ लेने के अनन्तर आगे बढने के लिये विद्यार्थियो को परीक्षा में उत्तीर्ण होना अनिवार्य है, उसी प्रकार

---

१ २।६३ २. ४।२।५७ ३ २।२।२७

हमारे देश में प्राचीन काल में विद्या सीखने के बाद विद्यार्थियो की परीक्षा ली जाती थी। इस प्रसग मे यह कहना अप्रासगिक न होगा कि उन दिनो परीक्षा का माहात्म्य इतना अधिक नही था, जितना आधुनिक काल में देखा जाता है। अस्तु। विनय पिटक में कहा गया है कि जीवक ने तक्षशिला में जब चिकित्सा-शास्त्र सीख-पढ लिया तब उसने गुरु जी से घर लौटने की आज्ञा मांगी। परन्तु गुरु जी ने उस समय उसकी परीक्षा लेकर फिर घर लौटने की आज्ञा दी थी [1]। कदाचित् वाद-विवाद का आयोजन कर परीक्षा ली जाती थी [2]।

कालान्तर मे जब कुरु और पाण्डव वशी कुमारो की शस्त्रास्त्र विद्या की शिक्षा समाप्त हो गई, तब गुरु द्रोण ने यथाविधि उनकी परीक्षा लेने की ठानी। यह परीक्षा सब के सामने ली गई थी। इसलिये कुमारों की निपुणता देखने के लिये रगभूमि में भारी भीड लग गई। जनता के बैठने के लिये मच वा दीर्घाएँ नियत की गयी और शासक वर्ग तथा स्त्रियो के अलग-अलग स्थान निश्चित किये गये थे। इनका नाम प्रेक्षागार था। थोडी देर में सारी रगभूमि कुतूहली दर्शको से ठसाठस भर गयी। कही तिल रखने का स्थान भी खाली नही रह गया। जोरो से मारू बाजे बजने लगे। नियत समय पर गुरु द्रोणाचार्य अपने पुत्र अश्वत्थामा के साथ अखाडे में आकर डट गये। मागलिक कृत्यादि कर लेने के बाद कुछ कर्मचारी साज-सामान लेकर वहाँ पहुँच गये। फिर युधिष्ठिर के पीछे-पीछे वय के अनुसार शेष १०८ भाई क्रम से अखाडे में पैठे। सभी की वेश-भूषा एक प्रकार की थी।

कुमारो के वहाँ पहुँचते ही शस्त्रास्त्र चलाने में उनकी कुशलता के प्रदर्शन का आरभ हो गया। प्रारम्भिक दशा में लक्ष्य-वेध करने में चमत्कार दिखाये गये। फिर तीर-कमान के सहारे उन्होने अनेक प्रकार के खेल तमाशे दिखाये। इसके अनन्तर बारी-बारी से उन्होंने घुड-सवारी, रथ-

१ महावग्ग, ८।१..   २ जातक, ३।२३३

थे। वहाँ जब वे लहलहाती श्यामल घास पर लेटे हुए थे और रनिवास की महिलाएँ नृत्य-गीत के द्वारा कुमार का मन बहला रही थी तब मभापिताख्यायी एक ब्राह्मण, कुमार से मिलने आया। उससे बात-चीत हो ही रही थी, कि सौदास कल्माशपाद नामक राज-राक्षस उस बगीचे में आ धमका। उसे देखते ही सभी तीन-तेरह होकर भाग निकले और रग में भग हो गया[१]।

दिव्यावदान का कथन है कि वसन्त-काल में एक दिन सम्राट् अशोक रनिवास की महिलाओ के साथ उद्यान-यात्रा के प्रसग में राजधानी के पूर्व में स्थित एक बगीचे में गये हुए थे। वहाँ लाल रग के फूलो से लदा हुआ एक अशोक का पेड देख कर उनके मन में यह बात उठी कि एक निर्जीव पेड का क्या अधिकार है कि वह मेरे नाम से ससार में परिचित हो? अस्तु। अशोक की त्वचा खुरखुरी होने के कारण स्त्रियाँ उससे दूर भागती थी। दोपहर को जब सम्राट् झपकी ले रहा था, तब उसके प्रति अपना मनोभाव व्यक्त करने की इच्छा से महिलाओ ने अशोक के फूल तोड दिये और नोच-खसोट कर पत्तियाँ बिखरा दी। नीद खुलने पर उस वृक्ष की दुर्दशा देख कर सम्राट् बहुत झुझला उठा और तत्क्षण उन स्त्रियो को जलवा दिया। तभी से सम्राट् का नाम "चडाशोक" पडा[२]।

मार्कण्डेय पुराण से ज्ञात होता है कि वसत काल में एक दिन सपरिवार राजा सुदेव अपने मित्र नल (धूम्राश्व के पुत्र) के साथ मन बहलाने के लिये किसी आम के बगीचे में गये थे। भोजनादि से निवृत्ति के बाद दोनो मित्र तालाब के किनारे टहलने लगे। ऐसे समय नल ने च्यवन ऋषि के पुत्र प्रमति की धर्मपत्नी को देखा। वह उस समय वहाँ पानी भरने आयी हुई थी। कहा जाता है कि उसे देखते ही राजा उसके सौंदर्य पर मोहित हो गया और उस पर बलात्कार किया[३]।

---

१. सुतसोम जातक, पृष्ठ २०९   ३ ११४।२६ ...

२. पृष्ठ ३७३–४

उपर्युक्त घटनाएँ रजवाडो से सबद्ध थी। अभिजात वर्ग के साथ सबद्ध होने के कारण उन उदाहरणो से लोक-जीवन का पता नहीं लगाया जा सकता। रजवाडो से सबधित विषयो मे सामान्यत. उपचार, अनुष्ठान और दिखावट की भरमार होती है। अत उनमे प्राण की फडक कम होती है। जनता जिस रीति से उद्यान-यात्रा की विचित्रता का अनुभव करती थी, उसका सजीव वर्णन वात्स्यायन के कामसूत्र मे हुआ है। "पौ फटते ही सज-धज कर लेने के बाद, नौकर-चाकर और वारनारियो के साथ घोडो पर सवार होकर नागरिको को उद्यान-यात्रा करनी चाहिये। सारा दिन वे वहीं बिता दे। मन बहलाने के लिये मुर्गों, लाव-तितिरो और मेढो की लडाई देख, जुआ खेल और नाटकादि का अभिनय देख अथवा स्त्री-सग करके वे मन बहलावें। फिर सध्या होते ही उद्यान-यात्रा का रहा-सहा चिह्न अपने साथ लेकर वे घर लौटें। उद्यान-यात्रा के प्रसग मे पान-गोष्ठी की बैठक भी की जाय[1]।"

सभवत ऐसे अवसरो पर मनोविनोद के उपर्युक्त साधनो के अतिरिक्त "पाचालानुयान" वा गुडियो का विवाह, "एक शाल्मली"—सेमल के एक ही पेड के फूलो से साज-सिंगार करना, झूले पर झूलना, "कदब-युद्ध" जब उद्यान-यात्री दो दलो में विभक्त होकर खेल-खेल में एक दूसरे को कदब के फूल द्वारा मारने का प्रयत्न करते थे—प्रभृति क्रीडाएँ भी खेलने की रीति थी[2]।

वन-विहार

कदाचित् प्राचीन काल में पुरानी खार मिटाने के अभिप्राय से वन-विहार का बहाना किया जाता था। महाभारत मे वर्णित "घोष-यात्रा" इसी प्रकार की एक घटना थी। कर्ण और शकुनि ने महाराज धृतराष्ट्र को चकमेबाजी से यह समझा दिया कि हम लोग गो-धन की जाँच-पडताल करने तथा शिकार खेलने के लिये द्वैत-वन की यात्रा कर रहे है, किन्तु पाडवो को तग करना ही उनका

१. ४।४।३९-४० २ ४।४।४२

मुख्य उद्देश्य था। राजा की आज्ञा मिलते ही धार्त्त-राष्ट्र, सेना, रनिवास, नागरिक इत्यादि के साथ हस्तिनापुर से निकल पड़े। द्वैतवन में पहुँचने के बाद उन्होने गौ, भैंस, बकरी आदि की देख-भाल की, नये पशु दागे गये, पुरानो का हिसाब-किताब मिलाया गया। वहाँ के ग्वालो ने धूम-धाम के साथ दुर्योधन की आवभगत की। गोपिकाओ ने नृत्य-गीत दिखाया और सुनाया तथा भोजनादि का प्रबंध किया। सिपाही और नागरिक लोग मनमाना शिकार करते फिरते रहे। क्रमश वन और उपवनो को पार कर मडली द्वैत वन में स्थित तालाब की ओर बढ चली। दुर्योधन ने तालाब के किनारे तबू गाडने की आज्ञा दी। दुर्भाग्यवश उस समय उसी भूभाग में पाडव लोग भी डेरा डाले हुये थे। फिर उसी समय गधर्व-राज चित्रसेन अप्सराओ के साथ उस पोखरे मे जलक्रीडा कर रहे थे। दुर्योधन के सेवको ने जब बलात् उनको वहाँ से खदेडना चाहा, तब लडाई छिड गयी। युद्ध में दुर्योधन, कर्ण, शकुनि आदि प्रमुख बडे-बडे वीरो की हार हुई। अन्तत गधर्वराज, दुर्योधन और उसके रनिवास की महिलाओ को बन्दी बना कर उठा ले ही जाना चाहता था, तब युधिष्ठिर के आग्रह करने से भीम और अर्जुन ने उसे रोका। फिर लडाई छिडी। किन्तु इस बार गधर्वराज को नीचा देखना पडा। तब दुर्योधन आदि को मुक्ति मिली[1]। अश्वघोष के बुद्ध चरित मे कुमार शाक्य सिंह के नगर परिदर्शन का नाम विहार-यात्रा दिया गया है[2]। आगेचलकर भिक्षु श्रमण के साथ भेंट होने से पहले, राजकुमार वन-विहार को गये हुए थे। वहाँ हलवाहो को बैलो के साथ निर्दयता का बर्त्ताव करते तथा हल के फाल की रगड से अनगिनत जीवो का नाश होते देख उनका हृदय पसीज गया[3]। अन्त में महानिष्क्रमण के अनन्तर कवि कहते हैं कि कुमार के वियोग से दुखी होकर नागरिको ने जब कपिलवस्तु के उपवनो में जाना छोड दिया, तब वे जगल जैसे लगने लगे[4]।

---

१. ३।२३७ २ ३।३ ३ ५।२।१७ ४ ८।६

बाल्यावस्था में कुरु-पाडवो ने जिस ढग से गगा नदी में जल-विहार किया था, उसका विशद वर्णन महाभारत में हुआ है। उसी प्रकार हरिवश में जिस रीति से उत्तर काल में वलराम, श्रीकृष्ण प्रमुख यादवो ने समुद्र में जल-क्रीडा की थी उसका ब्यौरा दिया गया है। यहाँ यह कहना अप्रासगिक न होगा कि द्वारका-निवासी यादव लोग मन बहलाने के लिये प्राय समुद्र में जल-केलि किया करते थे।

हरिवश का कथन है कि एक वार यदु सपरिवार समुद्र मे जल-केलि कर आनन्द उठा रहा था। ऐसी दशा मे अचानक नाग-राज वलात् यदु को लेकर हवा हो गया[1]। देवी सत्यभामा के वारे में कहा गया है कि वह वात-वात में कृष्ण भगवान को समुद्र मे जलकेलि से सबद्ध घटनाओ की याद दिलाती रही[2]।

इनके अतिरिक्त पिंडारक तीर्थ के समीप वलराम जी, श्रीकृष्ण तथा प्रमुख वृष्णियो ने जिस रीति से समुद्र में जल-क्रीडा की थी, उसका विशद विवरण उक्त ग्रंथ में पाया जाता है। वलराम जी अकेली रेवती देवी के साथ जल केलि कर रहे थे, प्रत्युत कामजयी श्रीकृष्ण अकेले १६,००० स्त्रियो का मन रखकर चलते थे। इसमें विशिष्टता यह थी कि एक-एक महिला उस समय यह सोचती थी कि भगवान उससे अधिक और किसी को नही चाहते। जलकेलि करने में मस्त स्त्रियो की अग-भगिमा और हाव-भाव भी अनुपम थे। सभी का ध्यान भगवान पर केन्द्रित था। कोई उन्हें छाती से लगाती, कोई उन पर पानी छिडकती और कुछ उनके चारो ओर तैरती फिरती थी। जल-क्रीडा के प्रसग में जल-यन्त्र वा पिचकारी का उपयोग होता था तथा जल-युद्ध करने की भी रीति थी। पुन कुछ लोग नावो की सैर कर मौज करते थे। अभिजात वर्ग के कुछ यादव थोडी दूर पर जल-केलि कर रहे थे। उनके साथ भी महिलाए थी। वे नृत्य-गीत कर रही थी। यह देखकर भगवान ने पच-चूडा, कनवेरी,

---

१ २।३७।५१ २. २।६७।२१

महेन्द्री प्रमुख अप्सराओं को बुला लिया। उन्होंने जल से सबद्ध अद्भुत-अद्भुत क्रीड़ा-कौतुक दिखा कर दर्शकों के हृदय में भिन्न-भिन्न रसों की सृष्टि की। जल-क्रीडा समाप्त हो जाने पर यादव लोग वस्त्र-आभूषण आदि पहन कर पान-भूमि को सिधारे। वहाँ जी भर पान-भोजन कर लेने के अनन्तर सभी सामूहिक नृत्य-गीत में सम्मिलित हुए[1]।

वात्स्यायन ने भी कामसूत्र में गर्मी के दिनों उद्यान-यात्रा के प्रसंग में जलक्रीड़ा की प्रथा का उल्लेख किया है। ऐसे अवसरों पर जल-केलि सामान्यतः पोखरे या तालाब में की जाती थी। ऐसे पोखरों में से नुकसान पहुँचाने वाले जल-जंतु पहले ही निकाल लिये जाते थे[2]।

पद्मपुराण के पाताल खंड में शंकर भगवान और विष्णु ने जिस रीति से गौतमाश्रम के समीप एक तालाब में जल-क्रीड़ा की थी, उसका विशद वर्णन हुआ है। शिव-भक्त शंकरात्मा महर्षि गौतम का चेला था। उसकी रहन-सहन और चाल-ढाल कुछ विचित्र-सी थी। कुछ लोग उसे पागल ठहरा कर चिढ़ाते भी थे। एक दिन दैत्यराज वृषपर्वन् के समक्ष कुछ बेढंगापन करने के कारण राजा ने उसका वध करवा दिया। मारे शोक के गौतम, शुक्राचार्य, प्रह्लाद प्रमुख महापुरुषों ने भी प्राणत्याग किये। इससे स्वर्ग में बड़ी सनसनी फैल गयी। ब्रह्मा, विष्णु, महेश प्रमुख कुल देवता गौतमाश्रम में एकत्र हो गये। देवताओं की कृपा से सभी फिर से जी गये। निदान अहल्या देवी और गौतम के बार-बार कहने से सभी ने आश्रम में भोजन करना स्वीकार किया। भोजन करने के पहले महेश, विष्णु प्रमुख देवता, दैत्य और ऋषि-मुनि आश्रम के समीप एक तालाब में स्नान करने गये थे। इस समय विष्णु और शंकर ने जिस रीति से जल-क्रीड़ा की थी, उपर्युक्त पुराण में उसका विशद वर्णन हुआ है। नीचे उसी का सारांश दिया जा रहा है।

तालाब में उतरते ही देवता, मुनि और दैत्य लोगों ने एक दूसरे पर

---

१. ७।८८ २. ३।५।४१

बाल्यावस्था में कुरु-पाडवो ने जिस ढग से गगा नदी में जल-विहार किया था, उसका विशद वर्णन महाभारत में हुआ है। उसी प्रकार हरिवश में जिस रीति से उत्तर काल में बलराम, श्रीकृष्ण प्रमुख यादवो ने समुद्र में जल-क्रीडा की थी उसका ब्यौरा दिया गया है। यहाँ यह कहना अप्रासगिक न होगा कि द्वारका-निवासी यादव लोग मन बहलाने के लिये प्राय समुद्र मे जल-केलि किया करते थे।

हरिवश का कथन है कि एक बार यदु सपरिवार समुद्र में जल-केलि कर आनन्द उठा रहा था। ऐसी दशा मे अचानक नाग-राज बलात् यदु को लेकर हवा हो गया[1]। देवी सत्यभामा के बारे में कहा गया है कि वह बात-बात में कृष्ण भगवान को समुद्र में जलकेलि से सबद्ध घटनाओ की याद दिलाती रही[2]।

इनके अतिरिक्त पिडारक तीर्थ के समीप बलराम जी, श्रीकृष्ण तथा प्रमुख वृष्णियो ने जिस रीति से समुद्र में जल-क्रीडा की थी, उसका विशद विवरण उक्त ग्रथ में पाया जाता है। बलराम जी अकेली रेवती देवी के साथ जल केलि कर रहे थे, प्रत्युत कामजयी श्रीकृष्ण अकेले १६,००० स्त्रियो का मन रखकर चलते थे। इसमें विशिष्टता यह थी कि एक-एक महिला उस समय यह सोचती थी कि भगवान उससे अधिक और किसी को नही चाहते। जलकेलि करने में मस्त स्त्रियो की अग-भगिमा और हाव-भाव भी अनुपम थे। सभी का ध्यान भगवान पर केन्द्रित था। कोई उन्हें छाती से लगाती, कोई उन पर पानी छिडकती और कुछ उनके चारो ओर तैरती फिरती थी। जल-क्रीडा के प्रसग में जल-यत्र या पिचकारी का उपयोग होता था तथा जल-युद्ध करने की भी रीति थी। पुन: कुछ लोग नावो की सैर कर मौज करते थे। अभिजात वर्ग के कुछ यादव थोडी दूर पर जल-केलि कर रहे थे। उनके साथ भी महिलाए थीं। वे नृत्य-गीत कर रही थी। यह देखकर भगवान ने पच-चूडा, कनबेरी,

---

१ २।३७।५१　　२. २।६७।२१

माहेन्द्री प्रमुख अप्सराओ को बुला लिया। उन्होने जल से सबद्ध अद्भुत-अद्भुत क्रीडा-कौतुक दिखा कर दर्शको के हृदय में भिन्न-भिन्न रसो की सृष्टि की। जल-क्रीडा समाप्त हो जाने पर यादव लोग वस्त्र-आभूषण आदि पहन कर पान-भूमि को सिधारे। वहाँ जी भर पान-भोजन कर लेने के अनन्तर सभी सामूहिक नृत्य-गीत में सम्मिलित हुए[1]।

वात्स्यायन ने भी कामसूत्र में गर्मी के दिनो उद्यान-यात्रा के प्रसग में जलक्रीडा की प्रथा का उल्लेख किया है। ऐसे अवसरो पर जल-केलि सामान्यत पोखरे या तालाब में की जाती थी। ऐसे पोखरो मे से नुकसान पहुँचाने वाले जल-जतु पहल ही निकाल लिये जाते थे[2]।

पद्मपुराण के पाताल खड में शकर भगवान और विष्णु ने जिस रीति से गौतमाश्रम के समीप एक तालाव में जल-क्रीडा की थी, उसका विशद वर्णन हुआ है। शिव-भक्त शकरात्मा महर्षि गौतम का चेला था। उसकी रहन-सहन और चाल-ढाल कुछ विचित्र-सी थी। कुछ लोग उसे पागल ठहरा कर चिढाते भी थे। एक दिन दैत्यराज वृषपर्वन् के समक्ष कुछ बेढगापन करने के कारण राजा ने उसका वध करवा दिया। मारे शोक के गौतम, शुक्राचार्य, प्रहलाद प्रमख महापुरुषो ने भी प्राणत्याग किये। इससे स्वर्ग में बडी सनसनी फैल गयी। ब्रह्मा, विष्णु, महेश प्रमुख कुल देवता गौतमाश्रम में एकत्र हो गये। देवताओ की कृपा से सभी फिर से जी गये। निदान अहल्या देवी और गौतम के बार-बार कहने से सभी ने आश्रम में भोजन करना स्वीकार किया। भोजन करने के पहले महेश, विष्णु प्रमुख देवता, दैत्य और ऋषि-मुनि आश्रम के समीप एक तालाव में स्नान करने गये थे। इस समय विष्णु और शकर ने जिस रीति-से जल-क्रीडा की थी, उपर्युक्त पुराण मे उसका विशद वर्णन हुआ है। नीचे उसी का साराश दिया जा रहा है।

तालाब में उतरते ही देवता, मुनि और दैत्य लोगो ने एक दूसरे पर

---

१. २।८८ २ १।४।४१

जुए में सभी कुछ खोकर अज्ञातवास करने के अभिप्राय से द्रौपदी के साथ पाँचो पाण्डव जव वेश वदल कर विराट नगर मे पहुचे तव वहाँ रहते समय कौन किस काम को अपनावेगा, इस विपय पर वे विचार-विमर्श करने लगे। प्रसगत यधिष्ठिर कहते है कि मै अपने को अक्ष-क्रीडा का विशेपज्ञ वताते हुए राजा का सभासद् वनूगा। आगे चल कर युधिष्ठिर जो कुछ कहते हैं उससे विदित होता है कि उन दिनो पासे हाथी दाँत के वनते थे, गोटियाँ लाल, सफेद, हरे और पीले रग की होती थी तथा लकडी की वनी हुई पटरी होती थी जिस पर वहुत-से खाने वने होते थ, पासे लुढकाए जाते और दाँव के अनुसार गोटियाँ हटाई-वढाई जाती थी । सक्षेप में खेल वहुधा आधुनिक काल की चौसर या चौपड से मिलता-जुलता था।

वस्तुत अक्ष-क्रीडा की लोकप्रियता इतनी अविक थी कि हरिवश का कथन है कि मनवहलाव के लिए यादव महिलाएँ तक चौसर खेलती थी[1] । उसी ग्रथ में गोल-क्रीडा नाम के एक खेल का उल्लेख हुआ है[2] । कहा गया है कि सुधर्मा सभा में सात्यकि प्रमुख राजकमारो के साथ कृष्ण भगवान यह खेल खेल रहे थे। टीकाकार का कथन है कि "गोल-क्रीडा" एक प्रकार का जुआ है जिसमें गोलाकार पासो का उपयोग होता था।

मनोरजन के लोकप्रिय साधन होते हुए भी मनु भगवान् ने द्यूत-क्रीडा की वडी निंदा की है । उनका निर्देश है कि कितव वा अक्ष-धूर्त[3] और जुआरी[4] यदि जाति का ब्राह्मण हो तो उसे श्राद्ध के अवसर पर निमन्त्रित न किया जाय। आगे चल कर उन्होने दो प्रकार के जुए की चर्चा की है--द्यूत समाह्वय और अचेतन पदार्थ द्वारा जो जुआ खेला जाय उसका नाम उन्होने द्यूत रखा है तथा पशु-युद्ध आदि करके जो जुआ

---

१. २।१२८।९
२. ३।१११।३-४
३ ३।१५९
४. ३।१६०

खेला जाय उसका नाम समाह्वय दिया है[1] । याज्ञवल्क्य ने इसका नाम प्राणि-द्यूत दिया है[2] ।

कौटिल्य ने जुए पर राष्ट्र का नियन्त्रण लगा रखा है। उसका निर्देश है कि द्यूत-क्रीडा की देख-भाल करने के लिए अलग एक निरीक्षक हो। सामान्यत इस कर्मचारी को लोग "सभिक" कहते थे। सरकारी द्यूत-शालाओ में ही जुआ खेला जाय। अन्यत्र खेलने वालो पर जुर्माना किया जाय। अध्यक्ष वा सभिक नाममात्र किराया लेकर पासे आदि मुहैया करे। उसी प्रकार पानी प्रभृति देने और सभागृह में खेलने की आज्ञा देने के लिए वह थोडा-सा शुल्क ले। फिर विजयी से वह पाँच रुपए सैकडा वसूल करे। साथ ही खेलते समय जो बिक्री-बट्टा हो वा रकम आदि बधक रखी जायऐसी कार्यवाहियो पर भी वह दृष्टि रखे। घोखेवाज धूर्तों पर जुर्माना किया जाय[3] ।

याज्ञवल्क्य भी द्यूताध्यक्ष व सभिक को प्रभूत क्षमता देने का पक्ष-पाती था। उसका निर्देश है कि जब बाजी का परिमाण सौ से कम हो तब सभिक बीसवाँ भाग राज-कर के रूप में ले और जब जीत की रकम सौ से ऊपर हो तब वह दसवाँ भाग वसूल करे। हारनेवाले से रुपया उगाह कर वह विजयी को दिलावे। धोखेबाज धूर्त और जो मन्त्र और ओषधि के सहारे बाजी मार ले जाने की चेष्टा करें, ऐसे दुष्टो का राजा देश-निकाला करवा दें[4]। यहाँ उल्लेख योग्य विषय यह है कि अग्निपुराण में दिए हुए नियमादि बहुधा याज्ञवल्क्य पर आधारित है[5] ।

ऊपर के वर्णन से यही प्रमाणित होता है कि सभिक भी राष्ट्र का एक कर्मचारी होता था तथा हारे हुए जुआरी पूर्णतया उसके वश में हो जाते थे। जीतने वालो को जीत की रकम दिलाने के लिए कभी-कभी

---

१. ९।२२३ ३. अर्थशास्त्र, अध्याय २० ५ २५७।४९-५३
२ २।२०६ ४ धर्मशास्त्र, २।२०२ .

हारने वालो पर दवाव भी डालना पडता था। इस दृष्टिकोण से विचार करने से भास के चारुदत्त और शूद्रक के मृच्छकटिक नाटक के सभिक की डाँट-फटकार और कार्यवाही बिलकुल स्वाभाविक मालूम होती है। प्रत्युत प्राचीनकाल के सभिको के कर्तव्यो से जिनका परिचय नही उनको उसकी यह वात खटकने लगती है।

वात्स्यायन ने नागरक को अपने यहाँ आकर्ष-फलक और द्यूत-फलक दोनो रखने का निर्देश दिया है[1]।

पद्मपुराण के *पातालखड में द्यूत-क्रीडा की व्यापकता और लोक*-प्रियता के निर्देशन स्वरूप कुछ किस्से-कहानियाँ देखने में आती है। भगवान रामचन्द्र जी के एक भेदिए ने किसी घर में पति-पत्नी को हँसी-हँसी में जुआ खलते पाया था। इस प्रसग में कहा गया ह कि पासे लुढ-काए जाते थे[2]। पुन उसी खड मे कहा गया है कि श्रीकृष्ण और देवी राधा हँसी-हँसी में अक्ष-क्रीडा कर रही थी। इस खेल में पहनावे गहने चुम्बन और आलिगन वाजी रखे गए थे। कृष्ण भगवान की हार होने पर भी वे "मेरी जीत हुई" कह कर चिल्ला उठते और कपडे गहने आदि वलात् अपनाने का यत्न करते। इस पर रूठ कर राधा उन्हे मारने दौडती[3]।

उसी पुराण के उत्तरखड का कहना है कि नरमास-भोजी एक राक्षस के शरीर पर तीर्थ-जल के छीटे पडते ही उसे पूर्व जन्म की कुल घटनाओ का स्मरण होने लगा। धीरे-धीरे वह कहने लगा कि मेरा जन्म वेदाध्यायी, पवित्र ब्राह्मण घराने में हुआ था। किंतु मै वडा दुराचारी निकला। जुआ खेल कर मैने पिता का वहुत-सा घन फूक दिया। अप्रसन्न होकर पिता ने राजदरवार में मेरी शिकायत की। इस पर राजा ने मेरा देश-निकाला करवा दिया[4]।

---

१ कामसूत्र, १।४।१२ ३ ५२।७१-७३

२. ३१।५८।६४ ४ २०४।८७-८९

रघुवश मे कालिदास ने इन्दुमती की स्वयवर-सभा का वर्णन करते हुए कहा है कि कुछ राजा समय काटने के लिए रत्न-जडित अगूठियो की प्रभा से जगमगाते हुए पासे लुढका रहे थे[1] ।

दशकुमार-चरित में द्यूत-क्रीडा के २५ अगो का उल्लेख हुआ है—हस्त-कौशल, वक्रोक्ति आदि, खेलने की परिपाटी, वाद-विवाद, वल-प्रयोग, दम-पट्टी, शक्तिमानो की चापलूसी और दुर्वलो को धमकी देना, साझेदार चुनने में कुशलता, लालच वढ़ाना, नाना प्रकार की वाजी लगाना, जीत की रकम का विभाजन इत्यादि। साथ ही जुआ खेलने की अच्छाइयो का भी वर्णन हुआ है। कहा गया है कि खिलाडी जीत होने से अत्यधिक आनदित नही होते तथा हारने से हिम्मत नही हारते; यह क्रीडा खिलाडी को हठ-धर्मी वनाती है जो मनुष्यता का आवार है; दूसरे खिलाडियो की दमवाजी तथा हस्त-कौशल का निरीक्षण करने से वुद्धि का विकास होता है इत्यादि[2] ।

फिर विहार भद्र प्रसगत अवन्ति वर्मा को समझा रहा है कि जुआ खेलने से ध्यान केन्द्रित होता है, तन्मयता आती है, हियाव वढता है और आत्म-विश्वास की भावना उभरती है[3] ।

द्यूत-क्रीडा का जो विस्तृत व्यौरा ऊपर दिया गया है उससे यही प्रतिपन्न होता है कि—

(अ) पहले की तरह इस काल में द्यूत-क्रीडा की व्यापकता तथा लोक-प्रियता वनी रही,

(आ) जैसे जैसे समय वीतता गया, वैसे-वैसे भिन्न-भिन्न प्रकार की द्यूत-क्रीडाओ का आविष्कार होता गया—जैसे सुहृद्-द्यूत, प्राणीद्यूत, वा समाह्वय, युद्ध-द्यूत, गोल क्रीडा प्रभृति;

(३) खेलने की परिपाटी वहुधा आवुनिक काल की चौसर जैसी थी,

---

१ ६।१८ २ २।२ ३. २।८

(ई) सभिक का उत्तरदायित्व भारी था, इसलिये कभी-कभी उसे हारे हुए जुआरियो से रुखाई का बर्ताव करना पडता था,

(उ) जीत की रकम का थोडा भाग राष्ट्र को मिलता था।

इन्द्रजाल वा जादू

हमारे देश मे दीर्घकाल से जादू वा इन्द्रजाल का कार्यत उपयोग राजनीति के क्षेत्र में शत्रु को चकमा देने या युद्ध जीतने के अभिप्राय से तथा मनोरजन के साधन के रूप मे होता आया है। वैदिक साहित्य में जादू का नाम "माया" मिलता है। "माया" शब्द का सरल अर्थ भ्रम वा भ्रान्ति है। दूसरे शब्दो मे माया का अर्थ वास्तव में जिस वस्तु का अस्तित्व नही, जो सर्वथा मिथ्या है, उसी को स्थितिशील और सच मान लेने का है। अत मूलत औरो की आंखो मे धूल झोकने के लिये माया की रचना की जाती है।

सभवत आदिम काल में अनार्य जन-जातियां इस विद्या मे बहुत बढी-चढी थी। ऋग्वेद मे "मायावान्" दस्यु[१] "मायिन" शत्रु[२] मृग-रूपी "मायावी" वृत्र[३], "मायावी" शुष्ण[३] प्रभृति का यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है। राक्षसो के बारे मे कहा गया है कि रात को वे पक्षी बनकर उडते फिरते थे तो कभी उल्लू बनकर इधर-उधर रमते फिरते थे[५]।

परन्तु अनार्य शत्रुओ की बहुत दिनो नही चली। क्रमश आर्यों ने भी इस विद्या को अपनाया और युद्ध-विग्रहो के छिडने पर वे इसका कार्यत उपयोग करने लगे। इन्द्र भगवान की प्रशसा करते हुए ऋग्वेद मे कहा गया है कि उन्होने माया की रचना कर मायावी शुष्ण का वध किया था[६]। और भी कहा गया है कि उन्होने माया का उपयोग कर १५ हजार दासो का काम तमाम किया[७]। इत्यादि।

---

१ ४।१६।९ ३ १।८०।७ ५ ७।१०४।१७-१८ ७ ४।३०।२१
२ १।३९।२ ४ १।११।७ ६ १।११।७

ऊपर कहा जा चुका है कि रणक्षेत्र मे माया का उपयोग करने के अतिरिक्त वैदिक-काल में मनोरजन के साधन के रूप मे भी कदाचित् उसका उपयोग होता था। ऐसे जादूगर जो माया की सृष्टि कर दर्शको को भ्रम मे डालते थे, ऋग्वेद मे उनका नाम "यातुवान" पडा है[१]। अवेस्ता में इन्ही का नाम "यातुमान" पडा है।

कालान्तर मे जादू-टोने इत्यादि का प्रभाव बहुत बढ गया। इसका प्रमाण अथर्ववेद, सामविधान ब्राह्मण सरीखे ग्रथो मे बहुतायत से मिलता है।

रामायण का कहना है कि शत्रुओ की आंखो मे धूल झोंकने के लिए राक्षस लोग प्राय माया का उपयोग सफलता के साथ किया करते थे। शूर्पनखा के बारे मे कहा गया है कि कुरूपा राक्षसी होते हुए भी अनिद्यरूपा नवयुवती बनकर उसने बारी-बारी से राम और लक्ष्मण के प्रति अपना प्रेम जतलाया था[२]। मारीच ने स्वर्ण-मृग बन कर सीता जी को ललचाया था[३]। युद्ध-क्षेत्र में मेघनाद ने साडम्बर माया सीता का वध किया था[४]।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे माया वा जादू के राजनैतिक उपयोगो के बहुत-से उदाहरण पाये जाते हैं। कौटिल्य ने जादू का नाम "जभकविद्या" दिया है[५]। मत्रो से पता चलता है कि वैरोचन बलि, अनेकानेक मायाओ का रचने वाला शम्बर, निकुभ, नरक, कुभ महासुर, ततुकच्छ आदि दस्यु, असुर और दैत्य इस विद्या के अधिष्ठाता देवता हो गये हैं[६]। दुर्गलम्भोपाय प्रकरण मे कहा गया है कि शत्रु को भीत करने के लिये झूठी खबर उडा देनी चाहिए कि आततायी सर्वज्ञ है तथा देवताओ से भी उसकी जान-पहचान है। इस प्रसग मे कहा गया है कि नदी वा पोखरे के पानी पर तैरते हुए समुद्र के फेन पर तेल डालकर अग्निमाला

---

१ १।३५।१० ३ ३।४२।१५ ५ पृष्ठ ३९५
२ ३।१७।९-११ ४ ६।८१ ६ पृष्ठ ४२१

का प्रदर्शन किया जा सकता है, अथवा ऐसे-ऐसे चमत्कार भी दिखाये जा सकते है, जिन्हें जादूगर लोग रात को पानी में उतरकर सामान्यत दिखाते हैं। कहा गया है कि इस प्रकार के खेल दिखाते समय वे पानी में रहने वाले जतुओ की आँत और गर्भाशय से अपना सिर और नाक ढक लेते और हिरण की अँतडी तथा मगर, केकडे, सूस आदि का रक्त उवाल कर वनाया हुआ शतपाक तेल नाक में लगा लेते है। प्रदर्शन करते समय वे नाग-कन्या और वरुण कन्याओ के साथ वार्त्तालाप करते और क्रोधित होने पर मुह से राशि-राशि धूआँ निकालते थे[1]।

शासको को वहकाकर वदी वनाने अथवा उनकी हत्या करने तथा राजा के मत्री और अमात्य आदि को फोडने के लिये कौटिल्य ने जम्भक विद्या में पारदर्शी भेदियो से काम लेने का सुझाव दिया है[2]।

नाग-देवता का वेश वना कर और शरीर पर तेजन तेल मलकर (जिससे अधेरी रात में वह जगमगाता रहे) भेदिये बीच नदी या तालाव में खडे होकर तलवार लपलपाते हुए निरन्तर चिल्लाते रहे। मैं राज-मास या अमात्य-मास का भोजन करने पर तुला हुआ हूँ!"

रीछ की खाल ओढ कर और मुह से अनवरत धुआँ निकालते हुए भेदिये भूत वनते थे। सरल विश्वासी जनता में त्रास फैलाने के उद्देश्य से देवताओ की मूर्ति पर तेल और अवरक पोत दिया जाता था। इससे आग लगा देने पर भी मूर्तियाँ जलने नही पाती थी[3]।

अर्थशास्त्र के अन्तिम अधिकरण में कौटिल्य ने वहुत से नुस्खे दिये हैं। नीचे इन्द्रजाल से सवधित कुछ ऐसे नुस्खे दिये जाते हैं। परन्तु कठिनाई यह है कि इसमे वहुत-से ऐसे पेड-पौधो के नाम आये हैं जिनसे हमारा परिचय नही।

जुगनू के चूर के साथ कडआ तेल मिलाने से रात को वह चमकता रहता है।

---

१ पृष्ठ ३९५ २ पृष्ठ ३९७ ३ पृष्ठ ३९८

जुगनू के चूर के साथ केंचुए का चूर मिलाकर तेजन चूर्ण बनाया जाता है।

परिभद्रक की छाल का कोयला और मेढक का रक्त शरीर पर पोतने से वह जलता नही। उसी प्रकार शरीर पर मेढक का रक्त पोतने से वह जलता नही।

परिभद्रक की जड, प्रतिवला, वजुल, वज्र, केला और मेढक का खून एक साथ पीस कर उससे तेल निकाला जाता था। पैरो मे वही तेल लगाकर आग पर चलने से पैर नही जलता।

उल्कापात दिखाने के लिये हस, करांकुल, मोर जैसी वडी चिडियो की दुम मे जलता हुआ एक सरकडा बांध देने की रीति थी।

मुह से अनवरत धुएँ की राशि निकालने के लिये मुह में पीलू की गोली या अलसी की जड तथा रुई और तागे से लपेटकर आग रख ली जाती थी।

समुद्र के फेन में तेल छोड कर जला देने से वह पानी में भी जलता रहता है। उसी प्रकार बन्दर की हड्डी और चितकबरे रग का बांस घिसकर जो आग निकाली जाती है, वह आग पानी में भी नही बुझती।

ऊँट के चमडे के बने हुए जूते पर उल्लू और गिद्ध का खून लगाकर उन्हें पीपल की पत्तियो से लपेट देना चाहिए। ऐसे जूतो का उपयोग करने से निरन्तर ५० योजन चलने पर भी थकावट नही मालूम पडती[1]।

यहाँ लक्ष्य करने का विषय यह है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पता चलता है कि जादूगरो के रचित तथाकथित चमत्कारो को देखकर दर्शक लोग कितने ही मोहित क्यो न हो जावें, उनकी छान-बीन करने से मालूम होता है कि वे सवके-सव द्रव्यगुण पर आश्रित थे तथा उनका मुख्य अभिप्राय सरल-विश्वासी जनता-जनार्दन की आँखो में धूल झोंकना होता था।

---

१. पृष्ठ ४१६

प्राचीन पुराणो में "माया" नाम की कई अजीब घटनाओ का वर्णन हुआ है। इनका उपयोग वहुधा वैयक्तिक विषयो के अतिरिक्त युद्ध-क्षेत्रो में भी होता रहा। ये अधिकतर मत्र-शक्ति पर निर्भर थी।

संवरोदिता आसुरी माया

मार्कण्डेय-पुराण में सती मदालसा के उपाख्यान में कहा गया है कि पुरानी खार मिटाने की नीयत से पतालकेतु के भाई तालकेत ने राज-कुमार ऋतध्वज को अपने तथाकथित "तपोवन" की रखवाली करने का भार सौंप दिया और स्वय कुमार का हार दिखा कर राज-दरवार में उसने झूठी खवर उडा दी कि दैत्यो ने कुमार का वध कर दिया है। इस समाचार को सुनते ही देवी मदालसा सती हो गयी। नागराज अश्वतर के दोनो पुत्र कुमार ऋतध्वज के परम मित्र थे। उनके वार-वार कहने से नागराज ने शिव भगवान को सतुष्ट कर अपने कान से एक वनावटी मदा-लसा की सृष्टि की। उसी नकली मदालसा को नागराज ने कुछ मत्रादि पाठ कर कुमार के सामने उपस्थित किया। मदालसा को देखते ही ऋतध्वज उसको छाती से लगाने के लिये लपका। यह देखते ही नागराज ने उसे रोकते हुए कहा—बेटा, यह माया है। छूते ही माया की पुतली गुम हो जाती है। यह सुनते ही कुमार वेसुध होकर गिर पडा। होश होने पर नागराज ने जिस रीति से मदालसा को पुनर्जीवित किया था, सवि-स्तार उसका व्यौरा कह सुनाया। इसके उपरान्त देवी के साथ कुमार घर सिधारे[१]।

दिव्यावदान का कहना है कि जैसे-जैसे दिन वीतने गये, वैसे-वैसे वोधि-द्रुम के प्रति सम्राट् अशोक की भक्ति और श्रद्धा वढती गयी। प्रति दिन झीने वस्त्र, वहुमूल्य गहने और अनमोल रत्नादि चढाकर वह उस का पूजन करने लगा। यह सव आडम्वर देखकर महारानी तिष्यरक्षिता मन ही मन सोचती रही कि सम्राट् का मन अव मुझ से हट गया है।

---

१ अध्याय२२ .

अब वह बोधि नाम की किसी ललना के प्रेम में फँस गये हैं। ये सब भेंट प्रति दिन उसी के यहाँ भेजी जाती हैं। अत उसने सौत का जड़ से नाश करने का निश्चय किया। इस काम को पूरा करने के लिये उसने मातगी नाम की नीच कुल की किसी स्त्री को लगाया। वह नामी मायाविनी थी। मत्र जपकर और बोधिद्रुम के चारो ओर रगीन सुतली बाँध कर एक सप्ताह के अन्दर उसने उस पेड को सुखा डाला। यह दृश्य देखकर राजा का हृदय टुकडे-टुकडे हो गया। उस पेड को फिर से जिलाने के लिये सम्राट् ने बडे-बडे उपाय किये। किन्तु सब बेकाम सिद्ध हुए। निदान सम्राट् की दुर्दशा देखकर तिष्यरक्षिता पछताने लगी। इसी समय अशोक ने उसके मन से भ्रात धारणा दूर कर दी। तब महारानी के कहने से मातगी ने फिर से उस पेड को जिला दिया[1]।

पद्मपुराण के भूमिखड में द्वारका-वासी शिव शर्मा नाम के एक ब्राह्मण की कृतियो का विशद वर्णन हुआ है। कहा गया है कि पुत्रो की पितृ-भक्ति की सीमा परखने के अभिप्राय से उस ब्राह्मण ने अपनी धर्म-पत्नी को ज्वर रोग से मृत्यु सघटित कर दी। तब उसने ज्येष्ठ पुत्र से कहा कि अपनी माँ के शव की बोटियाँ कर इधर-उधर बिखेर दो। पितृ-भक्त पुत्र ने वैसा ही किया। आगे उसने भोग के लिये अपने निमित्त एक माया कन्या को लाने के लिये मझले बेटे को भेजा। अपना माथा काट कर वह उस रमणी को मनाकर उसे अपने पिता के पास लाया। निदान अमृत लाने के लिये ब्राह्मण ने चौथे पुत्र को स्वर्ग रवाना किया। नाना प्रलोभनो के होते हुए भी वह अमृत लेकर वापस आया। अन्त मे बेटो के आग्रह करने से शिव शर्मा ने धर्म-पत्नी को फिर से जिला दिया। तब सस्त्रीक कोढी बनकर ब्राह्मण अपने कनिष्ठ पुत्र के समक्ष पहुच गया। पितृ-भक्त पुत्र ने अपने भरसक उनकी सेवा की। मरने पर उस महा-पुरुष ने प्रह्लाद बनकर हिरण्यकशिपु के घर जन्म लिया था[2]।

---

१ पृष्ठ ३९७   २ ११५ .

जालन्धरी विद्या

उसी पुराण के पाताल-खड में कहा गया है कि महर्षि वाल्मीकि ने लव और कुश को शस्त्रास्त्र सबधी नाना विद्याओ के अतिरिक्त गाधर्व-विद्या तथा जालन्धरी विद्या भी सिखायी थी। इस विद्या का विशद वर्णन पुराणो में कही नही हुआ है। किन्तु अनुमान करना असगत न होगा कि कदाचित् इसका सबध इन्द्रजाल से रहा हो[1]।

इन्द्रजाल-विद्या

पद्मपुराण के क्रियायोगसार खड का कहना है कि इस विद्या के प्रभाव से राजकुमारी सुलोचना पुरुष बन कर राजा सूषेण के दरबार में पहुच गई तथा औरो के साध्यातीत कामो को कर दिखाने वाला कह कर अपना परिचय दिया। उन दिनो सुलोचना ने अपना नाम वीरवर रख लिया था। इस दशा में उसने महाकाय एक गैंडे को मार कर राज-कुमारी जयन्ती देवी के साथ विवाह तक कर लिया था[2]।

सप्तमी माया और अष्टमी माया

विष्णु-पुराण में कहा गया है कि युद्ध करते समय प्रद्युम्न ने दैत्यराज शम्बर के द्वारा प्रयुक्त "सप्तमी माया" को "अष्टमी माया" से विलकुल अभिभूत कर दिया[3]।

तामसी माया

स्कदपुराण के अवन्ती-खड में कहा गया है कि इस माया के प्रभाव से सारा ससार गाढे अधकार से छा दिया जा सकता है। ऋषि पराशर ने मत्स्यगधा से ससर्ग करने के पहले समग्र द्वीप को गाढे अधकार से छा दिया था[4]।

पुन उसी पुराण के प्रभास-खड में कहा गया है कि रुरु दैत्य जब देवी जी के साथ लड रहा था, तब उसने इस माया का उपयोग किया

---

१. ३७।१३ ३ ५।२७।१८ ४ रेवाखड, ९७।१३ . ;
२ ५।२१४ महाभा०, १।६३।७३

था। किंतु देवी जी के आगे उसकी एक न चली। अतत देवी जी ने रुरु को हरा कर समुद्र मे ढकेल दिया[१]।

गान्धर्वी माया

स्कन्दपुराण के कार्त्तिक-मास-माहात्म्य खड में कहा गया है कि शिव भगवान जब जलधर दैत्य के साथ लड रहे थे, तब भगवान को वश में करने के लिए दैत्य-राज ने इस माया का उपयोग किया था। माया के प्रभाव से सैकडो गन्धर्व और अप्सरायें युद्ध-क्षेत्र में आ गयी तथा नाचने, गाने और बजाने लगी। इनके कृत्य इतने रोचक थे कि शकर भगवान स्तम्भित होकर बहुत देर तक वही देखते और सुनते रह गए[२]।

शत्रु को हकबका देने के लिए युद्ध-क्षेत्र में इन्द्रजाल विद्या के प्रयोजित होने के अतिरिक्त समय-समय पर कुतूहली दर्शको के मनोविनोद के लिए भी इस विद्या का उपयोग होता था। प्राचीन ग्रथो में इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं।

स्कन्द-पुराण के काशी-खड में कहा गया है कि शिव भगवान ने धार्मिक राजा दिवोदास को हटा कर काशी पर अपना अधिकार जमाने की ठानी। अत काशी की जनता को बहकाने और उनको भ्रष्टाचारी बनाने के लिए शिव जी ने बडे-बडे उपाय किए। पहले उन्होंने योगिनियो की एक भारी टोली भेजी। साल भर वे नाना प्रकार के वेष बना कर नगर के कोने-कोने रमती-फिरती रही। कहा गया है कि कुछ जल-स्तभन, अग्नि-स्तभन और वाक्-स्तभन के चमत्कार दिखाती फिरती थी, पुन कुछ आकाशचारी बनने और दृष्टि से ओझल होने की विद्या सिखाने लगी ...। फिर भी जनता टस से मस न हुई। निदान निराश होकर वे काशी में बस गयी[३]। योगिनियो से कुछ करते न बना देख कर भगवान ने सूर्य नारायण को वही काम सौंपा। देवता काशी की

---

१ २४।२।१५ २ २०।१७ ३ ४५।१५

गली-गली मारे-मारे फिरते रहे। प्रति दिन वेष बदल कर वे गली-कूचो की सैर करते रहे। कभी भिखारी, कभी गायक, कभी वैद्य बन कर और नाना प्रकार का पाखड रच कर सरल विश्वासी लोगो को वहकाने का यत्न करते थे। पुन कभी जादूगर (ऐन्द्रजालिक) वन कर दर्शको को मोहित करते फिरते थे। किन्तु जव उनसे भी कुछ करते नही वना तव हिम्मत हार कर वे भी काशी में वस गये[1] ।

दशकुमार-चरित में विद्येश्वर नाम के एक ऐन्द्रजालिक ने जिस रीति से घोखा देकर राजवाहन के साथ मालवा के महाराज मानसार की पुत्री अवन्ति सुन्दरी का विवाह कर दिया था, उसका विशद वर्णन हुआ है[2] ।

राजवाहन और अवन्ति सुन्दरी पूर्व जन्म में पति-पत्नी रह चुके थे। किसी मुनि के अभिशाप से वे विछुड गए थे। इसलिए वसतोत्सव के दिन सहेलियो के साथ राजोद्यान में कामदेव को पूजा चढाते समय जव राजकन्या ने पहले-पहल राजकुमार को देखा तभी से वे एक दूसरे से प्रेम करने लगे थे। निदान विद्येश्वर नाम के एक ब्राह्मण ऐन्द्रजालिक ने राजा मानसार को तमाशा दिखाते हुए एक दूसरे का विवाह करवा दिया। राजा मानसार ताकते रह गए।

राजवाहन और विद्येश्वर के वीच समझौता हो जाने पर वह चतुर ब्राह्मण दूसरे दिन सवेरे राजदरवार में पहुच गया और राजा के मनो-विनोद के लिए तमाशा दिखलाने के लिए आज्ञा मांगी। उसके दल में अनेक स्त्री-पुरुष काम करते थे।

मालव-राज की आज्ञा मिलते ही विद्येश्वर के अनुयायी नाना प्रकार के वाजे वजाने लगे, स्त्रियाँ वसत जैसा कालोचित राग अलापने लगी और विद्येश्वर स्वय चवर डुलाने लगा। थोडी देर मे महाराज प्रमुख दर्शको को सम्मोहित करके वह रगमडल के वीच में आंखे वन्द करके खडा हो गया।

---

१ ४६।१८ २ १।५

इसी समय देखा गया कि प्रेक्षागार के चारो ओर से फण फैलाए हुए बडे-बडे सांप निकल रहे है और कुछ अतिकाय गिद्ध उन्हें पकड कर खा रहे हैं। फिर जादूगर ने भगवान नरसिंह ने जिस रीति से दैत्यराज हिरण्यकशिपु का वध किया था, वह दृश्ये दिखाया। अन्त में विद्येश्वर ने राजकुमारी सरीखी एक कन्या के साथ एक सुदर्शन और गुणवान राजकुमार के विवाह का खेल दिखाने की आज्ञा मांगी। मत्र-मुग्ध राजा की अनुमति मिलते ही उसने अपनी आंखो में एक प्रकार का सुरमा लगा लिया और प्रेक्षा-गृह के चारो ओर दृष्टि फेरी। इस रीति से फिर उसने कुल दर्शको को सम्मोहित कर दिया। दर्शक लोग आँखें फाड कर तमाशा देखते रहे। इस प्रकार हँसी-हँसी मे विद्येश्वर ने अग्निदेव के समक्ष राजवाहन के साथ राजकुमारी का विवाह कर दिया।

उसी प्रकार रत्नावली नाटिका में मवरण-सिद्धि नाम के एक ऐन्द्रजालिक की करामातो का विशद-वर्णन हुआ है[1]। महारानी वासवदत्ता ने जव भांपा कि उसका पति-देवता, वत्सराज उदयन सागरिका नाम की एक अनाथ शरणार्थिनी के प्रेम में फँस गया है, तव मन ही मन वह कुढने लगी। निदान रानी ने उस विचारी को रनिवास के एक एकात कमरे मे हाथ-पैर में वेडियाँ डाल कर वन्द कर दिया। उसे मुक्ति दिलाने के लिए अमात्य यौगन्धरायण ने एक कुशल ऐन्द्रजालिक को भेजा। वह हँसमुख था तथा हाथ में चँवर लिए था। राजा की आज्ञा मिलते ही उसने चँवर डुलाते हुए आकाश-पथ में वहुत-से देवता दिखाए। फिर वहुत-से सिद्ध-चारण देवियो के साथ अधर में नाचने लगे। अन्त में ऐन्द्रजालिक ने माया की रचना कर राज-भवन के एक खड में आग लगा दी। हक्का-वक्का होकर राजा तथाकथित सागरिका को वचाने के लिए जलते महल के भीतर घुस गया। यह देखते ही जादूगर ने अचानक आग वुझा दी। अन्त मे भेद खुला। तथाकथित सागरिका वासवदत्ता

---

१. अक ४

गली-गली मारे-मारे फिरते रहे। प्रति दिन वेष बदल कर वे गली-कूचो की सैर करते रहे। कभी भिखारी, कभी गायक, कभी वैद्य बन कर और नाना प्रकार का पाखड रच कर सरल विश्वासी लोगो को बहकाने का यत्न करते थे। पुन कभी जादूगर (ऐन्द्रजालिक) बन कर दर्शको को मोहित करते फिरते थे। किन्तु जब उनसे भी कुछ करते नही बना तब हिम्मत हार कर वे भी काशी में बस गये[1] ।

दशकुमार-चरित में विद्येश्वर नाम के एक ऐन्द्रजालिक ने जिस रीति से धोखा देकर राजवाहन के साथ मालवा के महाराज मानसार की पुत्री अवन्ति सुन्दरी का विवाह कर दिया था, उसका विशद वर्णन हुआ है[2] ।

राजवाहन और अवन्ति सुन्दरी पूर्व जन्म में पति-पत्नी रह चुके थे। किसी मुनि के अभिशाप से वे बिछुड गए थे। इसलिए वसतोत्सव के दिन सहेलियो के साथ राजोद्यान में कामदेव को पूजा चढाते समय जब राजकन्या ने पहले-पहल राजकुमार को देखा तभी से वे एक दूसरे से प्रेम करने लगे थे। निदान विद्येश्वर नाम के एक ब्राह्मण ऐन्द्रजालिक ने राजा मानसार को तमाशा दिखाते हुए एक दूसरे का विवाह करवा दिया। राजा मानसार ताकते रह गए।

राजवाहन और विद्येश्वर के बीच समझौता हो जाने पर वह चतुर ब्राह्मण दूसरे दिन सवेरे राजदरबार में पहुच गया और राजा के मनो-विनोद के लिए तमाशा दिखलाने के लिए आज्ञा मॉगी। उसके दल में अनेक स्त्री-पुरुष काम करते थे।

मालव-राज की आज्ञा मिलते ही विद्येश्वर के अनुयायी नाना प्रकार के बाजे बजाने लगे, स्त्रियाँ वसत जैसा कालोचित राग अलापने लगी और विद्येश्वर स्वय चवर डुलाने लगा। थोडी देर में महाराज प्रमुख दर्शको को समोहित करके वह रगमडल के बीच में आँखें बन्द करके खडा हो गया।

---

१ ४६।१८ २ १।५

इसी समय देखा गया कि प्रेक्षागार के चारो ओर से फण फैलाए हुए बडे-बडे साँप निकल रहे है और कुछ अतिकाय गिद्ध उन्हें पकड कर खा रहे हैं। फिर जादूगर ने भगवान नरसिंह ने जिस रीति से दैत्यराज हिरण्यकशिपु का वध किया था, वह दृश्य दिखाया। अन्त में विद्येश्वर ने राजकुमारी सरीखी एक कन्या के साथ एक सुदर्शन और गुणवान राज-कुमार के विवाह का खेल दिखाने की आज्ञा माँगी। मन्त्र-मुग्ध राजा की अनुमति मिलते ही उसने अपनी आंखो में एक प्रकार का सुरमा लगा लिया और प्रेक्षा-गृह के चारो ओर दृष्टि फेरी। इस रीति से फिर उसने कुल दर्शको को सम्मोहित कर दिया। दर्शक लोग आँखें फाड कर तमाशा देखते रहे। इस प्रकार हँसी-हँसी में विद्येश्वर ने अग्निदेव के समक्ष राज-वाहन के साथ राजकुमारी का विवाह कर दिया।

उसी प्रकार रत्नावली नाटिका में संवरण-सिद्धि नाम के एक ऐन्द्र-जालिक की करामातो का विशद-वर्णन हुआ है[1]। महारानी वासव-दत्ता ने जब भाँपा कि उसका पति-देवता, वत्सराज उदयन सागरिका नाम की एक अनाथ शरणार्थिनी के प्रेम मे फँस गया है, तब मन ही मन वह कुढने लगी। निदान रानी ने उस बिचारी को रनिवास के एक एकांत कमरे में हाथ-पैर मे बेडियाँ डाल कर बन्द कर दिया। उसे मुक्ति दिलाने के लिए अमात्य यौगन्धरायण ने एक कुशल ऐन्द्रजालिक को भेजा। वह हँसमुख था तथा हाथ में चँवर लिए था। राजा की आज्ञा मिलते ही उसने चँवर डुलाते हुए आकाश-पथ में बहुत-से देवता दिखाए। फिर बहुत-से सिद्ध-चारण देवियों के साथ अधर में नाचने लगे। अन्त में ऐन्द्रजालिक ने माया की रचना कर राज-भवन के एक खंड में आग लगा दी। हक्का-बक्का होकर राजा तथाकथित सागरिका को बचाने के लिए जलते महल के भीतर घुस गया। यह देखते ही जादूगर ने अचा-नक आग बुझा दी। अन्त में भेद खुला। तथाकथित सागरिका वासवदत्ता

---

१ अंक ४

को सगी वहन रत्नावली निकली। अपने स्वामी को सार्वभौम सम्राट् बनाने की नीयत से यौगन्धरायण रत्नावली से उसका विवाह कराना चाहता था। अतत महारानी वडे प्रेम के साथ उदयन के हाथ अपनी वहन रत्नावली को सौंपती है।

सूत्र-क्रीड़ा वा कठपुतली का नाच

हमारे देश में कठपुतली का नाच मनोरजन का वडा प्राचीन सावन रह चुका है। पहले-पहल इसका उल्लेख महाभारत मे हुआ है। उपमा के रूप में कहा गया है कि मानव, तारो से वँधी हुई कठपुतली की तरह ईश्वर के द्वारा चलाए जा रहे हैं[१]। काम-सूत्र मे वात्स्यायन ने सूत्र-क्रीडा को एक कला माना है[२]। पचतत्र मे "काष्ठ चित्र क्रीडनक" शव्द आया है[३]। इसका अर्थ गुडियो का नाच दिया गया है। कवि श्री हर्ष का कहना है कि नल के प्रमोद-भवन में निरन्तर कठपुतली का नाच हुआ करता था, तथा सूत्रधार लोग भीत की आड मे वैठ कर गुडियो को चलाते थे[४]। कुट्टनीमतम् में वेश्याओ की तुलना कठपुतली के साथ की गई है[५]। अवदान-कल्पलता में गुडियो के नाच का नाम "यत्रपुत्रक लीला" दिया गया है[६]। इन प्रमाणो से यही सिद्ध होता है कि गुडियो का नाच हमारे देश में महाभारत के काल से चालू था।

तक्षण वा लकड़ी का काम

ऊपर कहा जा चुका है कि भृगु ऋपि के वशज तक्षण शिल्प वा लकडी के काम में वहुत वढ़े-चढे निकले[७]। अनुमान करना असगत नही होगा कि वढई का काम उनकी कौलिक आजीविका नही था, प्रत्युत अवकाश का समय काटने के लिए वे इस काम को करते थे। अत यह

---

१ ५।३२।१३
२ १।३।१६
३ १।५
४ नैपध, १८।१३
५ ३२५ ७२८
६ ६५।१९७
७ ऋग्वेद, १०।३९।१४

उनका मनोरजन का साधन रहा। कामसूत्र में नागरको को निर्देश दिया गया है कि अवकाश का समय काटने के लिए वे या तो सूत कातें (तर्ककर्म) या लकडी का काम करें[१]। और एक स्थान में वात्स्यायन ने तक्षण को एक कला माना है[२]। कादम्बरी में स्पष्ट शब्दो में कहा गया है कि विद्या-मदिर में कुमार चन्द्रापीड को और और विद्याओ के साथ "दारु-कर्म" वा लकडी का काम भी सिखाया गया था[३]। पद्मचरित में तक्षण को पुस्तकर्म का एक महत्वपूर्ण भाग माना गया है[४]। अन्त में यह कहना अप्रासगिक नही होगा कि काव्य मीमासा की मदुसूदनी वृत्ति में तक्षण को एक उपविद्या माना गया है[५]।

आहितुण्डिक वा संपेरा

दिव्यावदान का कथन है कि दक्षिण पाञ्चाल प्रान्त को उपजाऊ बनाने के लिए जन्म-चित्त नाम के एक नाग-बालक को वहाँ लाने की आवश्यकता हुई। राजा ने नगर में ढिढोरा दिया कि जो कोई भी उसको पकड लावेगा उसे पुरस्कार स्वरूप एक सोने की पिटारी दी जायगी। फिर एक लम्बे बाँस की चोटी पर सोने की एक पिटारी बाँध कर चौमुहानी पर उसे गडवा दिया गया। बारी-बारी से बहुत से लोगो ने उस बालक को पकड लाने का यत्न किया, किन्तु कोई भी सफल न हुआ। निदान एक सँपेरे ने यह काम कर दिखाने का बीडा उठाया[६]।

पद्मपुराण के उत्तर-खड में कहा गया है कि यज्ञ के अवसर पर बलि चढाया जाने वाला एक बकरा अपने पूर्व जन्म का ब्यौरा सुनाने लगा। उसने कहा कि एकमात्र पुत्र के बीमार पडने पर मेरी धर्मपत्नी ने चडिका देवी के मदिर में एक बकरा चढाने की मनौती की थी। पुत्र के स्वस्थ हो जाने पर मैंने मनौती का बकरा चढा दिया। इस पर उस बकरे की माता ने दुखी होकर मुझे अभिशाप दिया था कि तुझे भी अगले जन्म

---

१ १।४।१४ ३ १।१६८ ५ १०।१५८
२. १।३।१६ ४. १।४९८ ६ पृष्ठ ४३६-७

में बकरा बनना पडेगा। मरने के बाद विकासवाद के अनुसार मुझे अनेकानेक योनियो मे जन्म लेना पडा। इसी प्रसग मे उसने कहा कि एक बार मुझे बन्दर बन कर जन्म लेना पडा। तब घर-घर मे सँपेरो का सिखाया हुआ नाच दिखाता फिरता था। ऐसे प्रदर्शनो में खिलाडी बच्चो की भारी भीड लगती थी। एक दिन ऐसे जमघट मे मैं अपने पुत्र और परिवार के लोगो को देख कर मारे लज्जा के नाचा नही। इस पर बिगड कर सँपेरे ने मुझको ऐसा पीटा कि मैं वही पर मर गया[1]।

परिशिष्ट पर्वन् में इसी प्रकार की एक रोचक कहानी देखने मे आती है। कहा गया है कि गगा जी के किनारे किसी पेड पर बन्दरो का एक जोडा रहता था। एक दिन नर वदर का पैर फिसल जाने से नदी मे गिर कर वह मर गया। परन्तु उस स्थान का माहात्म्य ऐसा भारी था कि मरने पर वह वानर मानव वन गया। यह देख कर वन्दरी भी नदी मे कूद पडी और थोडी देर मे वह अनुपम सुन्दरी कन्या बन गई। इसके बाद वह मानव देवता वन जाने की इच्छा से फिर नदी में कूद पडा। किन्तु इस वार उसकी आशा पूरी न हुई। वह फिर से बन्दर वन गया। एक दिन कोई राजा उस रास्ते से आ निकला और उस भुवनमोहिनी कन्या को लेकर चलता हुआ। उधर उस बन्दर को एक मायावर नाट्य मडली के सदस्यो ने पकड लिया और उसको नाचना सिखाया। जब वह तैयार हो गया, तब वे देश-विदेश उसका नाच दिखाते फिरते रहे। एक दिन उस राजा ने उनको बुलवा भेजा। बन्दर वहाँ पहुँचते ही राजा की बगल में रानी को देख कर फूट-फूट कर रोने लगा। इस पर रानी बोल उठी--अपनी करनी का फल भोगते रहो! अब रोने से क्या होगा[2]।

स्कन्द-पुराण के सेतु माहात्म्य में एक बडी रोचक घटना का उल्लेख हुआ है। राजकुमार उदयन का पालन-पोपण जगलो मे जमदग्नि मुनि के आश्रम में हुआ था। बडा हो जाने पर कुमार एक दिन आखेट के

---

१ १८३।१-२० २ पृष्ठ ८३

लिए घने जगल मे पैठा। वहाँ उसने किसी बहेलिए को एक प्रकाड अजगर को कस कर बाँधते देखा। यह दृश्य देख कर कुमार का हृदय पसीज गया और उसने उसे छोड देने को कहा। परन्तु उस व्याध ने उसको एक न सुनी। "मैं इसे नगर और गाँव मे दिखा कर पैसा कमाऊँगा", कहते हुए उसने साँप को पिटारी मे बन्द कर दिया। निदान कुमार ने अपना कगन देकर उसे छुडा लिया[1]।

दोला-केलि

यद्यपि वैदिक साहित्य मे झूले का उल्लेख कम हुआ है, तथापि अनुमान करना असगत नही होगा कि उस काल मे भी बच्चो को सुलाने व रोते हुए बच्चो को चुपाने के लिए कही-कही झूले का उपयोग होता रहा होगा। गवामयन यज्ञ के छठें दिन का नाम महाव्रत था। उस दिन होता हिंडोले (प्रेंखे) पर बैठता था[2]। हरिवश[3] और विष्णु-पुराण[4] मे कृष्ण भगवान और बलराम जी के बारे मे कहा गया है कि बचपन मे दोनो झूले (स्यन्दोलिका) पर झूल कर मन बहलाते थे।

कालिदास के रघुवश से पता चलता है कि राजभवनो मे "लीलागार नाम का एक प्रशस्त कमरा होता था। वहाँ दोला के अतिरिक्त मनो-विनोद के नाना साधन रखे रहते थे[5]। मालविकाग्निमित्र से विदित होता है कि सामान्यत स्त्रियाँ झूले पर झूलने की बडी शौकीन होती थी। महादेवी धारणी को झूले पर से गिर जाने के कारण चोट लगी थी। रानी इरावती महाराज के साथ बैठ कर झूलने की इच्छा प्रकट करती है। पुन उसी नाटक से पता चलता है कि राजभवनो मे "दोला-घर" नाम का एक अलग कमरा होता था।

स्कदपुराण के पुरुषोत्तम-माहात्म्य मे सुझाव दिया गया है कि फागुन की पूर्णिमा को पुरी मे जगन्नाथ जी के मदिर के सामने के आँगन में गोविंद

---

१ ५।१२६-१३०

२ कात्यायन श्रौत-सूत्र, १३।३।२

३ २।१४।१०

४ ५।९।८

५. ८।९५

जी का दोलारोहण उत्सव मनाया जाय। इस प्रसग में निर्देश दिया गया है कि चतुर्दशी की रात को अग्न्योत्सव करके दूसरे दिन भगवान को झूले पर पधराया जाय। वृन्दावन में भगवान श्रीकृष्ण ने गोपागनाओ के साथ जो लीलायें की थी, सभवत यह उत्सव उसी का स्मारक है[१]। उसी पुराण के अरुणाचल माहात्म्य में कहा गया है कि शकर भगवान और देवी जी जब कनकाचल पर ठहरे हुए थे, तब मन वहलाने के लिए वे कभी-कभी "दोला-केलि" किया करते थे[२]। पुन उक्त पुराण के रेवाखड का कहना है कि कालपृष्ठ नाम के एक दानव का बध करने के लिए विष्णु भगवान ने एक माया की रचना की थी। इस प्रसग में कहा गया है कि उन्होने माया-कानन में रमती हुई सात भुवनमोहिनी स्त्रियो की सृष्टि की थी। वे एक झूले पर झूलती हुई मधुर स्वर से गा रही थी। उन्हे देखते ही दानव बिल्कुल मोहित हो गया[३]।

दशकुमार-चरित में कहा गया है कि कुमार राजवाहन ने किसी उपवन में दो प्रेमियो को झूले पर झूलते देखा था[४]।

भविष्य-पुराण में झूले पर झूलने का नाम "हिन्दोलादि क्रीडा" दिया गया है[५]।

कन्दुक-क्रीड़ा

दोला-केलि जैसी, कन्दुक-क्रीडा भी प्राचीन काल में मनोविनोद का अतीव सामान्य साधन रह चुकी थी। रामायण में "कन्दु" शब्द का उपयोग हुआ है[६]। जिस भाव को प्रकट करने के लिये इस उपमा का उपयोग हुआ है, उससे ऐसा जान पडता है कि हथेली द्वारा ठोक कर गेंद को उछाला जाता था। इस प्रकार इस खेल को खेलने से शारीरिक परिश्रम होता था। कभी-कभी पुरुपो को वहकाने के लिये स्त्रियाँ यह खेल खेलती थी। महाभारत का कहना है कि ऋष्यशृ ग को वहकाने के

---

१. अध्याय ४२ | ३ ६७।७५-७८ | ५ ११२३।५८
२ १७।२८ | ४ ११३० | ६ ६।४०।१३

लिये जो गणिका उसके आश्रम मे पहुँची थी, वह अपनी अग-भगिमा दिखा कर मुनि का मन लुभाने के लिये एक गेद लेकर खेलती थी[१]।

प्राचीन भारत मे यह क्रीडा सार्वजनिक थी—अर्थात् सभी वय के स्त्री-पुरुष मन वहलाने के लिये यह खेल खेलते थे। फिर भी अधिकतर स्त्रियाँ यह खेल खेलती थी। स्वप्नवासवदत्ता नाटक मे राजा उदयन की भावी पत्नी तथा मगधराज दर्शक की सगी वहन, पद्मावती कन्दुक क्रीडा करती हुई दिखायी देती है। उसके सौंदर्य का वर्णन करते हुए भास कहते है कि उसके कान खडे थे और केश-पाश इधर-उधर विखरे हुए थे और अधिक परिश्रम होने से थक जाने के लिये उसके रक्तिम मुखमडल पर पसीने की वूदें दिखाई पडती थी[२]। स्कद-पुराण के माहेश्वर खड मे कहा गया है कि गौरी देवी वहुधा यह खेल खेलती थी[३]। उसी पुराण के काशीखड से पता चलता है कि गेंद खेलते समय वडी स्फूर्ति की आवश्यकता होती थी तथा अगो का सचालन भी वहुत होता था। देवी जी के वारे में कहा गया है कि गेंद थपकते-थपकते उनकी हथेली लाल हो गई थी तथा गेंद की गति-विधि पर सदैव दत्त-चित्त होने के कारण उनकी आँखो की पुतलियाँ सदैव नाचती थी[४]।

स्त्रियो के अतिरिक्त पुरुष भी कन्दुक-क्रीडा में सक्रिय भाग लिया करते थे। पद्मपुराण के क्रियायोगसार खड में कहा गया है कि भद्रतनु नाम के एक ब्राह्मण की भक्ति से मुग्ध होकर नारायण ने उससे मित्रता कर ली। मन वहलाने के लिये दोनो कभी-कभी गेंद खेलते थे। इस प्रसग मे उस ब्राह्मण को "कदुकेलिविद्" (गेंद खेलने मे प्रवीण) कहा गया है[५]।

मालविकाग्निमित्र नाटक से पता चलता है कि छोटे-छोटे वच्चे भी गेंद खेलते थे। रघुवश मे कहा गया है कि थपकी मार कर गेद

---

१ ३।१११।१६
२ दूसरा अक
३. २।३८
४ ६५।२३
५ १७।९८

उछाला जाता था[१]। भागवत-पुराण से इस बात की पुष्टि होती है[२]।

दशकुमार-चरित का कहना है कि सुह्म देश की राजकुमारी को देवी ने स्वप्नादेश दिया था कि प्रत्येक महीने के तीसरे दिन मदिर में जाकर गेंद खेलते हुए वह नृत्य कला का प्रदर्शन करे। राजकुमारी का नाच देखने के लिये मदिर में भारी भीड लग जाती थी। इसलिये उस समारोह का नाम "कदुकोत्सव" पडा[३]।

आकर्ष

महर्षि पाणिनि ने "आकर्षादिभ्य कन्"[४] सूत्र के द्वारा आकर्ष नाम के चौसर-जातीय एक खेल का उल्लेख किया है। इस सूत्र का सरल अर्थ यह है कि कुशलता वा पारदर्शिता सूचित करने के लिये मूल सज्ञा के साथ "कन्" प्रत्यय जोड दिया जाता है। उदाहरण के रूप में उन्होने कहा है कि जैसे "आकर्ष कुशल" खिलाडी को "आकर्षक" कहा जायगा, उसी प्रकार त्सरु (तलवार) चलाने में निपुण व्यक्ति को "त्सरुक" कहा जायगा, इत्यादि।

कामसूत्र से पता चलता है कि आकर्ष खेलने की पटिया होती थी जो द्यूतफलक के साथ नागरक की बैठक की भीत पर टॅगी रहती थी और खेलते समय उतार ली जाती थी[५]। इस फलक पर बहुत-से खाने बने हुए रहते थे जिनमें दॉव के अनुसार गोटियाँ रखी जाती थी। नियत दॉव पडने पर विपक्षी की गोटियाँ मार दी जाती थी[६]। मोहरे का नाम "शार" था। गोटियो को दॉव के अनुसार हटाने बढाने का नाम "परिणाय" था। सूत्र ५।२।९ में "अयानय" शब्द का उपयोग हुआ है। महाभाष्यकार का कथन है कि मोहरो को जब दाहिने हाथ

---

१ १६।८३ ३ २।२०६ ५ १।४।१२

२ ३।२०।३६ ४ ५।२।६४ ६ "परिणायेन हन्ति शारान्" ३।३।३७

हटाया जाय तब उस चाल का नाम "अय" है और विपक्षी जब गोटी को बायें हाथ से ले जावे, तब उस चाल का नाम "अनय" है, तथा "अयानय" उस सुरक्षित स्थान का नाम है जहाँ पहुँचने से गोटियाँ विपक्षी द्वारा मारी नही जा सकती। कात्यायन का कथन है कि उन दिनो ऐसे खाने फलक वा पटिया के ऊपरी भाग में बने रहते थे। चौपड खेलने की जो बिसात होती है उसमें भी दोनो बगलो मे इस प्रकार के धारीदार खाने बने रहते हैं। परन्तु ऐसा मालूम होता है कि आकर्ष दो मनुष्यो का खेल था। इसके विपरीत चौसर मे चार खिलाडी भाग लेते हैं। अन्त में लक्ष्य करने का विषय यह है कि उत्तर काल के साहित्य में "आकर्ष" शब्द का कदाचित् ही उल्लेख हुआ हो। सभवत कालान्तर में आकर्ष क्रीडा, अक्ष-क्रीडा के साथ धुल-मिल गई। यहाँ कहना अप्रासगिक न होगा कि काम-सूत्र के टीकाकार यशोधर ने आकर्ष-क्रीडा का पर्यायवाची शब्द अक्ष-क्रीडा माना है[1] ।

क्रीड़ा प्रकरण

पाणिनि के "प्राचा क्रीडायाम्"[2] सूत्र को पुष्ट करते हुए कात्यायन ने काशिका वृत्ति में पूर्वी प्रान्त में प्रचलित कई खेल-तमाशो के नाम दिये हे, जैसे उद्दालक-पुष्प-भजिका, वीरण-पुष्प-प्रचायिका, शाल-भजिका, ताल-भजिका इत्यादि। अनुमान करना असगत न होगा कि ये सब क्रीडा-कौतुक, उद्यान-यात्रा और वन-विहार से सम्बद्ध थे। भिनसारे नागरिक और नागरिकाएँ खान-पान की सामग्री अपने साथ लेकर वन किंवा बागो को सिधारती और दिन भर खुले मैदानो में सामाजिकता के सुख का अनुभव कर सध्या को घर लौटती थी। कहने की आवश्यकता नही कि ऐसी यात्राएँ स्वास्थ्यवर्धक भी होती है।

(अ) आभ्यूष-खादिका

पुनः "सज्ञायाम्" सूत्र के प्रसग मे कात्यायन ने आभ्यूप-खादिका,

---

१ कामसूत्र, ३।३।६ २ ६।२।७४

आचोप-खादिका, शाल-भजिका, ताल-भजिका प्रभृति क्रीडाओ का उल्लेख किया है[1]। आभ्यूप-खादिका क्रीडा का नाम वात्स्यायन के काम-सूत्र मे भी आया है[2]। टीकाकार का कहना है कि इस क्रीडा के प्रसग मे लोग पौधे में लगे चने और मटर के नरम दाने आग मे झुलसा कर खाते थे। किन्तु कैयट का कहना है कि आभ्यूप एक प्रकार का पकवान (अपूप) था। अस्तु।

(आ) आचोष-खादिका

आधुनिक काल का लॉजेञ्ज सरीखी आचोप नाम की कोई मिठाई होती थी, जिसे चूस-चूस कर खाया जाता था।

(इ) शाल-भंजिका

इस क्रीडा का साहित्यिक उल्लेख कही-कही मिलता है। जातक ग्रन्थो मे जिस रीति से लुम्बिनी उद्यान में शुद्धोदन की देवियो ने शाल-भजिका का पर्व मनाया था, उसका विशद वर्णन हुआ है[3]। कहा गया है कि कपिलवस्तु और देवदह नगरो के बीच एक सघन शाल-वन था। इस वन के भीतर से दोनो नगरो के रहने वाले यातायात करते थे। देवियां कपिलवस्तु से देवदह को जाती थी। तब वसन्त ऋतु की छूत लगने के कारण उक्त शाल-वन के एक-एक पत्र और पुष्प में सिहरन हो रही थी। प्रत्येक पेड की शाखा और टहनी नवपल्लव और खिले हुए फूलो के बोझ से झुक गई थी। दूर से मालूम होता था कि सारे वन पर दावानल की लालिमा छा गई थी। ऐसा मोहक दृश्य देख कर देवियो से रहा नही गया और उन्होने शाल-वन मे खेलने की इच्छा प्रकट की। (सालवनकीलम् कीलितुकामा)। महादेवी सहेलियो के साथ उस वन मे चली गयी। निदान जब वह एक मगलमय शालवृक्ष के तने के पास पहुची तब फूलो से लदी हुई एक टहनी को थामने के लिये उन्होने हाथ

---

१ ३।३।१०९ २ १।४।४२ ३ १।५२

बढाया। देवी के हाथ बढाते ही वह टहनी अपने आप झुक गयी। देवी ने उसे पकड़ लिया। ऐसी दशा में उसे प्रसव-वेदना का अनुभव हुआ।

पुन अवदान शतक मे कहा गया है कि जिस समय बुद्ध भगवान श्रावस्ती के समीप अनाथपिण्डद के दिये हुए जेतवन मे ठहरे हुए थे, तब उस नगर मे समारोह के साथ शाल-भजिका उत्सव मनाया जा रहा था। नगर के आस-पास के शाल वनो मे हजारो लोग एकत्र होकर साखू के फूल तोडते, नाचते, गाते और खेलते-कूदते, रमते फिरते थे[१]।

(ई) ताल भंजिका इत्यादि

अनुमान किया जाता है कि ताल-भजिका क्रीडा के प्रसग में ताड के पेडो पर हमला किया जाता था। उद्दालक-पुष्प-भजिका के प्रसग मे लिसोडे के फूल तोडे जाते थे और वीरण पुष्प-प्रचायिका के सिलसिले में खस के फूल तोडने की रीति थी।

(उ) जीव-पुत्र-प्रचायिका

ऊपर कहा जा चुका है कि ये सब क्रीडाएँ पूर्वी प्रान्त मे प्रचलित थी। इसके विपरीत कात्यायन का कहना है कि उत्तर मे जीव-पुत्र-प्रचायिका नाम की एक क्रीडा प्रचलित थी। जीवत्-पुत्र अथवा जीव-पुत्र एक पेड का नाम है। इसके फलो के बिये घिस कर जयमाला बनायी जाती है।

साँची और बरौत मे पत्थर पर की खुदाई के जो काम है, उनमें प्राय ऐसे दृश्य देखने मे आते है। सामान्यत देखा जाता है कि एक महिला किसी झुके हुए पेड से फूल चुन रही है। कुषाण-काल के गान्धार शिल्प मे भी ऐसे दृश्य विरल नहीं।

इन खेलो की विशिष्टता यह थी कि क्रीडा में भाग लेने वाले स्त्री-पुरुष स्वय, अपने हाथ से फल-फूल तोडते थे। कात्यायन के "हस्ता-

---

१ १।२०१

दाने चोरस्तेये"[१] सूत्र के अनुसार जब तक फल-फूल अपने हाथ से तोडा न जाय, तब तक "पुष्प-प्रचाय" शब्द की सिद्धि नही होती।

वात्स्यायन के कामसूत्र में इस प्रकार की कई "देशी क्रीडाओं" के नाम आये हैं। नीचे सक्षेप में उनका विवरण दिया जा रहा है। ये खेल भिन्न-भिन्न प्रान्तो मे प्रचलित थे[२]।

(ऊ) सहकार-भंजिका

आम के बौर तोडने से सबधित थी।

(ऋ) बिस-खादिका

कमल की नालो को खाने से सबधित थी। यह क्रीडा तालाब के निकट ही सभव थी।

(ए) नव-पत्रिका

नववर्षा के बाद जब वनस्थली के पेड-पौधो पर नयी पत्तियाँ आने लगती थी, तभी यह खेल खेला जाता था।

(ऐ) उदक-क्ष्वेडिका

इसका अपर नाम शृंग-क्रीडा था। खोखले बाँस मे पानी भर कर सिंहनाद के समान शब्द निकालना। लंका की सिगिरिया गुहा की भीत पर इस प्रकार का एक चित्र है।

(ओ) दमन-भंजिका

दमनक फूल तोड कर एक दूसरे को सजाना।

यहाँ स्मरणीय है कि कई पुराणो में दमनकोत्सव का उल्लेख हुआ है। स्कद-पुराण का कहना है कि यह उत्सव पहले-पहल काशी मे कुशध्वज राजा ने शिव जी के सम्मान में चालू किया था। चैत की शुक्ला चतुर्दशी को यह उत्सव मनाया जाता था। उस दिन शिव जी की मूर्त्ति सोने के बने हुए झूले पर पधरायी जाती थी[३]। सभवत इस अवसर पर शिव भगवान की मूर्त्ति दमनक के फूलो से खूब सजायी जाती थी।

---

१. ३।३।४० २ १।४।४२ ३ वेंकटाचल माहात्म्यम्, ९।२३–२४

गरुड-पुराण में दमनाख्या नवमी का उल्लेख हुआ है। यह उत्सव चैत्र की शुक्ला नवमी को मनाया जाता था और दुर्गा देवी को पूजने की रीति थी[1]।

(औ) अशोकोत्तंसिका

अशोक का फूल बटोर कर माला, मुकुट आदि बनाना।

(अं) पुष्पावचायिका

फूल तोड़ने की प्रतियोगिता।

(अः) चूत-लतिका

आम के बौर और नयी निकली हुई टहनियाँ लेकर साज-सजावट करना।

(क) इक्षु-भंजिका

ईख के डठल और पत्तियो के गहने बना कर पहनना।

वात्स्यायन ने उपर्युक्त क्रीडाओ को सभूय क्रीडा कहा है अर्थात् बहुत-से लोग एकत्र होकर ये खेल खेलते थे। किन्तु ये क्रीडाए स्थानीय थी अर्थात् सार्वजनिक नही थी।

(ख) कुमकुम क्रीड़ा

पद्मपुराण के उत्तर खड में पहले पहल परोक्ष रीति से इस खेल का उल्लेख हुआ है। कश्मीर मडल की प्रशसा मे कहा गया है कि वहा केसर की उपज इतनी प्रचुर है कि प्रातःकाल घर के आँगनो मे केसर का जो चूर बिखरा पडा रहता है, उससे सूर्य और चन्द्र मडल में भी लाली आ जाती है[2]। रत्नावली-नाटिका में मदनोत्सव मनाने के प्रसग में कहा गया है कि नागरिको ने रग खेलने के अतिरिक्त कुमकुम के चूर द्वारा समग्र नगर को पीले रग से रगीन कर दिया है[3]।

---

१. १।१३७।१ २ १८८।६ ३. पहला अक

पुन देवयन्ती की स्वयवर सभा मे कश्मीर-राज का परिचय देते हुए उसकी सहेली प्रसगत कुमकुम क्रीडा का उल्लेख करती है[1] ।

वात्स्यायन ने निर्देश दिया है कि कभी-कभी नागरिक लोग उत्सवादि का आयोजन कर एकत्र हो। इस रीति से वे सामाजिकता के सुख का अनुभव करे । उत्सवादि के प्रसग में सुझाव दिया गया है कि—

(ग) घटा-निबंध

वे घटा-निबध वा देव-यात्रा का आयोजन कर सकते है। भास के चारुदत्त नाटक मे इस प्रकार "कामदेवानुयान" नाम की एक यात्रा वा जुलूस का उल्लेख है। नाटक के वर्णनानुसार बाजे-गाजे के साथ कामदेव का चित्र लेकर नागरिको की एक भारी जन-यात्रा निकाली गई थी। यहाँ स्मरणीय है कि राज-श्यालक के पीछे पडने पर अस्त-व्यस्त होकर वसन्त सेना ने नाटक के नायक चारुदत्त के घर में आश्रय लिया था[2] । उसी प्रकार अवदान-शतक में कहा गया है कि प्राचीन काल में काशी में प्रतिवर्ष नगर पर्व नाम का एक उत्सव मनाने की रीति थी। उस दिन सारा नगर सजाया जाता था तथा शासक लोग भी साग्रह ऐसे उत्सवो में भाग लिया करते थे[3] । यहाँ स्मरणीय है कि प्राचीन यूनान में समारोह के साथ नगर-पर्व मनाने की रीति थी।

जुलूस निकालने और उत्सव मनाने के अतिरिक्त वात्स्यायन ने सुझाव दिया है कि एक-एक देवता के लिये सरक्षित विशेष-विशेष तिथियो पर उस देवता के मदिर मे नृत्य-गीत का जलसा किया जाय। इसका क्रम इस प्रकार हो—चतुर्दशी के दिन शिव जी के मदिर में, पचमी के दिन सरस्वती जी के मदिर मे, चतुर्थी को गणेश जी के मदिर में इस प्रकार की बैठको का आयोजन किया जाय। ऐसी सभाओ मे स्थानीय कलाकारो के अतिरिक्त बाहर से आये हुए कला-कुशली भी अपनी-अपनी कृतियाँ

---

१ कथाकोश, पृष्ठ १९७ २. पहला अक ३ १।१२१

प्रदर्शित करे किंवा नाटक खेला जाय। दूसरे दिन बाहर से आये हुए कलाकारो को पुरस्कार दिया जाय अथवा फिर से अभिनय दिखाने के लिये वे रोके जायँ। बाहरी लोगो को टिकाने और खिलाने-पिलाने का भार नागरिक लोग मिल-जुल कर निवाहें[1]।

मनोविनोद के उपर्युक्त साधनो का नाम घटा-निवधन इसलिये दिया गया है कि इन यात्रा और प्रदर्शनो में नागरिको का भारी जमावडा होता था (घटा) और उनका आयोजन भी नागरिक लोग स्वय करते थे (निवधन)।

(घ) गोष्ठी समवाय

विचार-विनिमय द्वारा ज्ञान की अभिवृद्धि करने के लिये समय-समय पर जो सास्कृतिक बैठको का आयोजन किया जाता था उनका नाम गोष्ठी था। दशकुमार-चरित मे इस प्रकार की एक गोष्ठी का वर्णन हुआ है जहाँ रागमजरी ने गान सुनाये थे[2]। सामान्यत ऐसी बैठके गणिकालय, सभामडप वा किसी सपन्न नागरिक के यहाँ होती थी। ऐसी सभाओ में साहित्य, कला, नृत्य-गीत प्रभृति विषयो पर वाद-विवाद होता था तथा गुणी कलाकार और साहित्य-सेवियो को पारितोषिक दिया जाता था[3]।

(ङ) पान-गोष्ठी

ऐसी बैठके क्रमानुसार नागरिको के घर मे होती थी। ऐसी बैठको में नगर-शोभाए भी उपस्थित रहती थी। वहाँ नाना प्रकार की चाटो के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार की सुरा पी जाती थी। कभी-कभी उद्यान-यात्रा के प्रसग में भी ऐसी बैठके होती थी[4]।

(च) उद्यान-यात्रा

उद्यान-गमन का विशद वर्णन ऊपर हो चुका है।

---

१ १।४।२८–३३ २ २।२ ३ १।४।३४–३६ ४ १।४।३८–३९

समस्या क्रीड़ा

ऐसे उत्सव वा खेल-तमाशे जिन्हे बहुत-से लोग एकत्र होकर मनावें, उनका नाम वात्स्यायन ने समस्या क्रीडा दिया है। इस प्रसग मे कामसूत्र मे कुछ क्रीडा-कौतुको के नाम पाये जाते है।

(छ) यक्ष-रात्रि

कार्त्तिकी अमावास्या को यक्षो के सम्मान मे जुआ खेल कर और हँसी-मजाक कर रात को जागने की रीति थी। सभवत आगे चल कर इसी पर्व का नाम दीवाली पडा।

(ज) कौमुदी-जागर

क्वार की पूर्णिमा की रात मे झूलो पर झूल और जुआ खेल कर रात भर जागने की प्रथा थी।

(झ) सुवसन्तक वा मदनोत्सव

यह उत्सव माघ की शुक्ला पचमी तिथि को मनाया जाता था। इसको मनाने में नृत्य-गीत को प्रधानता दी जाती थी, रग खेला जाता था और अबीर-गुलाल छिडका जाता था। रत्नावली नाटिका के पहले अक में इस उत्सव का जीता-जागता विवरण पाया जाता है। कुट्टनी-मतम् का विवरण और भी विशद है। ऐसा लगता है कि नवी शती मे कश्मीर प्रात में यह उत्सव सार्वजनिक था। इसे मनाते समय लोग वय-लिंग तथा सामाजिक स्थिति भुला देते थे। माथे पर गजरा लपेट कर वे एक दूसरे पर पिष्टातक (हलदी, चावल और कुमकुम का चूर) छिडकते और रग खेलते थे। तूर्य-ध्वनि के साथ थपोडी पीटती हुई युवती गृहिणियाँ अबाध, बाजारू स्त्रियो के साथ नृत्य-गीत में भाग लेती थी और बुरी-बुरी गालियाँ बकती थी (अगणित-वाच्यावाच्यम्)। गाती हुई युवती स्त्रियाँ एक दूसरे के गले लगती तथा जुआ खेलते समय बुरी-बुरी गालियाँ बकती थी[1]।

---

१. ८८९–८९५

वात्स्यायन ने उपर्युक्त उत्सव वा क्रीडाओ को "माहिमान्य." कहा है, अर्थात् वे सर्वत्र मनाये जाते थे। इनके अतिरिक्त कामशास्त्र में भिन्न-भिन्न देशो मे प्रचलित कुछ खेल-तमाशो के नाम मिलते है। उद्यान-यात्रा के प्रसग में ऐसी कुछ क्रीड़ाओ का वर्णन हुआ है। अतएव नीचे केवल ऐसी क्रीडाओ का विवरण दिया जा रहा है जिनका उल्लेख ऊपर नही हो पाया।

(ञ) यव-चतुर्थी

वैशाख की शुक्ला चतुर्थी को जौ की सुगधित बुकनी लेकर धुलेंडी खेलने की प्रथा थी। यह उत्सव अधिकतर पश्चिमी प्रान्तो मे मनाया जाता था।

(ट) आलोल-चतुर्थी

सावन की शुक्ला तृतीया को झूले पर झूलने की रीति थी।

(ठ) बालोपयोगी क्रीड़ा कौतुक

उपर्युक्त क्रीडाओ के अतिरिक्त कामशास्त्र में और भी बहुत-से खेल-तमाशो का उल्लेख हुआ है। प्राचीन काल के आचार्यों की सम्मति है कि बाल्यावस्था में यदि कोई बालक किसी परिचित बालिका के साथ ऐसे खेल खेलता रहे तो स्वभावत बालिका उसके प्रति अनुरक्त होगी, और सयानी हो जाने पर उस बालक के साथ विवाह भी कर लेगी। इस प्रसग में वात्स्यायन ने नीचे लिखे हुए क्रीडा-कौतुको का नाम दिया है —

(ड) आकर्ष क्रीड़ा

पासा खेलना।

(ढ) पट्टिका क्रीड़ा

नरकट, सरकडे, बेंत आदि का सामान बनाना।

(ण) मुष्टि-द्यूत

बँधी हुई मुट्ठी में जो वस्तु छिपायी जाय उसका नाम और संख्या के बारे में अटकल भिड़ाना।

(त) क्षुल्लक द्यूत

एक प्रकार का जुआ जिसमें कौडी का उपयोग होता था।

(थ) मध्यमांगुलि-ग्रहण

साझेदार दूसरे खिलाडी के बीच की उंगली पकडने का यत्न करता था। परन्तु वह उंगलियों को हिला-डुला कर ऐसा करने से रोकता था।

(द) षट् पाषाणक

हथेली पर छ सात गिट्टियाँ रख कर उन्हे ऊपर उछाला जाता था। फिर हाथ उलट कर उन्हे रोक लिया जाता था[1]।

(ध) क्ष्वेड़ितक

ऐसे खेल जिनके, खेलने में व्यायाम हो जाय।

(न) सुनिमीलितिका

आँख-मिचौनी।

(प) आरब्धिका

चुटकी बजाते ही खिलाडी इधर-उधर भागने लगते थे। ऐसी दशा में एक दूसरे को छूने की चेष्टा करना।

(फ) लवण-वीथिका

नमक की दुकानो के बीच एक तंग रास्ता होता था। जो भी खिलाडी अपना स्थान छोड कर उस तंग रास्ते से होकर गुजरे, वह लवणहार (अर्थात् जिसके शरीर और पहनावे में लवण लगा हो) बनता था।

---

१ ३।३।६

(ब) अनिल-ताड़ितिका

दोनो बाँह पख जैसे फैला कर चक्कर काटना।

(भ) गोधूम-पुंजिका

गेहू जैसे अनाज के छोटे-छोटे कई ढेर लगाये जाते थे तथा किसी-किसी में रुपये-पैसे छिपा दिये जाते थे। जो भी खिलाडी ऐसा ढेर चुनता था, जिसमें रुपया-पैसा न हो, उससे जुर्माना वसूल किया जाता था।

(म) अंगुलि-ताड़ितिका

खेलने वालो में से एक की आँखे वन्द कर दी जाती थी। शेष खिलाडी उगली द्वारा उसके माथे को छूते थे। यदि वह खिलाडी जिसकी आँखें वन्द थी, छूने वाले का नाम ठीक-ठीक वोल देता तो वह चोर वनता था[1]।

ऊपर ऐसे कुछ खेल-कूदो का वर्णन हुआ है जिनमे वालक-वालिका दोनो भाग ले सकते थे। नीचे विशुद्ध वालकोपयोगी कुछ क्रीडा-कौतुको का वर्णन हो रहा है।

दिव्यावदान का कहना है कि वच्चे चन्द्रप्रभ को खिलाने-वाली दोनो धाय आकायिका, सकायिका, वितुकोटिका, स्योटारिका, अवरिका, वश-घटिका, सधावणिका, हस्ती-विगहा, अश्वविग्रहा और वलिवर्द-विग्रहा-क्रीडाएँ खिलाती थी[2]। "विग्रह" शब्द का अर्थ यदि मूर्त्ति लगाया जाय तो अतिम तीन शब्दो से ऐसा अनुमान किया जाता है कि वे खिलौने थे। किन्तु प्रारभिक सात खेलो का विवरण कही नही मिला।

जातक-माला के विश्वन्तर जातक में कहा गया है कि निर्वासित राजकुमार विश्वन्तर ने जव अपने पुत्र जाली को ब्राह्मण के हाथ सौंप दिया, तव विदा होते समय सिसकते हुए कुमार ने पिता से कहा था—माता के लौटने पर हमारे खिलौने—नाव, घोडे, रथ और हाथी-माँ को दे देना। उन्हे देख कर उसे थोडी-वहुत सात्वना मिलेगी[3]।

---

१. ३।३।७ २. पृष्ठ ४७५ ३ पृष्ठ ६३

कामसूत्र में छिट-फुट बालोपयोगी कई खिलौनो का उल्लेख हुआ है। भ्रमरक वा लट्टू[1]।

फूल-पत्ती तोडकर उनकी माला पिरोना, मिट्टी या लकडी का मकान वनाना, गुडिया लेकर खेलना, खेल-खेल मे रसोई तपना इत्यादि[2]। रग-विरगे नाना पदार्थों के बने हुए विचित्र गेंद, तागे, लकडी, सींग, हाथी दाँत, मोम, पिसान और मिट्टी की वनी हुई गुडियाँ; वाँस वा तिनके का वना हुआ मदिर वा भवन, भिन्न-भिन्न पक्षियो के घोसले, छोटे-छोटे यत्र, वीन इत्यादि[3]।

अन्त में कहना अप्रासगिक न होगा कि मृच्छकटिका से पता चलता है कि मिट्टी की वनी हुई गाडी भी वच्चो को खेलने के लिये देने की प्रथा थी[4]।

भगवान् राम-कृष्ण की वालकोचित खेल-कूद के वारे मे विष्णु-पुराण का कहना है कि कभी तो वे भूले पर भूलते और कभी कुश्ती (नियुद्ध) लड कर और चक्के चला कर व्यायाम करते थे[5]। इस प्रसग में कहा गया है कि एक दिन जव लडके एकत्र होकर "हरिणा-क्रीडन" नाम का एक खेल खेल रहे थे, तव प्रलम्व नाम का एक असुर गोप-वालक का भेष रच कर उनके दल में घुस गया। प्रलम्वासुर वल-राम जी का साझेदार वन कर हिरनो की तरह उछलता-कूदता दौडने लगा। किंतु उसकी हार हुई। तव इस खेल के नियमानुसार प्रलम्व वलराम जी को कधे पर वैठाकर तेजी के साथ भागने लगा। किंतु उसका अभिप्राय भाँपते ही वलराम जी ने उसकी खोपडी पर ऐसा एक मुक्का जमाया कि वह तत्क्षण मर के ढेर हो गया[6]।

(य) हरिणा-क्रीड़न

वालकोचित इस खेल का उल्लेख विष्णु-पुराण के अतिरिक्त ब्रह्म-

---

१ २।१।३८ ३ ३।३।१३-१४ ५ ५।९।८
२ ३।३।५ ४ छठा अंक ६ ५।९।९

पुराण[1] और भागवत पुराण[2] मे हुआ है। अत अनुमान किया जाता है कि प्राचीन काल मे यह अतीव लोकप्रिय खेल रहा होगा। खेलने की परिपाटी इस प्रकार की थी—दो-दो वालक जोड वांध कर हिरनो की भांति उछलते, कूदते और दौडते हुए एक नियत लक्ष्य तक जाते थे। जो वालक सवसे पहले लक्ष्य विन्दु तक पहुँच जाता था, उसकी जीत मानी जाती थी। तव हारने वाला वालक विजयी को कंधे पर वैठा कर रवानगी के स्थान से लक्ष्य-स्थल तक दो फेरा देता था। इस खेल के अतिम अश का नाम भागवत-पुराण में "वाह्य-वाहक" क्रीडा दिया गया है[3]।

(र) वीटा-क्रीड़ा वा गुल्ली डण्डा

महाभारत के टीकाकार नीलकठ का कहना है कि इस क्रीडा में खिलाडी वालक जौ के आकार की लकडी की एक टुकडी को हाथ भर लवे डडे से वार-वार मार कर दूर, और दूर, फेंकते हैं। एक दिन जव हस्तिनापुर के वाहर कुरु-पाण्डव घराने के कुमार लोग यह खेल खेल रहे थे, तव अचानक उनकी गुल्ली एक कुए के भीतर गिर पडी। वहुत यत्न करने पर भी कुमार लोग उसे निकाल नही पाये। निदान द्रोण ने वाण से वीधकर उसे वाहर निकाला। इसके अनन्तर द्रोण-कुमारो को शस्त्रास्त्र की शिक्षा देने लगे[4]।

(ल) चित्र-क्रीड़नक

सत्यवान के वारे में महाभारत मे कहा गया है कि वचपन में उसको घोडे का वहुत शौक था। इसलिये माता-पिता के साथ वन में रहते समय जव-तव वह मिट्टी के घोडे वनाता और भीत पर घोडो का चित्र वना कर खेला करता था। इसलिये वचपन में उसका नाम चित्राश्व पडा था[5]।

---

१. १८७।११-१४
२ १०।१८।१९-२६
३ १०।१८।२२
४ ११।३१।१७
५ ३।२९३।१३

विशेष-विशेष वृक्ष को हरा-भरा बनाने के लिये उपाय किया जाना चाहिये या जो वस्तु डाली जानी चाहिये इस कृत्य का नाम केशव ने "दोहद-दान" दिया है। इस प्रसग में उसने कहा है कि स्त्रियो के छूने से प्रियगु फूलने-फलने लगता है, उसी प्रकार सीधु नाम की सुरा से सीचने से मौलसिरी, लातो के बरसाने से अशोक, छाती से लगाने से तिलक और कुरवक, हँसी मजाक की बातें सुनाने से मन्दार, अध-खिली मुसकान से चम्पक, फूकने से आम, गान सुनाने से नमेरु और सामने नाचने से कर्णिकार, फूलने-फलने लगते है। ये सब सुरत के भिन्न-भिन्न अग माने गये है[1]।

कहने की आवश्यकता नही अन्त मे वर्णित तीन क्रीडाएँ बालिकाओ से सम्बन्धित थी।

उपर्युक्त कुल क्रीडा-कौतुको की यदि छान-बीन की जाय तो ऐसा लगता है कि सभी का मुख्य ध्येय सामाजिकता के सुख का अनुभव कराने के साथ-साथ मन बहलाने का था। इसके अतिरिक्त--

(अ) कुछ तो मनोरजन के विशुद्ध साधन थे, जैसे कुकुम-क्रीडा, कदम्ब-युद्ध, आकर्श-क्रीडा, पान-गोष्ठी इत्यादि।

(आ) कुछ बौद्धिक थे, जैसे गोष्ठी समवाय, गोधूम-पुञ्जिका अगुलि-ताडितिका इत्यादि।

(इ) कुछ कल्पना-शक्ति को प्रखर बनाने वाले थे, जैसे मुष्टि-द्यूत, सुनिमीलितिका, कृत्रिम-पुत्रक, वल्ली-वृक्ष विवाह इत्यादि।

(ई) कुछ रचनात्मक थे, जैसे पट्टिका-क्रीडा माला पिरोना, चित्रकारी, गुडिया बनाना, मदिर निर्माण प्रभृति और (उ) कुछ व्यायाम-मूलक थे जैसे क्ष्वेडितक, आरञ्चिका, हरिणा-क्रीडन आदि।

गान्धर्व

पाणिनि के कुछ सूत्रो से पता चलता है कि प्रारभिक दशा में

---

१ कुट्टनीमतम्—टीका, पृष्ठ १७३

वेद-पाठ करते समय उदात्त, अनुदात्त और स्वरित नाम के तीन ही स्वरो का उपयोग होता था[१]। कालान्तर मे शिक्षा नाम के वेदाग का सकलन हो जाने पर सातो स्वरो का प्रचलन हो गया।

मार्कण्डेय-पुराण मे सात स्वर, सात ग्राम, सात वर्ण, सात गीति, सात मूर्छना, ४९ तान, तीन ग्राम, चार प्रकार के पद, तीन प्रकार के ताल, तीन प्रकार के लय, तीन प्रकार की यति और चार प्रकार के तोघो का उल्लेख-मात्र है[२]।

पद्म पुराण के भूमिखड मे कहा गया है कि कुल-देवता गान सुन कर प्रसन्न होते हैं। सुरीला सगीत सुनकर शकर भगवान भी कठिन धरती पर उतर आते है। मनोहर गीत मे सभी रस पाये जाते है। शृगार आदि रसो का उत्स सगीत है। गीत के सहारे चारो वेदो की शोभा की अभिवृद्धि होती है। सगीत के द्वारा कुल-देवताओ को प्रसन्न किया जा सकता है—इसमे कोई सशय नही[३]।

वायु-पुराण में स्वर मडल, की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि सातो स्वर, तीनो ग्राम, २१ मूर्छना और ४९ तान उसके अन्तर्गत है। क्रम से सात स्वरो के नाम षड्ज, ऋषभ, गाधार, मध्यम, पचम, धैवत, और निषाद हैं। मध्यम, षड्ज और गाधार नाम के तीन ग्राम है। सौवीरी, हरिणास्या, कलोपनता, शुद्ध मध्यमा, शारगी, पावनी, दृष्टाका प्रमुख मध्यम ग्राम के २० अलग-अलग रूप है। उत्तर मद्रा, रजनी, उत्तरा, आयता, शुद्ध षड्ज आदि षड्ज ग्राम के १४ भिन्न-भिन्न अंग है। आग्निष्टोमिक, वाजपेयिक, पौड्रक, आश्वमेधिक, राजसूय, चक्रसुवर्णक, गोसव, महावृष्टिक, ब्रह्मदान, प्राजापत्य, नागयक्षाश्रय, गोतर, हयक्रान्त, मृगक्रान्त, विष्णुक्रात, सूर्यक्रात, सावित्र, अर्धसावित्र, सर्वतोभद्र, सुवर्ण, सुतद्र, विष्णु, वैष्णुवर, सागर, विजय, हस, अवाघ्य, विकल, उपनीत, विनत, श्री अभिरम्य, शुक्र, पुण्यारक प्रमुख गाधार ग्राम के १५ भेद हैं।

उत्तरादि स्वरो के अधिष्ठाता देवता ब्रह्मा है। हरिणास्या मूर्छना

१ १।२।२९–३१ २ २३।५१–५४ ३ ४६।२४–२७

के देवता इन्द्र, कलोपनता के मरुत्, शुद्ध मध्यमा के गधर्व और मार्गी के मृगेन्द्र है। मूर्छना रजोगुण से सबद्ध है, उसी से रजनी शब्द की व्युत्पत्ति हुई है। उत्तर मद्र नाम के ताल के देवता ध्रुव है। उत्तरायण के देवता पितर हैं। शुद्ध षड्ज स्वर का उपयोग कर महर्षि लोग अग्नि देवता की उपासना करते थे। इसलिये उपासना से सबद्ध स्वर का नाम शुद्ध-षड्जिक पडा है। मुनि-ऋषियो को बहकाने के लिये यक्षिणियाँ पचम स्वर की मूर्छना का उपयोग करती थी। इसलिये उस मूर्छना का नाम याक्षिका पडा। अहि मूर्छना सुनकर विषैले साँप तक स्तब्ध हो जाते है। प्रारभिक दशा मे वह जल के भीतर थी। वरुण ने उसका उद्धार किया था। किन्नर लोग चिडियो की चहक का अनुकरण करते हुए शकुन्तक मूर्छना का उपयोग करते थे। इसलिये उसका नाम शकुन्तक पडा। इसके अधिष्ठाता देवता गरुड हो गये। स्नातक ऋषियो का मन खीचने वाली मदनी मूर्छना के देवता विश्वेदेव हो गये। घोडो के चित्त को प्रसन्न करने वाली अश्वक्राता के देवता दोनो अश्विनी-कुमार हो गये। गान्धारी के देवता गधर्व और उत्तर गाधारी के वसु हो गये। षड्ज नाम की मुख्य मूर्छना के अधिदेवता अग्नि है और मदषष्ठा के देवता पचम है।

स्वरमडल का विशद वर्णन होने के बाद, उपर्युक्त पुराण में गीतालकार का ब्यौरा दिया गया है। पूर्वाचार्यों की सम्मति है कि उनकी सख्या ३०० है। उपयुक्त अक्षर और पदो को ठीक-ठीक क्रम से सजाने का नाम अलकार है। वाक्य और पदो के सटीक बैठाने से अलकार का स्पष्टीकरण होता है। गीतो में पद-योजना पूर्व और पीछे भी की जाती है। स्वरो के उत्स तीन है—वक्ष स्थल, कठ और मस्तक। वर्ण चार है—उनके नाम क्रम से स्थायी, सञ्चारी, आरोहण और अवरोहण हैं। स्वर के सचरण में एकरूपता होने से वह स्थायी, भिन्न आकार का होने से वह सचारी, चढाव होने से वह आरोहण और उतार होने से वह अवरोहण कहा जाता है।

अलकार चार है, अर्थात् स्थापनी, क्रमरजिनी, प्रमाद और अप्रमाद। जव कोई स्वर एक स्थान से निकल कर दूसरे किसी स्थान को छूता है, तव उस विकृत स्वर का नाम "उप्ट्रकला" है। आवर्त्त की निकासी और उलट-फेर मात्रानुसार करने की रीति है। जिस स्वर के विकास का क्रम मथर हो, उसे कुमार कहा जाता है। इसके अलापते समय आँखे सुनकारी जाती है और पुतलियो की चलाचल भी की जाती है। श्येन स्वर एक स्थान से निकल कर, वीच का एक स्थान छोड (एकान्तर), दूसरी कला-मात्रा में ठहरता है। श्येन स्वर के उत्तर भाग में अवरोह है तथा पूर्व भाग में आरोह वा चढाव है। सविन्दु स्वर एक-एक कला की मात्रा में विकसित होता है। विन्दु का सादा अर्थ कला है। यह वर्णान्त तक स्थायी होता है। कदाचित् असाववानी से स्वर-सवधी उलट-फेर हो जाता है और कभी-कमी जान-वूझ कर भी स्वर सववी अट-पट कर दी जाती है। पड्ज से लेकर कुल प्रवान स्वरो के वीच मे का एक-एक स्वर छोड कर "आक्षेप" और "आस्कन्दन" करना चाहिये। जव दो या तीन स्वरो के समिश्रण मे से एक को ले कर रगडा जाय, तव उसका नाम "आक्षेप" है। इसके विपरीत जव दो या तीन स्वरो की खिचडी पकायी जाय तथा किसी भी एक स्वर को प्रधानता न दी जाय, तव उसका नाम "आस्कन्दन" है।

तार के यत्रो में सचारी के दोनो स्वर कार्य-कारण-जैमे अन्योन्याश्रित है। उन दोनो में आक्षेप, अवरोह और प्रवाह सभी कुछ निहित रहते है। कला-स्थान, वीच में का एक-एक स्थान छोडकर वारह है। दो कलाओ की मिलावट से घ्रासित स्वर होता है। इसके अलापने से स्पष्टत दो स्वरो की विद्यमानता मालूम हो जाती है तथा आठ स्वरो को छूट दी जाती है। तार वा डुग्गी से निकला हुआ अवरोह वीरे-वीरे मूल स्वर का अनुयायी वन जाता है। चार कलाओ के समन्वय से मक्षिप्रच्छेदन नाम का गण वनता है।

सस्थान, प्रमाण, विकार और लक्षण—इन चारो गुणो के होने से

उसे गीतालंकार कहा जाता है। आभूषणादि पहन लेने से जैसे मानव का रूप खुलता है, उसी प्रकार अलंकारों को सजाने से संगीत की समृद्धि बढ़ती है। परन्तु उसे ठीक स्थान में सजाने का काम कलाकार का है। कलाई में पहनने की गुजरी यदि कोई स्त्री पैरों में पहने और कमर में पहनने की करधनी सिर पर लपेटे तो उसे देख कर लोग हँसेंगे। इसलिये गायकों को चाहिये कि वे नियत समय पर, विधानानुसार राग अलापें और अलंकारों का उपयोग करें।

षड्ज स्वर से संबद्ध २३ उलट-पुलट कर, ८० प्रकार के होते हैं। षड्ज स्वर के तार, मध्य और मंद्र नाम के तीन विभाग होते हैं। षड्ज और मध्यम ग्रामों की शैली प्रायः एक-सी है। तार और मंद्र स्वर के छः प्रकार के मान होते हैं। स्वरों का भरपूर आलाप किये जाने पर ही वह स्वर ठीक-ठीक गाया गया, ऐसा माना जाता है। स्वरों की उलट-फेर करने से वह "वहिर्गीत" कहा जाता है। इसके अधिष्ठाता पंच देवता हैं। शब्दात्मक संगीतों के आदि, मध्य और अंत में अलंकार खपा कर नाना प्रकार की तर्जें बनायी जाती हैं। पद और क्रम के अनुसार सातों स्वरों के मेल-जोल से और-और स्वर बनते हैं। गांधार स्वर के अनुसार चार मंद्रक गाये जाते हैं। पंचम, मध्यम, धैवत, निषाद और षड्ज स्वरों में उन्हीं मंद्रकों का उपयोग होता है, किन्तु मंद्रकों के बीच में दूसरा स्वर ठूसना ठीक नहीं है। कंठ संगीत और बाँसुरी बजाते समय प्रयुक्त गांधार घराने के दो अपरान्तिक और आठ ह्यशुल्ल नाम की शैलियाँ देख पड़ती हैं। पदों के तीन तथा संगीत के सात भेद होते हैं। गांधार तथा मध्यम स्वरों के भेद एक ही प्रकार के होते हैं। संगीत की जो-जो विशिष्टताएँ ऊपर बतायी गयी हैं, उन्हें सातों स्वरों में लागू करना चाहिये। सम के रूप में जो मान है, वही संगीत का अंग माना जाता है। द्वितीयादि ताल उसके चरण और मात्रा उसकी नाभि मानी जाती है। संगीत की प्रकृति के अनुसार कभी-कभी मात्राएँ छिपी हुई रहती हैं। संगीत के जिस भाग में मात्रा के अनुसार ताल

रखा नही रहता, उस अधूरे पाद वाले भाग को मतिवीरणा कहा जाता है। जिस भाग में उचित सख्या मे मात्राओ की गड़बडी देख पडे उसे यान कहा जाता है। यदि उपर्युक्त आठ प्रकार के ह्यशुल्ल और दो अपरान्तिको के गाते समय, दूसरे पाद से गान आरभ किया जाय, तो चौथा पाद विस्तृत होकर पाँचवें पाद में पूरा होता है। ऐसी दशा में बीचोबीच सम होता है। उत्तर और दक्षिण मद्रक के चौथे पाद में समाप्ति होती है। प्रारभ में कलाओ का ध्यान (अनुयोग) करना, तब उनमें चेतना भरना (बुद्धि), और अन्त मे पैरो को छूना (आहरण) चाहिए। दो वा अधिक स्वरो की मिलावट से पताकारिष्ट बनता है। तीन प्रकार की शैलियो की मिलावट से दक्षिणा बनती है। सौवीर नाम की आठ प्रकार की मूर्छना, क्रम मे सातो स्वरो को खीच तान कर विकसित होती है[1]।

स्कद-पुराण के काशी-खड में सात स्वर, तीन ग्राम, २१ मूर्छना, ४९ तान, १०१ ताल, छ राग और प्रत्येक राग की पाँच-पाँच पत्नी-रागिनियो का उल्लेख हुआ है। फिर यह भी कहा गया है कि कही-कही राग-रागिनियो की कुल सख्या ६५ है[2]। उसी पुराण के प्रभास-क्षेत्र माहात्म्य में तीन ग्राम, सप्त स्वर, तीन यति, सात धातु, छ जाति, तीन गुण, चार वर्ण, सात अलकार और तीन लयो का उल्लेख किया गया है[3]।

पुन स्कन्द-पुराण के नागर-खड में राग-रागिनियो का सविस्तार वर्णन हुआ है। कहा गया है कि श्री प्रमुख छ. राग शकर भगवान के पुत्र हैं। वे निराकार हैं। प्रत्येक राग की छ पत्नियाँ हैं। पितामह ब्रह्मा इनके जनक हो गये। श्री राग शकर भगवान के ज्येष्ठ पुत्र हैं। दोनो भौहो के बीच में उनका स्थान है। श्री राग परब्रह्म से सायुज्य देने वाला है। दूसरा राग वसन्त है। उसकी उत्पत्ति भगवान की कमर

---

१ अध्याय ८५–८७ २ ७४।७०-७३ ३ ११।१८२-१८५

से हुई। जीवो के कठ की नलियो में विशुद्धि नाम का जो चक्र है, वही से उसका निर्गम होता है। तीसरा राग पचम है। आदिदेव के हृदय से उसकी उत्पत्ति हुई। अनाहत चक्र से वह निकलता है। वह मुक्ति दिलाने वाला है। भगवान के शुक्र से नट-नारायण और नील राग उपजे।

ऊपर कहा जा चुका है कि प्रत्येक राग की छ-छ पत्नियाँ है। भगवान के मस्तक से रागिनियो का जन्महु आ। गौरी, कोलाहली, धीरा द्राविडी, माल कौशिकी और गाधारी—ये छ श्री राग की पत्नियाँ है। आदोला, कौशिकी, चरम मजरी, गडगिरि, देवशाखा और रामगिरि, वसन्त राग की पत्नियाँ है। त्रिगुणा, स्तभतीर्था, अहिरी, कुमकुमा-वैराटी और सामवेरी पचम राग की पत्नियाँ है। भैरवी, गुर्जरी, भाष वेलावली, कर्णाटकी और रक्त हसा, भैरव राग की पत्नियाँ है। वगा मधुरा, कामोदा, पक्षिनायिका, देवगिरि और देवाली, मेघ राग की पत्नि हैं। त्रोटकी, मोडकी, नरादुम्बी मह्लारी और सिधु मह्लारी नट-नारायण की पत्नियाँ है[1]।

सामान्यत देखा जाता है कि ललित-कला के विशेषज्ञ प्राय स ोगिता की भावना द्वारा प्रेरित होकर एक दूसरे से कधा मिलाकर क ही करते। प्रत्युत अहमन्यता के कारण कलाकार लोग अपने को इत डा मानने लगते है कि तुलना में और और गवैये स्वभावत घटिया ि होते है। इस प्रकार उस्तादो का आपसी मनमुटाव सनातन है। मुसिल और गुत्तिल नाम के दो वीनकारो के आपसी वैमनस्य वर्णन हो चुका है। अवदानशतक में इस प्रकार की एक घटना का हुआ है।

कहा गया है कि उन दिनो ... का केन्द्र ... थी। वहाँ ५०० गाधर्विक रह, ... जित

१ २५४।२७-४५

महानुभवता का वर्णन हो या दुःखद दृश्यों की भरमार हो प्रायशः सवेरे खेले जाते थे।

इस प्रकार अभिनय का काल मनोविज्ञान-सम्मत और मानव की सदैव बदलती हुई मानसिक दशा पर आधारित होता था। पुण्य-कथा और वियोगात्मक दृश्यों को हृदयगम करने के लिये प्रातःकाल इसलिये प्रशस्त माना गया, यतः रातभर चैन से सोने के बाद मानव का हृदय ऐसे रसो को अनायास ग्रहण करने के लिये प्रस्तुत रहता है। शौर्य-वीर्य प्रदर्शित करने वाले नाटको का अभिनय तीसरे पहर इसलिये करने की रीति थी, यतः सवेरे का काम-धधा निबटाकर भोजनादि कर लेने के अनन्तर मानव-हृदय ऐसे रसो के उपभोग करने का उपयोगी बनता है। उसी प्रकार प्रेमसबधी नाटक इसलिये रात को खेले जाते थे, यतः दिन भर के कठोर परिश्रम करने के बाद मानव का मन विनोद के लिये स्वभावतः स्त्रियो का सग चाहता है।

रगालय

प्रारभ में मदिरो से सलग्न दालान (नाट्य मदिर), राजभवन के आँगन तथा कदाचित् गिरिगुहा (जैसे रामगढ पहाडी की कदरा)[1] मे नाटक खेले जाते थे। नाट्यशास्त्र में तीन प्रकार की नाट्यशालाओ का वर्णन हुआ है—आयत (विकृष्ट), चौकोर (चतुरस्र) और त्रिभुज के आकार (त्र्यस्र) की। बडे-बडे रगालयो की लबाई ३२ गज और चौडाई १६ गज से अधिक नही होती थी। ऐसे रगालयो में ४०० से अधिक दर्शक नही बैठ सकते थे। रगालय के तीन खड होते थे—(१) नेपथ्य वा वेश-घर, जहाँ पात्र-पात्रियाँ साज-सिगार करती थी, (२) रगपीठ, जहा नाटक खेला जाता था, और (३) रगमडल, जहाँ दर्शक बैठते थे। रगपीठ के पीछे नेपथ्य होता था। आकाशवाणी आदि वही से सुनाई जाती थी। नेपथ्य की चौडाई ४ गज होती थी। रगपीठ वा रगशीर्ष की दोनो

---

१ आर्कियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, १९०३-४, पृष्ठ १३०

सजावट पर भी पर्याप्त आलोकपात किया गया है। ग्रंथकार ने भावग्राही और समझदार दर्शकों के उपस्थित रहने पर बहुत बल दिया है। उसकी सम्मति है कि नाटक की सफलता बहुधा दर्शकों पर निर्भर है। नाटकों की रचना और अभिनय से संबद्ध छन्द, अलंकार, नृत्य-गीत और वाद्य-वादन का भी सविस्तार विवेचन हुआ है। थोड़े में, नाट्यामोदी दर्शक और अभिनेताओं के लिये भरत का नाट्यशास्त्र एक बेजोड़ रचना है।

अंत में ग्रंथकार ने कहा है कि सैद्धान्तिक की हैसियत से मैंने थोड़े-से निर्देश-मात्र दिये, नाट्यकला के चरम अधिकारी जनता-जनार्दन हैं। मानव की रुचि बहुमुखी होने के कारण सैद्धान्तिक के बनाये हुए विधि-विधानों का सभी स्थानों में अक्षरशः पालन नहीं किया जा सकता। इस प्रकरण को समाप्त करने के पहले प्राचीन काल में जिस रीति से नाटक खेला जाता था, उसका दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

ऐसा लगता है कि प्रारंभिक दशा में धार्मिक नाटक ही अधिकतर खेले जाते थे। इनमें प्रायशः देवताओं के माहात्म्य का वर्णन होता था। क्रमशः भिन्न-भिन्न रस उत्पन्न करने के लिये नाटकों में पार्थिव विषयों का समावेश होने लगा। ऐतिहासिक काल में लोक-शिक्षा, विशुद्ध आनन्द के परिवेशन अथवा देव-देवियों के माहात्म्य को प्रसारित करने के लिये बहुधा नाटक रचे जाने लगे। प्रतिदिन नाटक खेलने की प्रथा नहीं थी। केवल धार्मिक उत्सव, विवाहोत्सव अथवा माननीय अतिथियों के आने पर ही नाटक खेले जाते थे। धार्मिक उत्सवों के अवसर पर विशेष समारोह के साथ नाटक खेले जाते थे।

विषय-वस्तु के साथ ताल-मेल रखकर नाटक खेलने का समय नियत किया जाता था। पुण्याख्यानों का अभिनय प्रातःकाल किया जाता था। शौर्य-वीर्य की कहानियाँ तथा ऐसे नाटक जिनमें यंत्र-संगीत की अधिकता हो, तीसरे पहर खेले जाते थे। भाव-प्रधान तथा प्रेम सम्बन्धी नाटक सामान्यतः रात को खेले जाते थे। ऐसे नाटक, जिनमें नायक की

महानुभवता का वर्णन हो या दु खद दृश्यो की भरमार हो प्रायश सवेरे खेले जाते थे।

इस प्रकार अभिनय का काल मनोविज्ञान-सम्मत और मानव की सदैव वदलती हुई मानसिक दशा पर आधारित होता था। पुण्य-कथा और वियोगात्मक दृश्यो को हृदयगम करने के लिये प्रात काल इसलिये प्रशस्त माना गया, यत रातभर चैन से सोने के वाद मानव का हृदय ऐसे रसो को अनायास ग्रहण करने के लिये प्रस्तुत रहता है। शौर्य-वीर्य प्रदर्शित करने वाले नाटको का अभिनय तीसरे पहर इसलिये करने की रीति थी, यत सवेरे का काम-धधा निवटाकर भोजनादि कर लेने के अनन्तर मानव-हृदय ऐसे रसो के उपभोग करने का उपयोगी वनता है। उसी प्रकार प्रेमसवधी नाटक इसलिये रात को खेले जाते थे, यत दिन भर के कठोर परिश्रम करने के वाद मानव का मन विनोद के लिये स्वभावत स्त्रियो का सग चाहता है।

रगालय

प्रारभ में मदिरो से सलग्न दालान (नाट्य मदिर), राजभवन के आंगन तथा कदाचित् गिरिगुहा (जैसे रामगढ पहाडी की कदरा)[1] में नाटक खेले जाते थे। नाट्यशास्त्र में तीन प्रकार की नाट्यशालाओ का वर्णन हुआ है—आयत (विकृष्ट), चौकोर (चतुरस्र) और त्रिभुज के आकार (त्र्यस्र) की। वडे-वडे रगालयो की लवाई ३२ गज और चौडाई १६ गज से अधिक नही होती थी। ऐसे रगालयो में ४०० से अधिक दर्शक नही वैठ सकते थे। रगालय के तीन खड होते थे—(१) नेपथ्य वा वेश-घर, जहाँ पात्र-पात्रियाँ साज-सिंगार करती थी, (२) रगपीठ, जहा नाटक खेला जाता था, और (३) रगमडल, जहाँ दर्शक वैठते थे। रगपीठ के पीछे नेपथ्य होता था। आकाशवाणी आदि वही से सुनाई जाती थी। नेपथ्य की चौडाई ४ गज होती थी। रगपीठ वा रगशीर्ष की दोनो

---

१ आर्कियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, १९०३-४, पृष्ठ १३०

बगलो में मत्तवारणी नाम के दो छोटे-छोटे चबूतरे (?) होते थे। प्रत्येक चबूतरे के चारो कोने एक-एक खभा होता था और ऊपर छाजन। यह बहुधा आजकल के "गेट विंग्स" का काम करती थी। इस विचार से मत्त-वारणी रगमच की एक कक्षा मानी जाती थी। कभी-कभी मत्तवारणी पर खडे होकर अभिनेता लोग व्याख्यानादि देते थे। रगपीठ की सतह दर्पण-जैसी समतल होती थी। इसकी चौडाई भी चार गज होती थी। रगमडल २४ गज होता था। नेपथ्य और रगपीठ के बीच एक भीत होती थी। इसमें दो दरवाजे होते थे। इनपर दो कामदार परदे लटका दिये जाते थे। इन परदो को हटाकर पात्र-पात्रियाँ रगपीठ मे प्रविष्ट होती वा प्रस्थान करती थी। इन दोनो कपाटो के बीच कुतप वा बजवैये लोग बैठते थे। सामान्यत उनका मुख पूर्व की ओर होता था।

रगमडल की सजावट अनोखी होती थी। शोभा के लिये लकडी की बनी हुई पशु-पक्षी और मानव-प्रतिमाएँ रखी जाती थी, खिडकियाँ जाली-दार होती थी, खभे कामदार होते थे और दर्शको के बैठने के लिये मच होते थे। नाट्यशालाएँ कदाचित् दुमजिली भी होती थी। खिडकियाँ छोटी होती थी जिससे वायु की अधिकता के कारण अभिनेताओ के द्वारा कहे हुए शब्द और बजाए हुए सुर उड न जायँ। भीत पर नाना प्रकार के चित्र खीचे जाते थे। आजकल की भाँति चित्रित परदो का उपयोग नही होता था। शेक्सपीयर के काल में इग्लैण्ड में भी चित्रित परदो का उपयोग करने की रीति नही थी। वस्तुत प्राचीन काल के नाटको का अभिनय देख और सुनकर आनन्द उठाने के लिये दर्शको को अधिक-से-अधिक सचेत रहना और कल्पना-शक्ति का सहारा लेना पडता था। ऊपर कहा जा चुका है कि नाटक खेलते समय चित्रित परदो का उपयोग नही किया जाता था। इस कमी की पूर्ति के लिये पात्र-पात्री वार्त्तालाप वा सुष्ठु वर्णन के द्वारा दर्शको के मन में वही भाव जागरित करने का प्रयत्न करते थे। उत्तररामचरित मे दण्डकारण्य के दृश्य का वर्णन करते समय इस उपाय के द्वारा काम लिया गया है। पुन दर्शको के हृदय में नाटकोक्त

रस भरने के लिये अलग-अलग रंग की वेश-भूषा तथा साज-सिंगार का उपयोग होता और अभिनय-कला पर अधिक भरोसा रखा जाता था।

नाट्यशास्त्र में अभिनय के चार भेद बताये गये हैं—आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। आंगिक अभिनय की व्याख्या करते हुए भरत मुनि ने एक-एक अंग को विशेष रीति से हिलाने से जो अर्थ निकलता है, उसका विशद वर्णन किया है। सिर हिलाने के १३ भेद बतलाये गये हैं और साथ ही यह भी बताया गया है कि किस मनोभाव को प्रकट करने के लिये किस तरह सिर हिलाना चाहिए। उसी प्रकार आँखों को भिन्न-भिन्न रीति से हिलाने से दर्शकों के मन में जिन-जिन रसों और भावों की उत्पत्ति होती है, उसका ब्यौरा दिया गया है। इसके बाद आँखों की पुतली, गरदन, गाल और ठुड्डी को विशेष-विशेष रीति से हिलाने से जो-जो भाव व्यक्त होता है, उसका वर्णन किया गया है।

सभी अभिनेताओं को विदित है कि नाटक खेलते समय मनोभाव व्यक्त करने के लिये हाथ और उँगलियों से अधिक से अधिक काम लेना पड़ता है। रंगमंच के कलाकारों के लिये हाथ और उँगलियों का हिलाना-डुलाना अनिवार्य है। यदि कोई कलाकार ऐसा न करे तो दर्शक लोग कह बैठेंगे कि अमुक पात्र ने अभिनय किया, जैसे काठ या पत्थर की बनी हुई मूर्ति! वस्तुतः दर्शकों को प्रभावित करने के लिये रंगमंच पर हाथ और उँगलियों का हिलाना परमावश्यक है। हस्त-संचालन के महत्त्व पर विवेचन करते हुए भरत मुनि ने उसके तीन भेद बताये हैं असंयुक्त, संयुक्त और नृत्य-हस्त। एक ही हाथ के संचालन का नाम असंयुक्त, जैसे शुक-तुण्ड, पद्मकोश इत्यादि—इन ठवनों के लिये एक ही हाथ के संचालन की आवश्यकता होती है। जब दोनों बाहों से काम लेना पड़े, तब उस मुद्रा का नाम संयुक्त दिया गया है, जैसे अञ्जलि, स्वस्तिक इत्यादि। नाचते समय जिस रीति से हाथों का उपयोग करना पड़े, उनका नाम नृत्य-हस्त दिया गया है, जैसे हंसपक्ष, चतुरस्र प्रभृति। जैसे प्रतिदिन की जीवन-यात्रा में करना पड़ता है, उसी प्रकार रंगमंच पर पैरों का अत्यधिक

उपयोग होता है, सारे शरीर का सचालन पैरो के द्वारा नियन्त्रित होता है। पैरो के सचालन के भी तीन भेद बताये गये हैं। इनके नाम क्रम से पादचारी, चारी और मडल है। रगमच पर द्वन्द्व-युद्ध दिखाते समय दोनों योद्धा मारू बाजे के साथ चारी और मडल दोनो का उपयोग करते हुए लडते रहते थे। नाट्यशास्त्र मे सामाजिक स्थिति, वय, जाति और मानसिक अवस्था के अनुसार पात्र-पात्रियो का पादक्षेप और गति का वेग नियन्त्रित करने के लिये बहुत-से नियम दिये गये हैं।

वाचिक अभिनय के विवरण मे स्वर, स्थान, वर्ण, काकु, लय प्रभृति विषयो का विशद विवेचन हुआ है। इस प्रसग मे छन्द, अलकार, वृत्त इत्यादि पर भी विचार किया गया है। सामान्यत दर्शको के मन मे जो रस जागरित करने का अभिप्राय होता था, स्वर का स्थान उसी के अनुसार उच्च, मध्यम वा नीचा होता था। जैसे दूरस्थित किसी व्यक्ति को बुलाते समय स्वर सिर से निकलता है, वही मनुष्य यदि स्वल्प दूर पर हो, तो उसको बुलाते समय स्वर वक्षस्थल से निकलता है, और बगल के किसी मनुष्य से बात-चीत करते समय स्वर, कठ से निकलता है। उसी प्रकार प्रेमिक वा विदूषक का अभिनय करते समय स्वर उदात्त (ऊँचा) और स्वरित, तथा वीर-रस का अभिनय करते समय उदात्त और कम्पित स्वर का उपयोग करने का सुझाव दिया गया है। इस प्रसग मे और भी निर्देश दिया गया है कि हास्य अथवा प्रेम-रस का अभिनय करते समय मध्यम लय, दु खद अभिनय करते समय विलबित और अन्यान्य रस प्रकट करने के लिये द्रुत लय का उपयोग किया जाय।

इसके अतिरिक्त रगपीठ के कक्षा-विभाग नाम का सर्वसम्मत एक अभिसमय था। ऐसे अवसरो पर दर्शको को कल्पना-शक्ति का घोडा अधिक से अधिक दौडाना पडता था। पात्र के २।४ धाप आगे बढने या पीछे हटने से दृश्य का परिवर्तन हो जाता था, जैसे शकुन्तला के प्रारम्भिक अक में राजा का जब प्रवेश होता है, तब वह कण्व ऋषि के आश्रम से बहुत दूर पर था। बाद मे कुल चार ही कदम नाप कर वह कहता है—

"आश्रम का प्रवेश-द्वार आ गया, भीतर चला जाय!" उन्ही नाट्य-धर्म के अनुसार एक मकान के बहिर्भाग और अन्त पुर एक ही साथ दिखाये जाते थे। जिन अभिनेताओ का प्रवेश पहले होता था, वे मकान के भीतर है, ऐसा मान लिया जाता था। पीछे आने वाले घर के बाहर है, ऐसा सोचा जाता था। उसी प्रकार दूर की यात्रा सूचित करने के लिये पात्र १०।२० धाप चला जाता था और थोडी दूर की यात्रा की सूचना वह ३।४ कदम चल कर दे देता। यही कारण है कि प्राचीन नाटको को अको में विभक्त किया गया है। किन्तु गर्भाक वा दृश्य कम ही देखने मे आते है।

कभी-कभी रथ, पुष्पक विमान, हाथी प्रभृति के प्रतिमान रगमच पर प्रदर्शित किये जाते थे, जैसे मृच्छकटिका नाटक मे मिट्टी की बनी हुई छोटी-सी गाडी दिखाई जाती थी। उसी प्रकार उदयन-चरित मे हाथी का प्रतिमान रगमडल पर लाया जाता था।

सात्त्विक अभिनय का सबध बहुधा मनोविज्ञान से है। इस प्रसग में कहा गया है कि जब तक अभिनेता मन-ही-मन यह न सोचे कि उस समय वह वास्तव में वही चरित्र है, जो वह बना है, तब तक वह दर्शको के मन को नही प्रभावित कर सकता। दूसरे शब्दो मे जब तक अभिनेता स्वय आवेश में न हो, तब तक वह देखने वालो मे कैसे भाव या रस जागरित कर सकता है?

कहने का आशय यह है कि प्राचीन काल के भारतीय नाटको की निम्नाकित विशिष्टताएँ थीं—

(१) अभिनय के समय अभिनेता और दर्शको मे पूरी सहयोगिता स्थापित करने का यत्न किया जाता था,

(२) अभिनय का रस लेने के लिये दर्शको को बौद्धिक और कल्पना शक्ति का भरसक उपयोग करना पडता था; तभी वे नाटक देख (केवल सुन कर नही) कर आनन्द उठा सकते थे,

(३) प्राचीन भारतीय नाट्यकला का मनोविज्ञान से घनिष्ठ सबध था।

उपर्युक्त प्रकार के वातावरण में प्राचीन काल मे नाटको का अभिनय होता था। ऊपर भरत-रचित लक्ष्मी-स्वयवर नाटक के अभिनय का उल्लेख हो चुका है। नीचे और भी कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

हरिवश का कथन है कि वज्रनाभ की राजधानी में अपरिचित व्यक्ति घुस नही पाते थे। अतएव प्रद्युम्न, साम्ब प्रमुख यादव नवयुवको ने एक नाटक मडली का सघटन कर प्रारभिक दशा में, राजधानी के बाहर-ही-बाहर नाटको का अभिनय किया। दर्शको ने जब उनकी बडी प्रशसा की तब वज्रनाभ ने उनको अपने दरबार में बुला भेजा। वज्रनाभ के कहने ने उन्होने रामायणोक्त कुछ घटनाओ का अभिनय किया[1]। नाट्यकला में उनकी पटुता देख कर वज्रनाभ ने समारोह के साथ महाकालोत्सव किया। उक्त अवसर पर मडली वालो ने गगावतरण और रभाभिसार नाम के दो नाटक खेले थे[2]। इन उपायो के द्वारा वज्रनाभ को चकमा देकर एक दिन प्रद्युम्न उसके अन्त पुर में घुस पडा।

अवदान शतक में कहा गया है कि कुछ यायावर नटो ने राज-दरबार में "बुद्ध नाटक" का अभिनय किया था। इसमें नाट्याचार्य स्वय बुद्ध बना था[3]।

भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार शिव जी के समक्ष देवताओ ने अमृत-मथन और त्रिपुरदाह खेले थे[4]।

महावश का कथन है कि लका में महाचैत्य की नीव रखते समय दुष्टगामणी के आदेश से ऐसे बहुत-से दृश्यो का अभिनय किया गया था जिनका सबध भगवान तथागत के जीवन वा बाद की घटनाओ से था[5]।

पुन पद्मपुराण के भूमि-खड का कथन है कि ययाति के दरबार मे वामन-चरित का अभिनय हुआ था। काम और रति ने इसमें भाग लिया था[6]।

उपर्युक्त नाटको मे से हरिवश तथा पद्मपुराण के भूमि-खड में

१ २।९३।६–८ ३ अवदान ७५। ५ अध्याय ३० (हिन्दी सस्करण)
२ २।९३।१८–३७ ४ ४।२, १० ६ ७६।२३

उल्लिखित नाटको का कुछ-कुछ विशद विवरण उपलब्ध है। इन विवरणो पर ध्यान देने से ऐसा प्रतीत होता है कि ये पूर्णांग भारतीय नाटक थे। गगावतरण के बारे में कहा गया है कि प्रारभ में प्रद्युम्न ने उदात्त स्वर से नान्दीपाठ किया था। रभाभिसार में नायक के अतिरिक्त विदूषक आदि भी थे। पुन. वामन-चरित के सपर्क में कहा गया है कि उसमें सूत्रधार, राज-वयस्य (विदूषक) नटी जैसी पात्र-पात्रियो ने काम किया था। अन्त में इन नाटको के बारे में कहा गया है कि इनमें नृत्य और अभिनय दोनो कलाओ का समावेश था तथा वे "प्रकरण" थे। भरत मुनि ने नाटक के जो दस भेद बताये है, उसके अन्तर्गत "प्रकरण" को भी स्थान मिला है। मालविकाग्नि-मित्र में नाटक की प्रशसा में कहा गया है कि भिन्न-भिन्न रुचि के लोगो को सतुष्ट करने का साधन एकमात्र नाटक है[1]। केवल गुणी आचार्यों से ही नाटक खेलने की कला सीखी जाती थी[2]। ललित कला को विकसित करने के लिये राष्ट्र की ओर से प्रोत्साहन दिया जाता था[3]। दो आचार्यों में जब तनातनी चल रही थी, तब शासक से निवेदन किया गया कि वह स्वय प्राश्निक (निर्णायक) का काम करें। राजा ने पण्डिता कौशिकी को वह काम सौंपा[4]।

सब बातो पर विचार कर विष्णुधर्मोत्तर पुराण ने सम्मति प्रकट की है कि औरो की नकल उतारने का नाम नाटक है। नृत्त उसे सँवार कर उसकी शोभा बढ़ाता तथा परिपूर्ण बनाता है[5]।

सुरा-पान

ऊपर कहा जा चुका है कि प्राचीन काल में ब्राह्मणो को छोड लगभग सभी वर्ण और जाति के लोग बेखटके सुरा-पान करते थे। वस्तुत. सुरा-पान की प्रथा इतनी व्यापक थी कि सम्भ्रान्त वश की महिलाए भी नि-सकोच सुरा-पान करती थी और इसके लिये उनकी निन्दा नहीं होती थी। कालिदास के कुमारसभव से पता लगता है कि उन दिनो लोगो को ऐसी धारणा थी कि सुरापान करने से रमणियो की कमनीयता

१ पहला अक २ पहला अक ३ पहला अक ४. पहला अक ५. ३।२०।१

की अभिवृद्धि होती है। इसलिये महिला-समाज मे सुरा-पान करने की प्रथा चल पडी[१]। मालविकाग्निमित्र मे रानी इरावती इसी विचार से सुरापान करके पति-देवता की खोज में निकल पडी थी[२]।

रामायण का कथन है कि समुद्र-मथन के प्रसग मे वरुण महाराज की पुत्री वारुणी की उत्पत्ति हुई थी। दिति के पुत्रो ने उसे अपनाने से इनकार किया, तव अदिति के पुत्रो ने उसे सादर अपनाया। तभी से देवताओ का नाम "सुरा" और दैत्यो का नाम "अ-सुरा" पडा। देवताओ की देखा-देखी कालान्तर में मानव-समाज मे भी सुरापान करने की प्रथा चालू हो गई[३]।

सस्कृत वाङ्मय से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल मे अनेक प्रकार के मद्य बनाये जाते थे। रामायण का कहना है कि वशिष्ठ के निर्देश मे शवला नाम की कामधेनु ने ईख, मधु, धान का लावा (लाज), मैरेय आदि से बनी हुई नाना प्रकार की मदिराए उत्पादित की थी[४]। रामचन्द्र और लक्ष्मण के साथ सीताजी जव वन को जाती थी, तब सकुशल घर लौटने पर उन्होंने हजार घडा सुरा और उचित मात्रा मे पुलाव चढा कर गगापूजन करने की मनौती की थी[५]। रावण की पानशाला के बारे में कहा गया है कि वह सदैव मधु और आसव[६] के अतिरिक्त शर्करासव, माध्वीक, पुष्पासव, फलासव[७], वारुणी[८] और सीधु[९] से ठसाठस भरी रहती थी। इनके अतिरिक्त रामायण मे सौवीरक नाम की एक प्रकार की मदिरा का भी उल्लेख हुआ है[१०]। सभवत यह मदिरा सौवीर की उपज थी। महाभारत में उपर्युक्त प्रकार के मद्यो के अतिरिक्त कैलातक मधु नाम की एक प्रकार की सुरा का उल्लेख हुआ है[११]। अनुमान किया जाता है

१ ३।३८
२ तीसरा अक
३ १।४५।३६-३८
४ १।५३।२
५ २।५२।८८
६ ५।६।४२
७ ५।११।२३
८ [illegible]
९ ६।७५।१५
१० ३।४७।४५
११ ७।११०।६१

कि यह मदिरा बडी उग्र थी। युद्ध-क्षेत्र में पैठने के पहले सात्यकि ने इसका सेवन किया था। कहा गया है कि पीते ही उसकी आँखें लाल और मारे नशे के विकल हो गयी। हरिवंश में कादम्बरी[1] का उल्लेख हुआ है। बलराम जी प्रायश इसका उपयोग करते थे।

विष्णु धर्मशास्त्र में गौडी, माध्वी और पौष्टी नाम की तीन प्रकार की सुरा और माधुक, ऐक्षव, टाक, कौल, खार्जुर, पानस, मृद्विकार, माध्वीक, मैरेय और नारिकेलज नाम के दस प्रकार के मद्यो का उल्लेख हुआ है[2]।

सामान्यत मदिरा सोने और चाँदी के घडो मे रखी रहती थी। पीने वाले भाजन[1], करक[2] वा चषक[1] में उडेल कर नाना प्रकार की नमकीन चाट, फल, हरी सब्जी और खट्टे और तीते अचार आदि के साथ पीते थे[3]। महाभारत में सोने के ढक्कनदार सुरापात्र का उल्लेख[1] है।

रामायण मे रावण के रनिवास मे स्थित पान-शाला का विशद वर्णन हुआ है। मालाओ से सजा हुआ वह भवन छोटे-छोटे कमरो मे विभक्त था। उन मे मनचाही कुल सामग्री उपलब्ध थी। पलग और आसनो की बात ही क्या! नाना प्रकार के बने-बनाये पशु-मास के अतिरिक्त वहाँ विविध प्रकार के खाने के पदार्थ रखे हुए थे। फर्श पर आभूषण, उत्तरीय, पान-पात्र, तश्तरी और टूटी हुई मालाएँ बिखरी पडी हुई थी। वहाँ क्रम मे नाना प्रकार की सुरा और मद्य रखे हुए थे। स्फटिक, सोने और चाँदी के बने हुए प्याले और चाँदी के बने हुए पान-पात्र भी वहाँ रखे हुए थे। पुन पान-शाला के भीतर चारो ओर इधर-उधर सोने, चाँदी और मणि के बने हुए प्याले देख पडते थे। कोई उबलती हुई सुरा से लबालब भरा हुआ था, कुछ आधे खाली थे, कुछ बिलकुल खाली थे,

---

१ २।८८।११-१२ ४ रामायण ५।११।२५
२ ७२।८१-८३ ५ रघुवंश, ७।४९ ७ ४।१५।१६
३ रामायण, ५।११।२४ ६ कामशास्त्र, १।४।३७-३९

शेष किसी ने चखा तक नहीं था। नशे में चूर होकर सुन्दरी ललनाएँ या तो पलँग पर लेटी हुई थीं अथवा फर्श पर लोट-पोट करती थीं[१]।

वानर लोग भी मद्यपान के आदी थे। किष्किधा की सडक और गलियाँ मैरेय और मधु की महक से महमहाती थी[२]। लक्ष्मण जी से मिलने के पहले तारा देवी ने कस कर सुरापान कर लिया था, जिससे वह सहम-सकोच मे परे हो गयी थी[३]।

सामाजिकता के सुख का अनुभव करने के अभिप्राय से कभी-कभी सगे-प्यारे एकत्र होकर सुरापान करते थे। कामसूत्र से ज्ञात होता है कि नागरिक लोग कभी-कभी मन बहलाने के लिये "समापानक" नाम की पानगोष्ठी का आयोजन करते थे। इनमें गणिकाएँ भी उपस्थित रहती थी[४]। पुन उसी ग्रथ का कहना है कि उन दिनो राज-भवनो में प्रायश "आपानकोत्सव" मनाया जाता था। राजाओ के रनिवास में बाहरी प्रेमिको के पैठने के प्रसग में वात्स्यायन सुझाव देते हैं कि ऐसे अवसरो पर वे बेखटके घुस जा सकते है[५]।

विद्याधर लोग बडे पानासक्त होते थे। कभी-कभी स्त्री-पुरुष एकत्र होकर सुरापान का रस लेते थे। रामायण में कहा गया है कि हनुमान जी महेन्द्र पर्वत पर खडे होकर एक छलाग में समुद्र के उस पार लका पहुँच गये थे। कुदान लेते समय वह पहाड इतना जोर से हिल उठा था कि विद्याधर लोग जो उस समय वहाँ आपानकोत्सव मना रहे थे, पहाड के अचानक हिल उठने से हकबका कर तितर-बितर हो गये। उनके आसन, सुरा रखने की मटकियाँ, सोने और चाँदी के प्याले, खान-पान की कुल सामग्री और बैल की खाल की बनी हुई कटोरियाँ धरती पर लोटने लगीं[६]।

नागानन्द नाटक में मलयवती के विवाह के उपलक्ष्य में विद्याधर

---

१ ५।११।१३-३६ ३ ४।३३।४० ५ ५।६।२८
२ ४।३३।७ ४ १।४।३७-३८ ६ ५।१।२२-२४

लोगो ने समारोह के साथ पानोत्सव मनाया था जिसमे विद्याधरियो की पी हुई मदिरा का बचा-खुचा भाग विद्याधरो ने बड़े चाव से पिया था[1]।

दशकुमारचरित का कहना है कि विदर्भ-राज अवन्तीवर्मन् ने पान-गोष्ठी की बैठक की थी। इसमे सस्त्रीक सामन्त रजवाड़े और प्रमुख नागरिक उपस्थित थे[2]।

मार्कण्डेय-पुराण मे उत्तानपाद के पुत्र उत्तम के बारे में कहा गया है कि राजा अपनी पत्नी बहुला पर लट्टू था। परन्तु देवी अपने पति के अगाध प्रेम का प्रतिदान देने से हिचकती थी। सदैव वह कुछ तटस्थ-सी रहती थी। फिर भी राजा काय, मन और वचन से तद्‌गतचित्त रहा करता था। एक दिन रात को राज-भवन में समारोह के साथ महफिल हो रही थी, नर्त्तकियाँ नाच-गान कर रही थी, बैठक मे सामन्त रजवाड़े और दरबारी लोग उपस्थित थे। सभी रुक-रुक कर सुरापान कर रहे थे। तब राजा मदिरा से लबालब भरा हुआ पान-पात्र देवी को देने लगा। किन्तु देवी ने प्याला लिया नहीं। राजा के हठ करने से उसने मुह फेर लिया। देवी के बरताव से राजा झल्ला उठा और द्वारपाल को बुला कर तत्क्षण रानी को वन में छोड आने की आज्ञा दी[3]।

पद्मपुराण के उत्तर-खड में भव शर्मा नाम के एक ब्राह्मण के बारे मे कहा गया है कि वह गणिकाओ का ससर्ग करता, मास खाता, मद्य पान करता, पराये माल पर हाथ साफ करता और आखेट का भी बडा प्रेमी था। एक दिन अपने सगी-साथियो की मडली में बैठकर उसने भरपेट ताडी पी ली। इस पर उसको बदहजमी हो गयी और कुछ दिनो में वह इस ससार से चल बसा। मरने के बाद वह ताड का पेड बना[4]।

विष्णुपुराण में कहा गया है कि एक दिन बलराम जी ग्वालो के साथ वृन्दावन के वन-खड में रमते-फिरते थे। यह देखकर वरुण देव ने उन्हे छलने के लिये अपनी बेटी वारुणी को वहाँ रवाना किया। आदेश मिलते

---

१ तीसरा अक २ २।८।२६५ ३ ६९।३-२० ४. १८२।२-५

ही वारुणी उस वन में स्थित किसी कदम के पेड के एक कोटर मे जा समायी। वारुणी के वहाँ पैठते ही पेड के खोखले में से मदिरा की धार बहने लगी। यह दृश्य देखते ही बलराम जी की पुरानी लत फिर से जग उठी। उन्होने सगे-प्यारो के साथ मिल कर जी भर कर वारुणी का सेवन किया। मद बहुत चढ जाने पर बलरामजी अपने हल से यमुना नदी को निजी खाई से अपने निकट खीच लाये और फिर नहा कर घर लौटे[1]।

कालिदास के नाटक और काव्यो में जनता द्वारा नशीले पदार्थों के उपयोग के बारे मे स्पष्ट उल्लेख है[2]। देवी इन्दुमती महाराज अज के मुह से छुये हुए आसव बडे चाव से पीती थी[3]। रघु के दिग्वजयी सैनिक महेन्द्र पर्वत पर नारियल से बनी हुई मदिरा पीये थे[4]। शकुन्तला नाटक मे विदित होता है कि सडक के किनारे कलवरिया होती थी (शौण्डिकापणम्)[5]।

दशकुमार-चरित में ढिठाई के साथ सुरापान की प्रथा की सराहना की गयी है। चिकनी-चुपडी बातें कह कर विहारभद्र अवन्ती कुमार को समझा रहा है कि सुरापान करने से बहुत-से रोग छू नही पाते, यह अभ्यास मानव-हृदय में अहमन्यता की भावना जागरित कर उसे दुर्भाग्य के साथ लडने का बल देता है, स्त्री-ससर्ग करने की वासना जग उठती है, पाप-पुण्य का विचार लुप्त हो जाता है, पियक्कड बहुधा बातूनी हो जाते है, इसलिये एक दूसरे पर विश्वास करने लगते है, नृत्य-गीत के शौकीन बनते है। वह पीने वाले को हृदय का उदार बनाती है तथा भय और नैराश्य को मिटा दे कर बल-वीर्य को बढाती है[6]।

इसके विपरीत धर्म-शास्त्र और पुराणो में इस प्रथा की स्पष्ट शब्दो मे निन्दा की गयी है तथा पुराणो में इसकी बुराइयाँ दर्शायी गयी है। मार्कण्डेय-पुराण का कथन है कि एक दिन बलरामजी स्त्रियो के साथ

---

१ ५।२५।१–१५
२ कुमार सभव ४।१२, ८।८०
३ रघुवश, ८।६८
४ रघुवश, ४।४२
५ छठा अक
६ २।८।२६४

रैवनक वन में रमते-फिरते थे। एक स्थान में उन्होने देखा कि कोई सूत ब्राह्मस्थान पर बैठा कथा बांच रहा था और उसे घेर कर बैठे हुए सैकडो ऋषि-मुनि लीन-लीन होकर सुन रहे थे। बलरामजी उस समय कादम्बरी पान कर मस्त थे। रेवती प्रमुख देवियो के साथ लडखडाते हुए वह वहाँ पहुँच गये। उनको देखते ही कुल ऋषि-मुनि उठ कर खडे हो गये। किन्तु ब्रह्मा के आसन पर बैठा सूत अपने स्थान से उठा नही। उसकी ढिठाई देखकर बलरामजी विगड गये और तत्क्षण उन्होने उसकी हत्या कर दी। इस अपराध के लिये उन्हे ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त करना पडा[1]।

स्कन्दपुराण के प्रभास-क्षेत्र-माहात्म्य का कहना है कि यादवो का जो गृह-युद्ध छिडा था जिसके कारण वे बिलकुल मर-मिट गये, उसका श्रीगणेश भी एक पान-गोष्ठी में हुआ था[2]।

ऊपर कहा जा चुका है कि ब्राह्मण लोग किसी भी दशा मे सुरापान नही करते थे। रामायण में मद्यप ब्राह्मण अनार्य के बराबर माना गया है[3]। मत्स्यपुराण का कथन है कि पहले पहल शुक्राचार्य ने ब्राह्मणो पर यह प्रतिबंध लगाया था[4]। विष्णु-धर्मशास्त्र का विधान यह है कि ब्राह्मणो के लिये दसो प्रकार के मद्य अपवित्र है, परन्तु क्षत्रिय, वैश्य आदि इनका उपयोग कर सकते है[5]। पद्मपुराण के स्वर्ग-खड मे ब्राह्मणो के लिये मद्यपान करने, छूने और उसे देखने तक की मनाही की गयी है[6]। भूलकर मद्यपान कर लेने पर भी ब्राह्मणो को कठोर-से-कठोर प्रायश्चित्त करना पडता था। स्कन्दपुराण के नागरखड मे चण्ड-शर्मा नाम के एक श्रोत्रिय ब्राह्मण के बारे में कहा गया है कि रात को वह अपनी रखनी के यहाँ सोया हुआ था। आधीरात को मारे प्यास के उसकी नींद अचानक खुल गयी। उसके पानी माँगने पर वेश्या ने

---

१ ६।३४-४५ ३ २।१२।७८ ५ २२।८३

२ २३।७।५६ ४ २५।५९-६२ ६ २८।८

रुपया देता था, उसी के साथ उसका नाम-मात्र का विवाह कर देती थी। ऐसे पतियो के साथ वह लडकी एक वर्ष रहती थी। फिर वह मनमानी करती थी। यदि ऐसा पति नही मिलता था, तब छडी वा तलवार के साथ ब्याह कर वह लडकी को मनचाहे नागर के साथ जुटा देती थी[१]।

यदि धन कमाना हो तो वेश्या को ऐसा नागर फँसाना चाहिये जो स्वतत्र हो, धनी हो, उच्च पदाधिकारी हो, जिसका धनागम आसानी से हुआ हो, जो किसी रमणी को अपनाने के लिये औरो से होड करता रहे, जो अपने सौंदर्य का अभिमानी हो, घमडी, हिजडा, खर्चीला, एकमात्र पुत्र, पाखडी वा वैद्य हो। इसके विपरीत जो वेश्या सच्चा प्रेम और नाम कमाना चाहती है, उसे ऐसे नागर की खोज में रहना चाहिये जो कुलीन हो, विद्वान् हो, कवि हो, हाजिर-जवाब हो, कलावत हो, हृदय का उदार हो, दानशील हो, मिलनसार हो, सुरापी न हो और मुह-फट हो।

किसी नागर को प्रेम-जाल मे फँसाने के लिये प्रारभिक दशा में मालिश करने वाले सवाहक, गधर्व वा मुसाहब के द्वारा उसके मन की थाह लेनी चाहिये। फिर अपना प्रेम जतलाने के लिये किसी दूती को भेजना चाहिये। क्रमश वह दलाल मेंढे या मुर्गे की लडाई दिखाने के बहाने नागर को उस वेश्या के यहाँ ले जाय। नागर के वहाँ पहुचने पर पान-सुपारी और माला-चदन आदि की भेंट कर उसकी आवभगत करना चाहिये तथा उसके मन-बहलाव के लिये ऐसे आमोद-प्रमोद का प्रबध करना चाहिये, जिसमें उसकी स्वाभाविक रुचि हो। नागर के घर लौटने पर उसके यहाँ बराबर कुटनी या चतुर दासी को भेजते रहना चाहिये। कभी-कभी भेंट की लेन-देन भी करनी चाहिये। अन्त में एक दिन वह वेश्या स्वय दूती के साथ नागर के यहाँ चली जाय। इस प्रकार याता-यात होते रहने मे एक दूसरे के प्रति अनुरक्ति होना स्वाभाविक है। तभी कायिक ससर्ग किया जा सकता है।

---

१ ७।१।१३-२२

नागर को उपर्युक्त ढग से जाल मे फँसाने के बाद उसके साथ पति-व्रता स्त्री-जैसा बरता जाय। दिखाने के लिये वह उस पर बिलकुल लट्टू हो जाय। उसके बल-वीर्य की बार-बार सराहना करे, उससे कलाओ का अध्ययन करे, नागर चाहे कुछ भी क्यो न कहे, हाँ मे हाँ मिलाती जाय, जब वह छीके या बहुत समय तक लगातार हँसता रहे तो जोर से "जीव" कहे, उसके समक्ष किसी प्रतिद्वदी पुरुष की प्रशसा न करे तथा गाते समय गीत में उसका नाम खपाने का यत्न करे। उसकी प्रवृत्ति वा रुचि के साथ मेल रख कर चले और लेने-देने के बारे मे नागर के साथ वाद-विवाद न करे।

नागर से धन झँसने के दो उपाय है। एक तो बँधी रकम जो पहले से तय कर ली जाय, दूसरी वह रकम जो बुद्धिमानी मे निश्चित रकम के अतिरिक्त ली जाय। नीचे इस प्रकार के कुछ तिकडम दिये जा रहे है।

मिठाई वाले, फलवार, बनिये, माली, अत्तार प्रमुख पावनादारो को नागर के आगे रुपया देने लगना, व्रतादि रखने, सडको के किनारे पेड लगाने, मदिर, पोखरे, तालाब आदि बनाने तथा दान-पुण्य करने का बहाना करना, कपडे-गहने आदि चोरी जाने का मिस रचना, घर मे आग लगने वा भीत के धँस जाने का बहाना करना, रुपये-पैसे की कमी होने से उपहारादि देने की असमर्थता के कारण किसी सगी-सबधी के ब्याह के अवसर पर न जाने की गप रचना, नियमित खर्च मे कटौती करने का बहाना करना, मित्रो के द्वारा अड़ोस-पडोस की और और दारवनिताओ की आय का परिमाण सुनाना इत्यादि।

विरक्त नागर के लक्षणो की चर्चा करते हुए वात्स्यायन ने कहा है कि वह नियत रकम से कम देने लगता है, वेश्या के विपक्षियो से नाता जोडता है, बाते अनसुनी कर देता है; वादे पूरा नही करता, वेश्या के समक्ष मित्रो के साथ सज्ञा-भाषा में बोलने लगता है, रात को वेश्या के यहाँ रहता नही, इत्यादि।

निर्धन नागर को धता बताने के नीचे लिखे हुए सुझाव दिये गये

हैं—नागर के विरोधियों के साथ हेल-मेल करने लगना, जो काम करने में वह मना करे, उसी को बार-बार करना, ओठ चबाते हुए नाराजी प्रकट करना, बात-बात में धरती पर पैर पटकना, जो विषय उसे आता नही, उसी की चर्चा छेडना, जो विषय उसे आता हो, उसे बीच में काटना, उसके बडो के साथ मिलते-जुलते रहना, नागर के प्रति तटस्थता अपनाना, उसके आने पर औरो के साथ हँसी-मजाक करते रहना, शारीरिक ससर्ग के समय पूर्णतया उदासीन रहना, इत्यादि।

देश की दशा, जनता की आर्थिक दशा, अपनी पटुता और कला-कुशलता पर विचार करके पण्य-स्त्रियो को अपना शुल्क निर्धारित करना चाहिये। यदि कई गाहक एक साथ पहुच जायें तो जो नकद रुपया दे या जो अपने गाँव का हो, उसी को प्राथमिकता देनी चाहिये। खर्चीले गाहक से प्रेमी नागर को अविमान दिया जाय। कमाई के रुपये पण्य-स्त्रियाँ दान-पुण्य करने, अपनी साज-सजावट करने, मकान बनाने, साज-सामान के मोल लेने और नौकर-चाकर रखने में खर्च करें।

निम्न श्रेणी की पण्यस्त्रियो का नाम कुम्भदासी था। वे मामूली किन्तु साफ-सुथरे वस्त्रादि पहने, दो-चार सोने के गहने पहने, भर पेट खाँय-पियें तथा आवश्यकतानुसार पान-फूल-सुगधित द्रव्यादि मोल लें। कामसूत्र मे कुम्भदासी को छोड पण्य-स्त्रियो के आठ प्रकार के भेद बताये गये है। इनके नाम ऊपर दिये गये है। इनके अतिरिक्त कुछ भोगी एकत्र होकर साझे की रखनी रख लेते थे। ऐसी वारवनिताओं का नाम वात्स्यायन ने गोष्ठी-परिग्रहा दिया है। उसने ऐसे कामिनियो को साझे-दारो के बीच होडा-होडी की भावना उभारकर सभी से रुपया झँसने का सुझाव दिया है। अन्त में वात्स्यायन ने कहा है कि इस रीति से वेश्या-धर्म का पालन करते हुए पण्य-स्त्रियाँ अपनी कामना पूरी करें और साथ-साथ अर्थ कमावे[1]।

---

[1] कामसूत्र, वैशिक अधिकरण

पुराणो में गणिका तंत्र

लोक-शिक्षा की दृष्टि से इस काल मे मकलित धर्मशास्त्र और पुराणो मे वारवनिताओ की बात छेडी गयी है, इस प्रसग में परोक्ष रीति से उनकी विशिष्टता, मागलिकता, आचार-पद्धति, कर्तव्य इत्यादि का विशद वर्णन हुआ है। साथ ही उनके नागर, तथा जिस दशा मे होने के कारण कुछ नारियो को वेश्या-वृत्ति अपनानी पडी थी, उस पर भी थोडा-वहुत आलोकपात हुआ है। नीचे मक्षेप में इन्ही सव विषयो का विवरण दिया जा रहा है।

पद्मपुराण के उत्तर-खड मे कहा गया है कि पण्य-स्त्रियाँ सामान्यत "लोकयात्रानुवर्त्तिनी" होती है अर्थात् वे स्वतन्त्रता के साथ काम न कर, जनता का मुह-देखा काम करती है[1]।

मत्स्यपुराण का कहना है कि प्राचीन काल में देवासुर युद्ध के निलसिले मे अनगिनत असुर, दैत्य, दानव और राक्षस काम आये। इनके रनिवास की स्त्रियाँ देवराज इन्द्र के विधानानुसार पण्य-स्त्रियाँ बनी। इम समय इन्द्र ने निर्देश दिया था कि वे राजधानी और देव-पुरियो मे रहे और राजा-रक सभी के साथ एक-सा बर्त्ताव करें। जो भी पुरुप शुल्क दे तत्काल के लिये वह उनका पति बने---चाहे वह कितना ही दरिद्र क्यो न हो। किन्तु अभिमानी गाहको से ये दूर रहें। पुण्य काल आने पर गौ, भूमि, सोना इत्यादि दान करे तथा ब्राह्मणो का कहना मानें[2]। अपना मन भरने के लिये वे अनग व्रत[3] तथा वेश्या-व्रत[4] का पालन करे।

याज्ञवल्क्य के धर्मशास्त्र और मत्स्य-पुराण में वारनारियो से मवद्ध कुछ विधि-विधान दिये गये है। याज्ञवल्क्य ने निर्देश दिया है कि यदि कोई वेश्या शुल्क लेकर नागर के साथ ससर्ग करने मे अनिच्छा प्रकट करे, तव उन्हे दूना हर्जाना देना पडेगा[5]।

---

१ १७५।४१ ३ ७०।३३ ५ २।२९५

२ ७०।२६ ४ पद्म-पुराण, सृष्टि-खड, २३।१०२

मत्स्य-पुराण का विधान है कि वेश्यागामी ब्राह्मण पर उतना ही अर्थ-दंड किया जाय जितना उसने शुल्क दिया है। शुल्क लेने के बाद यदि कोई वेश्या दूसरे के यहाँ जाय तो उससे शुल्क की दूनी रकम जुर्माने के स्वरूप में वसूल की जाय। एक के लिये पण्य-स्त्री मँगवा कर यदि दूसरा कोई उसे अपनावे तो ऐसे व्यक्ति पर एक माशा सोना जुर्माना किया जाय। वेश्या मँगवा कर यदि उसका उपयोग न किया तो मँगवाने वाले पुरुष से शुल्क का दूना बतौर जुर्माने के वसूल किया जाय। यदि कई पुरुष एक ही वेश्या का संसर्ग करें तो हर एक से दूना शुल्क उगाहा जाय[1]। मत्स्य-पुराण में यात्रा करते समय वेश्या का दर्शन सगुन माना गया है[2]।

मार्कण्डेय पुराण का कथन है कि प्रतिष्ठानपुर में कुशिक वंश का एक कोढ़ी ब्राह्मण रहता था। उसकी धर्मपत्नी बड़ी पतिव्रता थी। वह प्राण-पण से पतिदेवता की सेवा-शुश्रूषा करती और सभी प्रकार से उसका मन भरने का प्रयत्न करती। रोग के कारण ब्राह्मण का मिजाज चिड़चिड़ा हो जाने पर भी वह उससे कभी रूठती नहीं थी वा सेवा करने में चूकती नहीं थी। एक दिन उस कोढ़ी ने हठ किया कि मुझको अमुक वेश्या के घर ले चलो, जब से मैंने उसको देखा तब से वह मेरे जागरण की चिन्ता और नींद का सपना बन गयी है। उससे न मिलने से मैं जिऊँगा नहीं।

पतिदेवता को इस प्रकार कराहते सुन कर वह पतिव्रता बहुत घबरा गयी। रात होने पर कुछ रुपये अपने साथ ले और कोढ़ी को कंधे पर बैठा कर वह देवी उसी वेश्या के घर की ओर बढ़ चली। उस समय आकाश में बादल छाया हुआ था और रुक-रुक कर बिजली चमक रही थी। ऐसी दशा में वह साध्वी दोनों भुजाओं से टटोलती हुई राज-मार्ग से होती हुई उस वेश्या के घर जा रही थी। दुर्भाग्य से उस

---

१ २२७।१४५–१५०　　　　२ २४३।१७

दिन उसी सडक के किनारे चोरी करने का आरोप लगाकर राजपुरुषो ने ऋषि माण्डव्य को सूली पर चढा कर छोड दिया था। टटोलते हुए जाते समय उस देवी के पति का पैर ऋषि के शरीर से अचानक टकरा गया। ऋषि ने बिगड कर अभिशाप दिया कि जिस व्यक्ति ने मुझे पैर से छुआ, सूर्योदय होते ही उसकी मृत्यु होगी। ऋषि के अभिशाप को बेकार बनाने के लिये उस पतिव्रता ने हठ किया कि न तो सूर्योदय ही होगा और न हमारे पति देवता स्वर्गवास सिधारेंगे। अत निरतर कई दिन सूर्य भगवान् दिखाई नही पडे। उधर यज्ञ-हवनादि क्रियाओ के ठप हो जाने से देवता लोगो में बडी बेचैनी फैली। निदान सती अनसूया के बिचवानी करने पर इस तना-तनी का निपटारा हुआ। सती अनसूया के अर्घ्य देते ही सूर्योदय हुआ। सूर्योदय होते ही उस कोढी ब्राह्मण का देहान्त हुआ। किन्तु अनसूया के तपोबल के प्रभाव से वह ब्राह्मण फिर जी गया और शरीर का स्वस्थ हो शतायु हो कर, जीवन का स्वाद लेने लगा[1] ।

पद्मपुराण के उत्तर-खड में भरतनाम का एक ब्राह्मण कहता है कि प्रभावती नाम की एक वार-विलासिनी की सोहबत में उसने सुरापान, चोरी, जुआ खेलना आदि कुल अपकर्म किये थे[2] । उसी पुराण के पाताल-खड में कहा गया है कि देवशर्मा नाम के एक ब्राह्मण ने वेश्याओ के ससर्ग में सुरापान किया था[3] ।

उसी पुराण के क्रियायोगसार खड मे राजा सुवर्ण के बारे मे कहा गया है कि वह एक बार उज्ज्वला नाम की एक गणिका के यहाँ गया हुआ था। माननीय अतिथि का स्वागत करती वह गणिका राजा के गले में चम्पा की माला डालने लगी। इतने में वह माला टूट गयी और कुल फूल छितरा गये। यह दृश्य देखते ही एकाएक राजा के मुह से निकल गया—ओ नमो नारायणाय! बस—उसके कुल पाप धुल गये[4]। फिर

---

१ १६।१४ २ २१८।३७-३८ ३ ५६।६९-७१ ४ ९।४८-५५

उसी खड का कहना है कि पुरुषोत्तम नगर में भद्रतनु नाम का एक श्रोत्रिय ब्राह्मण रहता था। क्रमश उसमें बुरी लतें आईं और वह स्वाध्याय, यज्ञ-हवन इत्यादि को तिलाजलि देकर मनमानी करने लगा। एक दिन पितृ-श्राद्ध करने के बाद माला पहन और चन्दन लगाकर वह अपनी रखनी के यहाँ पहुच गया और अपनी कृति की डींग हाँकने लगा। निदान उसकी रखनी ने बहुत कुछ समझा-बुझा कर अपने यहा से विदा किया। तभी से उसके जीवन की गति पलट गयी और वह भगत बन गया[1]।

जिन-जिन परिस्थिति मे होते हुए किसी किसी नारी ने वेश्यावृत्ति को अपनाया था, पुराणो में उसका भी वर्णन हुआ है। पद्मपुराण के क्रियायोगसार खड मे जीवन्ती नाम की एक वेश्या के बारे मे कहा गया है कि सयानी होते ही उसके पति का स्वर्गवास हो गया। विधवा होने पर वह मायके लौट आयी। कालान्तर मे उसका चरित्र बिगड़ा और वह अन्य पुरुषो की सोहबत करने लगी। यह देखकर जीवन्ती के पिता ने उसे घर से खदेड दिया घर से निकाल दी जाने पर वह धीरे धीरे वार-रमणी बन गयी[2]। उसी पुस्तक मे क्षेमकरी नाम की एक ब्राह्मणी के बारे में कहा गया है कि वह नव-यौवन मे विधवा हो गयी। वह कला-कुशल थी तथा उसके लडके-वाले भी नही थे। क्रमश उसका भी पतन हुआ। यह देखकर उसके सगे-प्यारो ने उसका बहिष्कार कर दिया। लाचार हो कर उसने वेश्यावृत्ति अपनायी और रति-विदग्धा नाम की एक गणिका के साथ हो गयी। इस प्रकार दोनो ने मिल कर बहुत धन कमाया[3]।

पुराणो का कहना है कि वेश्याएँ भी यदि सात्विक भावना द्वारा प्रेरित होकर किंवा अनजाने भी कोई व्रत रखे तो उन्हे मुक्ति मिल सकती है। पद्मपुराण के सृष्टि खड का कहना है कि अनगवती नाम की एक वार-वधू ने माघ महीने मे द्वादशी व्रत का पालन किया था। इस प्रसग मे उसने विष्णु भगवान् को सोने के गहने पहनाये और गुरु को शय्या और लवणाचल दान दिये थे[4]।

---

१ १३।८–५१ २ १४।१–२० ३ २०।२३–२९ ४ २०।२२–२३

उमी पुराण के ब्रह्मखड का कहना है कि चचलापागी नाम की एक पण्य-स्त्री गाहक फँसाने के तार मे किसी मदिर मे पहुची। वहाँ बैठे बैठे जब वह थक गयी, तब पान खाकर चूना अभ्यासानुमार मदिर की भीत-पर पोंछ दिया। वहाँ गाहक न मिलने के कारण वह नगर मे चली गयी। वहाँ अचानक एक पुराने गाहक से भेंट हो गयी और रात को किमी जगल मे दोनो ने मिलने का निश्चय किया। नियत समय पर वह वेश्या मकेत-स्थान पर पहुच गयी, किन्तु उसका नागर नही पहुचा। बहुत देर तक वह उसका आसरा जोहती रही। इस बीच वह एक वाघ का शिकार बनी। मरने के अनन्तर मदिर की भीत पर चूना पोतने के कारण वह स्वर्ग को सिधारी[1]। उमी खड मे लोलावती नाम की एक वेश्या के बारे मे कहा गया है कि औरो की देखा-देखी राधाष्टमी का व्रत रखने पर उसके कुल पाप धुल गये और अन्तत वह स्वर्ग सिधारी[2]।

उसी पुराण के क्रियायोगसार खड में चित्रपदा नाम की एक गणिका के बारे मे कहा गया है कि रतिशास्त्र में निपुण होने के कारण बाजार में उसकी बडी माग थी। कालान्तर मे वह एक शूद्र पर लट्टू हो गयी और वह उसकी रखेली बन गयी। एक बार एकादशी को उसे प्रबल ज्वर आया, इसलिये उसने दिन भर कुछ खाया नही। उनकी देखरेख करने में बहुत वझे रहने के कारण उस शूद्र ने भी कुछ खाया नही। रात को घी का दिया जला कर दोनो मारे ज्वर के प्रकोप के, भगवान् का नाम लेने लगे। दूसरे दिन तडके चित्रपदा का देहान्त हो गया। मारे दुख के उस शूद्र का भी दम छूटा। अनजाने एकादशी का व्रत रखने और भगवान् का नाम लेते हुए रात जागने के कारण दोनो अगले जन्म मे राजा रानी हुए[3]।

प्राचीन-काल मे मुख्यत लोक-शिक्षा के लिये पुराणो का सकलन हुआ था। अत वैद्य जैसे दवाई कडवी होने से उसके साथ शहद मिला

---

१ ६।१०–२३ २ ३।१३–३० ३ २३।३०–५८

पूर्णतया लोकतंत्र विराजता था। शकुन्तला नाटक में राजा का साला "गोह खाने वाले" एक मछुए के साथ मदिरा को साक्षी देकर अपनी मित्रता पक्की करता है।

(३) रोम में जिस प्रकार ग्लेडिएटरों का युद्ध आदि दिखाकर जनता का मन बहलाया जाता था, इस प्रकार के मनोरंजन के साधनों का प्रचार हमारे देश में कभी नहीं हुआ था। महाभारत के विराट पर्व में एक ही बार कहा गया है कि भीमसेन ने जब कुल मल्लों को पछाड़ दिया तब वह सिंह-व्याघ्र प्रमुख हिंसक जंतुओं से लड़कर दर्शकों का मनोविनोद करने लगा। स्यात् यह निरी कवि-कल्पना है, क्योंकि इस काल में रचित और किसी भी प्राचीन पुस्तक में इस प्रकार के युद्ध का उल्लेख नहीं हुआ है।

(४) आमोद-प्रमोद के साधन बहुमुखी होने पर भी जुए के सिवा और किसी भी क्षेत्र में अतिशयता किंवा अस्वाभाविक अनुरक्ति कदाचित् ही देखने में आती है। प्राचीन पृथिवी के लगभग सभी देशों में मनोरंजन के बहाने जब लोग पाशविक प्रवृत्तियों को चरितार्थ करने का नाम जीवित रहने का मजा चखना मानते रहे, जब तथाकथित सारे सभ्य संसार में अस्वाभाविकता की विकट ताडव-लीला निर्बाध चल रही थी, उन दिनों इस प्रकार की विशुद्धता, संयम और आत्म-नियंत्रण के उदाहरण कदाचित् ही देखने में आते हैं। भारतीय संस्कृति की यह देन निराली माननी चाहिये।

इस प्रकार अतिशयता का तीर काटते हुए और जीव-दया का कार्यत उपयोग करते हुए हमारे पूर्वज मनोरंजन के भिन्न-भिन्न साधनों के द्वारा अपनी भलाई के साथ-साथ समग्र विश्व—ब्रह्मांड की भलाई करने का प्रयत्न करते थे और प्राचीन भारतीय संस्कृति का मुख्य ध्येय भी यही रह चुका था।

---

(३)

परवर्त्ती काल में प्रचलित मनोरंजन के साधन

(५००–१२०० ई०)

सास्कृतिक रूप-रेखा

निदान पाँचवी शती के अतिम चरण मे, लडखडाते हुए गुप्त-साम्राज्य का विघटन हो गया। सातवी शती के प्रारभिक दिनो मे स्थानीश्वर के राजकुल का सितारा चमका। किन्तु चार दिन की चाँदनी की भाँति उजियारा होते देर नही कि वह सदा के लिये मिट गया। थोडे में राजनीति के क्षेत्र में पुष्पभूति के घराने की देन का कोई स्थायी परिणाम नही निकला।

हर्षवर्धन के स्वर्गवास के वाद भारत मे ऐसे चक्रवर्ती सम्राट् का आविर्भाव नही हुआ जो अपनी छत्र-छाया के अधीन अनगिनत छोटी-छोटी रियासतो को लाकर सारे देश के लिये एक केन्द्रीय शासन-तत्र स्थापित करता अथवा उनकी आपसी तनातनी की इति-श्री कर देश-वासियो के हृदय मे राष्ट्रीय एकता की भावना जागरित करता। राजनीति के क्षेत्र में एकता की कमी होते ही पश्चिमोत्तर के कोने से हूणो के पीछे-पीछे गूजर, आभीर, अरव, तुर्क प्रमुख विदेशी जातियाँ वारी-बारी से देश में घुस पडी। इनमें से हूण, गूजर जैसी जनजातियाँ तो कालान्तर में इस देश की रहन-सहन, रीति-रस्म तथा सस्कृति और सभ्यता अपना कर पक्की भारतीय वन गयी, परन्तु अरव और तुर्को की रहन-सहन तथा शिष्टता-सभ्यता विलकुल भिन्न प्रकार की होने के कारण उन्हे हमारे समाज में खपाया न जा सका। पूर्वजो की इस विफलता का परिणाम आज तक हम भोग रहे हैं।

किन्तु हमारे देश के प्रकृत इतिहास पर राजनीतिक उथल-पुथल की छाप कम पडी है। शरत्काल की मेघमाला के समान राजा महा-

राजे एकाएक गगन-मडल छा लेते थे, फिर हवा के झोके से अचानक वे तितर-बितर हो जाते थे। यहाँ तक कि महाप्रतापान्वित राजाधिराजो के नाम तक लोग भूल जाते थे। हमारे देश का असल इतिहास हमारे पूर्वजो की सास्कृतिक तत्परता की तख्ती पर सदा के लिये खुदा हुआ है। पुन चिर-काल सामाजिक स्वतत्रता होने के कारण इस दिशा मे कभी तत्परता की कमी नही होने पायी।

किसी चक्रवर्ती सम्राट् के न होने पर भी भिन्न-भिन्न प्रान्तो के अधिकतर शासक धार्मिक, प्रजापालक, साहित्य-प्रेमी तथा रचनात्मक कामो के पृष्ठ-पोषक थे । राज्यो की सीमा पर चाहे कितनी ही गडबडी क्यो न चलती रहे, भीतरी भागो मे सामान्यत अखड शाति विराजती थी। सर्वोपरि, सारे देश की सस्कृति और सभ्यता एक-सी थी। राजा चाहे किसी भी धर्म का अनुयायी क्यो न हो, वह धर्म के मामले मे सदैव सहिष्णुता से काम लेता, सस्कृत भाषा का पृष्ठ-पोषण करता, ज्ञान-विज्ञान और शिल्प-कला को बढावा देता तथा न्याय करने में चूकता नही था।

अत राजनीति के क्षेत्र में असफलता के बावजूद, उपर्युक्त काल के पूर्वार्ध में---लगभग नवी शती तक---सस्कृति के क्षेत्र मे बडी चहल-पहल देख पडती है। बौद्ध मत के अनुयायियो की देखा-देखी कालान्तर मे क्रम से वैदिक धर्म मानने वाले और जैनो ने अनायास तान्त्रिक रीति-नीति तथा पूजा-पद्धति को अपनाया। इस प्रकार प्रारभिक दशा में निगम और आगम मार्गों के बीच जो गहरी खाई थी, वह धीरे-धीरे पट गयी।

वस्तुत नैगम और आगमिक मार्गों में बहुत-सी ऐसी बातें थी जो सामान्य थी। वैदिक मार्ग के अनुयायी वर्णाश्रम प्रथा पर अत्यधिक बल देते थे। व्यावहारिक जीवन में तान्त्रिक लोग वर्ण-भेद की प्रथा मान कर चलते थे । वैदिक धर्म के अनुयायी जैसे ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ आदि चार आश्रम मानते थे, तान्त्रिक लोग उसी प्रकार साधना के तीन स्तर---पशु, वीर और दिव्य---मे विश्वास करते थे। इसके विपरीत सामूहिक

साधन-परिपाटी वा "चक्र" मे सम्मिलित होने पर यदि तान्त्रिक साधक जाति-विचार नही करते, तो वैदिक धर्म ने अत्याश्रमी वा परमहंस को मान्यता दी है तथा संघ के सदस्य बनने पर बौद्ध लोग भी जाति-विचार नही करते थे।

वीर्य-स्तंभन करने के बाद साधक जब पशु दशा को पारकर, वीर अवस्था में पहुँच जाता था, तब साधना के सिलसिले मे वह पद्मिनी जाति की शक्ति की खोज में रहता था। वहाँ भी वह कदाचित् जाति-विचार करता था। इनके अतिरिक्त श्रद्धा, यज्ञ-हवन, गुरुवाद, योग, जप, ध्यान, पूजा-पाठ प्रभृति—को दोनो मार्गों वाले सामान्यत मानते थे।

दोनो मार्गों के अनुयायियो में अन्तर इतना ही था कि वैदिक मत के मानने वाले मोक्ष प्राप्त करने के लिये कर्मकाण्ड के अनुयायी बन कर आत्मा को निर्मल बनाने की आवश्यकता पर बल देते थे, तो तान्त्रिक साधक, कुडलिनी को जागरित कर आत्मिक कायापलट करने के फेर मे रहते थे।

इस प्रसग में उनका सिद्धान्त था कि जाति वा लिंग मुक्ति के विषय में बाधक नही होती। अत. स्त्री, शूद्र, अन्त्यज आदि सभी इसी जन्म में मुक्ति प्राप्त कर सकते है। यहाँ स्मरणीय है कि वैदिक मत ने स्त्री-शूद्रो को मंत्रोच्चारण तथा यज्ञ-हवनादि करने से वंचित रख कर कार्यतः उन्हें इस जीवन में मुक्ति का अनधिकारी ठहरा दिया था। इसके विपरीत, तान्त्रिको ने स्त्री-शूद्रादि सभी को मन्त्रोच्चारण करने तथा चक्र में सम्मिलित होने का अधिकार दिया। और एक अन्तर यह था कि तान्त्रिको मे मन्त्र-गुप्ति नाम की एक प्रक्रिया थी, जिसे वैदिक मार्ग वाले नही मानते थे।

महायान मत के बौद्धो ने पहले पहल कुछ तान्त्रिक सिद्धान्तो को अपनाया था। बोधिसत्वो के त्याग का आदर्श उनकी सर्वश्रेष्ठ देन मानी जाती है। बोधिसत्वो के बारे मे कहा गया है कि वे अपनी मुक्ति के लिये बिलकुल चिन्ता नही करते थे। प्रत्युत, सारे संसार के जीवो को मुक्ति दिला कर वे अपनी मुक्ति की बातें सोचते थे। सुनकर आश्चर्य होगा कि यह सिद्धान्त मूलतः तान्त्रिक है। कालान्तर मे वज्रयान,

सहजयान, काल-चक्र-यान प्रमुख महायान मत की कई शाखाओ का सघटन हुआ जिनकी आधार-शिला स्पष्टत तान्त्रिक सिद्धान्त थे।

नालन्दा, विक्रमशिला और ओदन्तपुरी के विश्वविद्यालयो मे वैदिक सस्कृति के साथ-साथ तान्त्रिक सिद्धान्तो पर आधारित सभी "यानो" की शिक्षा दी जाती थी। वहाँ के दिग्गज विद्वान् दोनो का तुलनात्मक अध्ययन करते और जटिल प्रश्नो का वाद-विवाद के द्वारा हल किया करते थे। इन सब सार्वजनिक विद्या-केन्द्रो मे धर्मान्धता का नाम तक नही पाया जाता। यदि तान्त्रिक मत के आधारिक सिद्धान्त भ्रामक वा कुत्सित् होते तो विश्वविद्यालयो के पाठ्य-क्रम मे थोडे ही उन्हे स्थान मिलता ?

वैदिक मार्ग के अनयायी और बौद्ध मत के माननेवालो की तत्परता देखकर जैनमतावलवी भी इन्ही दिनो चेते। गुजरात, राजपूताना और दक्षिण में उन्होने बडी सरगर्मी दिखायी। जैन-दर्शन-शास्त्र के सकलन के साथ-साथ दक्षिण में दिगम्बर जैनो ने तीन पुराणो की रचना की। सर्वोपरि इन्ही दिनो पिछले दरवाजे से चुपके से तान्त्रिक मत ने पैठकर यन्त्र-मन्त्रादि की बेडी से जैन मत को भी जकड लिया।

क्रमश जैनमतावलवी शक्ति-उपासना करने मे पग गये। पदस्थ ध्यान करते समय जो बहुधा तान्त्रिक षट्चक्रवेध से मिलता-जुलता है, वे वर्णमयी देवता का चिन्तन करने लगे, वज्रयानी बौद्धो की देखा देखी उन्होने मलिन विद्या (?) और शुद्ध विद्या के सिद्धान्त अपनाये, साङ्-वर वे देवी सरस्वती जी की उपासना करने लगे तथा तीर्थंकरो के शासन-देवताओ के अस्तित्व में भी विश्वास करने लगे।

कहना अप्रासगिक न होगा कि शक्ति-पूजन के विधि-विधान पाश्चात्य देशो में भी प्रचलित है। वहाँ इस प्रथा का नाम "मेरियोलेट्री" है। इस पथ के अनुयायी मेडोना वा देवी मेरी को पूजते है। "मा-डोना" शब्द लाटिन है। इसका अर्थ है "हमारी देवी"। कैथोलिको के गिर्जा-घरो में प्राय मेरी की बच्चे को दूध पिलाती हुई मातृ-मूर्त्ति रखी रहती है।

देवी मेरी ईसा मसीह की कुमारी-माता थी। वह स्वर्ग-राज्य की महा-रानी मानी जाती है। कहा जाता है कि मेरियोलेट्री का प्रचलन पहले पहल मिस्र में हुआ था। बडे प्राचीन काल से मिस्र, की जनता शक्ति को पूजने वाली थी। उनकी महादेवी आइसिस् थी। ईसाई मत का प्रचार होने से वहाँ देवी आइसिस् को पूजने की प्रथा दवा दी गयी। परन्तु मिस्री लोग मन-ही-मन आइसिस् को पूजने के लिये तरसते थे। ५०० ई० के लगभग ईसाई मत को हटाकर आइसिस् मत फिर से चालू करने के लिये भारी आन्दोलन हुआ। अत. मिस्रियो को मनाने के लिये महापुरोहित सीरिल ने आइसिस् के वदले मेरी को पूजने की प्रथा चालू की थी। इस प्रकार ईसाई मत ने शक्ति-पूजन को मान्यता दी।

इसी काल में क्रम से दक्षिण मे कुमारिल भट्ट और शकराचार्य का आविर्भाव हुआ। दोनो फिर एक वार वैदिक धर्म को देश के आरपार फैलाना चाहते थे। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर कुमारिल ने कर्म-काड को नये सिरे से चलाना चाहा। इसके विपरीत भगवान् शकराचार्य ने ज्ञानकाड पर वल दिया। किन्तु तान्त्रिक वाढ़ के आगे कुमारिल से विशेष कुछ करते न वना। शकराचार्य ने जनता-जनार्दन का मन भरने के लिये शिव-पूजन का प्रचार किया।

पुन. इसी युग में आधुनिक काल के वैष्णव मत का पूर्वज, पाञ्च रात्र मत फिर से पनप उठा। वैष्णवो की भाँति पाँचरात्र मत के अनुयायी कैंकर्य वा दास्य भाव पर वल देते थे। पहले पहल इन्ही ने मुक्ति प्राप्त के लिये भक्तिवाद का प्रचार किया था। सहितादि वैदिक मूल-ग्रथो मे कही भक्ति शब्द का उल्लेख नही। अत प्रारभिक दशा मे पाचरात्र मत अवैदिक माना गया था। पाचरात्र मत का प्रचार मथुरा, सौराष्ट्र, गुजरात आदि प्रातो में जोरो से हुआ था। दक्षिण मे अलवार नाम के विष्णु-भक्तो ने भक्तिवाद का प्रचार किया। इन्ही दिनो पाचरात्र मत धीरे-धीरे सनातन धर्म में खप गया।

वैष्णव लोग यदि भक्ति-मार्ग पर चलने की सम्मति देते थे तो

पाशुपत मत वाले महेश्वरत्व वा शंकर भगवान् की सायुज्यता प्राप्त करने के लिये तरसते थे। उन दिनों गांधार, कश्मीर, राजपूताना, मालवा प्रमुख प्रांतों में पाशुपत मत का बहुत प्रचार था। दक्षिण में नयनमारों ने इस मत का प्रचार किया। पाशुपतों की साधना का ढंग बहुधा तान्त्रिकों से मिलता-जुलता था।

शैव, शाक्त, और वैष्णव तन्त्रों का आधारिक सिद्धान्त प्राय एक ही है। हां, अन्तर इतना ही है कि प्रत्येक सम्प्रदाय वाले अपने-अपने देवता को औरों से बढ कर मानते हैं। शैवतन्त्र के अनुसार पशु दशा से छुटकारा मिलने पर ही महेश्वरत्व की प्राप्ति हो सकती है, तो वैष्णवों की धारणा है कि जीते जी जीव को पशु दशा से बिलकुल मुक्ति नहीं मिलती। दूसरे शब्दों में वैष्णव लोग द्वैतवादी हैं, उधर तान्त्रिक अद्वैतवाद में विश्वास करते हैं।

इस युग में जितने भी धार्मिक आन्दोलन हुए, सभी की विशिष्टता यह थी कि वे स्त्री-शूद्रों से घृणा नहीं करते थे। उन्होंने उन्हें मन्त्रोच्चारण करने का अधिकार दिया, साधन-भजन करने की छूट दी तथा उनके लिये मुक्ति का द्वार भी खोल दिया। इसके विपरीत वैदिक धर्म ने उन्हें ये अधिकार न देकर कार्यंत स्त्री-शूद्रों को दलित वर्ग का सदस्य बना दिया था। इसी समय आबू पहाड पर के तथाकथित एक यज्ञ-कुंड में से ३६ कुलवाली राजपूत जाति की उत्पत्ति हुई। इस जाति का नये सिरे से संघटन करते समय गेहूं के साथ घुन भी मिला दिया गया। प्राचीन क्षत्रिय घरानों के साथ-साथ हूण, गूजर जैसी विदेशी और कुछ अनार्य जन-जातियां इसमें समेट ली गयी थीं। स्वार्थ के द्वारा प्रेरित होकर अधिकतम राजपूतों ने संकीर्ण विचार वाले वैदिक धर्म का तीर काट कर उदार मत वाले शैव और शाक्त मत को अपनाया। शासकों की पृष्ठपोषकता प्राप्त होने से इन मतों का व्यापक पैमाने पर प्रचार हुआ।

शक्ति-पूजा के विधि-विधान चालू हो जाने से स्त्री जाति को अधिक-से-

अधिक मान्यता मिलने लगी। देवी का प्रतीक मानते हुए कहीं सुहागिनों का पूजन होने लगा तो कहीं कुमारी कन्याएँ पूजी जाने लगीं। सामूहिक साधन परिपाटी या चक्र में सक्रिय भाग लेते हुए वह मंत्रोच्चारण भी करने लगी। सुहागिन गुरुआनी बन कर चेलों के कानों में मन्त्र फूकने लगी। अब स्त्रियाँ दलित वर्ग की नहीं रह गयीं। प्रत्युत तात्कालिक समाज में उन्होंने अपने लिये सम्मान का स्थान बना लिया था। लोग उन्हें देवी जी की जीती-जागती प्रतीक मान कर श्रद्धा और भक्ति की दृष्टि से देखने लगे थे।

किन्तु लगभग नवीं शती के बाद अयोग्य और अनधिकारी साधकों के चंगुल में फँस जाने के कारण तान्त्रिक साधना के क्रम में दुर्नीति और भ्रष्टाचार समाया। तब देवियाँ प्रेम की पात्री नहीं रहने पायीं। सुरापी साधक की कुत्सित् दृष्टि में नारी उपभोग की सामग्री हो गयी तथा तान्त्रिक-चक्र दुराचारी स्त्री-पुरुषों की मनमानी करने की बैठक हो गयी।

मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से काम और प्रेम में आकाश-पाताल का अन्तर है। काम में स्वार्थपरता, कायिक संसर्ग करने की उत्कट वासना और भावुकता कूट-कूट भरी रहती है तथा उसकी यह भी एक विशिष्टता है कि यह प्रवृत्ति कभी तृप्त नहीं होती। उधर प्रेम, स्वार्थपरता और दैहिक संसर्ग की वासना से परे है। प्रेम मानव के हृदय को उन्नत और उदार बनाता है। प्रेमिक अपना सब कुछ सानन्द प्रिय को देने के लिये तैयार रहता है, किन्तु विनिमय में कुछ भी नहीं माँगता। वह मानव-हृदय को विशुद्ध आनन्द से लबालब भर देता है जिससे सारी सृष्टि प्रेमिक की दृष्टि में अपने प्रीतम का जीता-जागता स्वरूप बन जाती है। इस लिये वह विश्व-ब्रह्माण्ड से प्रेम करने लगता है। परन्तु प्रेम के साथ भावुकता या मिलने से वह काम हो जाता है। हमारे अध्ययन-काल के अंतिम दिनों में ऐसा ही होने के कारण तान्त्रिक मत का नैतिक अधःपतन हुआ।

इस प्रकार आध्यात्मिक संसार में जब काम ने बलात् प्रेम का स्थान हड़प लिया, तब उसका प्रभाव लगभग दसवीं से बारहवीं शती के समाज,

कला-कौशल, वास्तु-विद्या और साहित्य पर भी पडा। बौद्ध विहार दुराचारियो के अड्डे बन गये थे। इनके विरुद्ध शकराचार्य ने आप्राण युद्ध किया था। पूर्वी प्रात के समाज में दुर्नीति की ऐसी बाढ आ गयी थी कि बारहवी शती में फिर से नये सिरे से उसका सघटन करना पडा। कला-कौशल के निदर्शन कम रह गये है। किन्तु पुरी मे जगन्नाथजी के मदिर पर की खुदाई का काम देखने तथा उस काल में पत्थर की बनी हुई टूटी-फूटी स्त्री-मूर्तियो का अध्ययन करने से रुचि-विकार का कुछ-कुछ परिचय मिल ही जाता है। कला के कलुषित होते ही साहित्य पर उसका प्रभाव पडा। काव्य और नाटको में आदि-रस का दौर दौरा स्थापित हो गया। कश्मीर से लेकर बगाल तक और गुजरात से लेकर दक्षिण तक के सभी कवि एक ही राग अलापते रहे। इनमें बगाल के गोवर्धनाचार्य और जयदेव, कन्नौज के राजशेखर और श्रीहर्ष, कश्मीर के दामोदर गुप्त, बिल्हण और क्षेमेन्द्र तथा दक्षिण के माघ के रचित काव्यो में आदिरस की प्रधानता देख पडती है। यहाँ तक कि गुजरात के हेमाचार्य भी इस दुर्बलता से परे नही थे।

आज-कल के दृष्टिकोण को अपना कर विचार करने से उपर्युक्त लेखको की रचनाए बिलकुल अश्लील मानी जायगी। किंतु हमें स्मरण रखना चाहिए कि श्लीलता का मान-दड परिस्थिति के अनुसार सदैव बदलता रहता है। आज जो आचार वा रीति-नीति परिस्थिति के अनुसार श्लीलता की विरोधी मानी जाती है, परिस्थिति के उलट-फेर के कारण उसी रीति-रस्म को मान्यता प्राप्त होती है। उदारहण के लिये परदा-प्रथा पर तनिक विचार किया जाय। आधुनिक काल की अधिकतर स्त्रियाँ परदा नही करती अथवा अनजान पुरुषो से बोलते-चालते सकुचाती नही। किंतु लेखक की बाल्यावस्था की बात है कि कोई भी कुलवधू ऐसा नही करती थी क्योकि इस प्रकार की कार्य-विधि की उन दिनो चाल नही थी। अभी तक बहुत-से प्राचीन-पथी सज्जन ऐसे

भी हैं जो परदा-प्रथा मान कर चलते हैं। उनकी धारणा है कि परदा समाप्त होने के वाद से समाज में भ्रष्टाचार समाया है। यद्यपि इस प्रकार की धारणाओ के समर्थन में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है, किंतु जिस विचार-वुद्धि के द्वारा प्रेरित होकर वे ऐसा कहते हैं, उसे ठुकरा देना भी सभव नही। मानव-समाज में चिरकाल भ्रष्टाचार रह चुका है तथा भविष्य में भी रहेगा। तथापि उनकी युक्ति मे जो इगित निहित है उस पर ध्यान देते हुए उनकी सम्मति का खडन-मडन नही किया जा सकता। वही वात विधवा-विवाह, स्त्री-शिक्षा जैसी कुछ विवादास्पद प्रथाओ पर लागू हो सकती है। फिर भी जो बुद्धिवाद की दुहाई देते हुए ताव के साथ कहते फिरते हैं—"हम समाज में प्रचलित विधि-विधान नही मानते, हम जो उचित समझते हैं, वही करेंगे" इत्यादि, वे जान-वूझकर मनमानी करने पर तुले हुए हैं। उनके लिये सामाजिक वधन नही रह जाता। अतः उनका स्थान समाज के वाहर है।

इस गाढे अधकार में आशा की झलक यह देख पडती थी कि उपर्युक्त लेखको की लेखन-शैली आजकल के दृष्टिकोण में कितनी ही दूषित क्यो न हो, वे कभी आदर्श से नही डिगे। दूसरे शब्दो में उन्होने कभी दुर्नीति को प्रश्रय नही दिया।

सर्वोपरि इसी काल में मेधातिथि, विज्ञानेश्वर और विश्वरूप जैसे धर्मशास्त्री हो गये, जिन्होने हमारे आदर्श का झडा किसी भी दशा में झुकने नही दिया।

साहित्यिक दिग्दर्शन

इस युग में भाषा-सवधी वडे-वडे परिवर्त्तन हुए। पालि साहित्यिक भाषा नही रह गयी। पालि हीनयान के अनुयायी वौद्धो की भाषा थी। हीनयानियों की अव कम चलती थी। इसलिये उनकी पवित्र भाषा पालि के साहित्यिक मूल्य पर भी वट्टा लगा। महायान वालो ने संस्कृत को अपनाया। प्राकृत भाषा की चर्चा भी कम होती गयी। जैन मत वालों

ने प्राकृत को अपनी पवित्र भाषा बनाया था। किंतु इन दिनो जैनियो ने भी सस्कृत को अपनाया। वाक्पति राज का गौडवहो काव्य, राजशेखर का कर्पूरमञ्जरी नाटक, इन्ही दिनो रचे गये। आचार्य हेमचन्द्र इस काल के सर्वश्रेष्ठ प्राकृत लेखक हो गये। उन्होने कुमारपाल-चरित काव्य के अतिरिक्त एक कोश और कई शास्त्र-ग्रथो की रचना की।

इन दिनो सस्कृत साहित्य की बडी श्रीवृद्धि हुई। बौद्ध, जैन तथा सनातनधर्म के अनुयायी अधिक-से-अधिक लेखको ने सस्कृत भाषा को अपनाया। इसके पहले सस्कृत शिष्टो की भाषा थी, किन्तु उन दिनो उसका कोई प्रतिद्वन्दी न होने के कारण वह राष्ट्र-भाषा बन गयी। इस युग में स्कद, ब्रह्म, भागवत प्रमुख कई महापुराणो के अतिरिक्त अधिकतर उपपुराण और कुछ धर्मशास्त्रो की रचना वा सकलन हुआ। इन धार्मिक ग्रथो के सिवा अनगिनत लौकिक ग्रथो की रचना हुई जिससे सस्कृत वाङ्मय की सर्वांगीण उन्नति हुई। सौभाग्यवश इस काल मे माघ, श्रीहर्ष, बिल्हण, क्षेमेन्द्र, हेमचन्द्र, जयदेव जैसे कवि, हर्षवर्धन भवभूति, राजशेखर, हनूमत्, भट्टनारायण, कृष्णमिश्र जैसे नाट्यकार, बाणभट्ट, सुबन्धु, सोमदत्त सूरि जैसे गद्य-लेखक, दण्डिन्, सोमदेव, क्षेमेन्द्र जैसे कथा-साहित्यिक, दामोदर गुप्त, गोवर्धनाचार्य प्रमुख काम-कला के प्रख्यात पारखी, राजशेखर, भोजराज जैसे आलकारिक, और भोजराज और चालुक्य वशी सोमेश्वर जैसे कला-कौशल और मनो-विनोद के साधनो के प्रवीण जानकारो का आविर्भाव हुआ था। इन लेखको के समवेत प्रयत्न से सस्कृत साहित्य की सर्वतोमुखी प्रगति हुई।

इस काल में सस्कृत भाषा में लिखित, महत्वपर्ण दो ही बौद्ध धार्मिक ग्रथो की रचना हुई। एक तो बुद्धघोष का रचित पद्य-चूडामणि काव्य और दूसरा क्षेमेन्द्र की अवदान-कल्पलता। शेषोक्त काव्य की अधिकतर सामग्री दिव्यावदान से ली गयी है।

मनोविनोद के साधनों से संबद्ध विषयों में इस युग की विशिष्टता यह है कि भागवत-पुराण में प्रसंगतः बालोपयोगी बहुत-से क्रीडा-कौतुकों के नाम आये हैं। इसी युग में पहले पहल "वनभोजन" शब्द का उपयोग हुआ है। यह प्रथा पुरानी थी, इसमें संदेह नहीं; परन्तु प्राचीन साहित्य में कहीं भी इस शब्द का उपयोग नहीं हुआ है। इसी काल में कवि-सभा, ब्रह्म-सभा, शास्त्र-विनोद जैसी सांस्कृतिक बैठकें करने की प्रथा चल निकली। किन्तु सबसे मार्के की बात यह थी कि जल-क्रीडा वन-विहार, उद्यान-यात्रा, दोला-केलि आदि जो प्राचीन काल में मन-बहलाव के विशुद्ध साधन मानी जाती थीं उनका बिलकुल काया-पलट हो गया। इस काल के उत्तर भाग में वे खेलाडियों की कामाग्नि को धधकाने की साधन बन गयी।

क्रीड़ा-कौतुक : बालोचित खेल-कूद—(अ) यष्टिकाकर्षण

आधुनिक काल के स्कूली बालकों को संघबद्ध होकर रस्सी खींचा-खींची करते बहुतों ने देखा है। इस खेल का अंग्रेजी नाम "टग्-अफ्-वार" है। प्राचीन भारत में भी इस प्रकार का एक खेल बाल-समाज में प्रचलित था। स्कंदपुराण के कार्तिक मास-माहात्म्य खंड में शासकों को सुझाव दिया गया है कि प्रति वर्ष दीवाली का उत्सव मनाने के सिलसिले में प्रतिपदा को तीसरे पहर समारोह के साथ औपचारिक रूप से यष्टि-काकर्षण वा रस्सी खींचा-खींची की होड की जाय। किसी मंदिर वा राज-भवन के अहाते अथवा चौमुहानी पर यह प्रतियोगिता करने की रीति थी। इसके लिये कुश और काँस की बनी हुई नयी रस्सी तैयार की जाती थी। नियत समय पर बराबर की संख्या में राजकुमार और अपर जाति के लडके उस रस्सी को ले कर खडे हो जाते थे। तब दोनों ओर अंतिम बालक के पीछे धरती पर एक-एक लकीर खींच दी जाती थी। जीतने वाले पक्ष के लिये वह रेखा पार करना अनिवार्य था। इस प्रतियो-गिता की देख-रेख स्वयं शासक करता था। क्योंकि लोगों की ऐसी

धारणा थी कि इसके परिणाम पर अगले वर्ष राजा की जय-पराजय निर्भर थी[१]।

(आ) नृप-क्रीड़ा

इस खेल का उल्लेख भागवतपुराण के अतिरिक्त अवदान-कल्पलता और कथा-सरित्सागर में हुआ है। कृष्ण भगवान की बाल्य-लीला के प्रसंग में कहा गया है कि ग्वालो के लडको के साथ यह खेल खेलते समय भगवान स्वयं राजा बन कर बैठते और दूसरे बालक राज-कर्मचारी बन कर उनके आदेशो का पालन करते थे[२]।

अवदान-कल्पलता का कथन है कि कवि-कुमार नाम का राजकुमार जिसका पालन-पोषण एक मछुए के घर में हुआ था, काम्पिल्य की सडको पर और और बालको के साथ "राजकेलि" किया करता था[३]।

कथा-सरित्सागर का कहना है कि पाटलिपुत्र का राजकुमार विक्रमशक्ति कुछ मित्रो के साथ गंगाजी के किनारे खेलने चला गया। इनमें श्रीदत्त नामक किसी संपन्न घर का ब्राह्मण बालक भी था। नदी-किनारे पहुँचने के बाद वे नृप-क्रीडा करने लगे। राजकुमार के मुह-लग्गुओ ने कुमार को राजा बनाया, उधर श्रीदत्त के अनुयायियो ने उसे राजा चुना। इससे चिढ कर कुमार ने उससे लडने की ठानी। किंतु हाथापाई में श्रीदत्त ने कुमार को नीचा दिखा दिया। इससे बिगड कर कुमार ने उसे ले बीतने का निश्चय किया। श्रीदत्त उसकी नीयत भाँप गया और वहाँ से धीरे से खिसक पडा[४]।

परिशिष्ट पर्वन् का कथन है कि मयूरपोषक गाँव के पास किसी जंगल मे चाणक्य ने ग्रामीण बालको के साथ चन्द्रगुप्त को नृप-क्रीडा करते देखा था। इस खेल के प्रसंग में तथाकथित "राजा" चन्द्रगुप्त दूसरे खिलाडी बालको को हाथी-घोडा बना कर उनकी पीठ पर सवार होकर

१ १०।६४-६९ २ १०।१८।१५ ३. ६६।१८ ४ पृष्ठ २७

संगी-साथियों पर रोब गांठता रहा। एक दिन चाणक्य उसी रास्ते से आ निकला। बच्चों को "राजा-राजा" खेलते देख उसको बड़ा कुतूहल हुआ। वह सीधे "राजा" चन्द्रगुप्त के पास चला गया और बोला, "महाराज, इस दरिद्र ब्राह्मण को भी कुछ मिल जाय!" राजा ने चरती हुई गायों की ओर उँगली दीखा कर कहा—"उन गायों को ले जाओ। मैंने तुमको दे दिया।" इस पर चाणक्य ने कहा—"राजन्, पराया माल है; ग्वाले यदि मुझको पीट दें तो मैं क्या कर सकता हूँ?" चन्द्रगुप्त ने कहा—"ब्राह्मण, डरो मत। राजा ने तुम्हे दिया। किसकी मजाल है कि उसकी आज्ञा टाले[1]?"

(इ) कृत्रिम वृषभ-क्रीड़ा

श्रीधर स्वामी और राघवाचार्य के अनुसार यह खेल खेलते समय कृष्ण भगवान् कंबल ओढ कर हाथ-पैर के बल चलने लगते और रंभाते हुए गोपबालकों के साथ नकली युद्ध करते थे[2]।

भागवतपुराण में इस खेल का उल्लेख है। उसी पुराण में नीचे लिखे हुए बालोपयोगी कुछ क्रीड़ा-कौतुकों का उल्लेख भी है।

(ई) निलायन-क्रीड़ा

दौड़ते हुए खिलाडी इधर-उधर छिप जाते थे। उनमें जो "चोर" बनता था, वह उनको खोजता रहता था। जिसे वह पकड़ पाता वह "चोर" बनता था[3]।

(उ) मर्कटोत्प्लावन-क्रीड़ा

बंदरों की भांति पेड़ों की शाखाओं पर उछलते-कूदते हुए उनके फल खाना[4]।

---

१. ८।२१७
२. भागवत पु०, १०।११।२८
३. १०।११।४८
४. १०।११।४८

(ऊ) शिक्यादि मोषण-क्रीड़ा

शिक्या = सिकहर। आज-कल नगरो मे सिकहर का उपयोग कम हो गया है। पहले छत में किंवा कांटा गाड कर भीत में सिकहर अथवा छींका लटका दिया जाता था। फिर खाने की सामग्री हँडिया में रख कर सिकहर पर रख दी जाती थी। इस खेल के सिलसिले में पहले हांडी उतार कर कही छिपा दी जाती। फिर सिकहर पर हाथ साफ कर एल खिलाडी भाग निकलता। घर वाला उसके पीछे-पीछे दौडता। जब वह उसके निकट पहुच जाता तब तथाकथित चोर दूसरे खिलाडी को छीका दे देता। इस प्रकार दौडते-दौडते जब घरवाला हैरान हो जाता तब वह सिकहर उसे लौटाया जाता[१]।

(ऋ) अहमहमिकास्पर्श-क्रीड़ा

जब भगवान वनाली की शोभा देखकर रस लेने के लिये दर निकल जाते तब उनके सगे-प्यारे उनकी खोज मे इधर-उधर दौडते फिरते थे। जभी अचानक वे भगवान को देख लेते थे, तब एक साथ दौड कर वे उनके पास पहुँच जाते और मारे आनन्द के "मैंने पहले छुआ" कह कर चिल्लाने लगते[२]।

(ए) भ्रामण-क्रीड़ा

हाथ से हाथ पकड कर कुल खिलाडी मडलाकार घूमते रहते थे[३]।

(ऐ) लघन क्रीड़ा

लांघ कर नाली या गड्ढा पार करना[४]।

(ओ) विल्वादि प्रक्षेपण क्रीड़ा

दो दलो मे विभक्त होकर खिलाडी इस तरह बेल उछालते थे कि वे अधर मे एक दूसरे के साथ टकरा जाते थे[५]।

---

१ १०।१२।५ ३ १०।१८।१२ ५ १०।१८।१४
२ १०।१२।६ ४. १०।१८।१२

(ओं) अस्पृश्यत्व क्रीड़ा

कुल खिलाडी दौडते हुए एक दूसरे को छूने का यत्न करते थे[१]।

(अं) नेत्रबंध क्रीड़ा

पीछे से दबे पांव आकर किसी खिलाडी की आंखे बन्द कर दी जाती थी। यदि वह बन्द करने वाले का नाम ठीक-ठीक बता देता तो उसकी जीत होती[२]।

(अः) स्यन्दोलिका क्रीड़ा

झूले पर झूलना[३]।

(क) वनभोजन क्रीड़ा

नदी किनारे, पेड की छाया मे अथवा किसी गुफा में सगे-प्यारों के साथ भोजन करना[४]।

वृहत् कथा-कोश का कहना है कि पूर्णभद्र नाम के एक कलवार की पुत्री के विवाह मे उसका मित्र शिवभूति उपस्थित न हो सका। इसलिये अपने मित्र के सम्मान में पूर्णभद्र ने वन-भोजन का आयोजन किया था। इस प्रसग मे कहा गया है। कि सभी ने सुरापान किया था, केवल शिवभूति ने दूध पिया था[५]।

(ख) आमलक मुष्टयादि क्रीड़ा

एक खिलाडी आंवले के कुछ फल हाथ में ले कर मुट्ठी बांध कर खडा हो जाता था। और ओर खिलाडी उनकी सख्या के बारे में अटकल लगाते जाते थे। जिसका अनुमान ठीक निकलता था उसे कुल फल दे देने पडते थे। अनुमान गलत होने पर वह दूने देता था (६)।

---

१. १०।१८।१४ ३. १०।१८।१५ ५ पृष्ठ ५१
२ १०।१८।१४ ४ १०।१३।५-१०, १०।२०।२८-२९ ६ १०।१८।१४

(ग) दर्दुरप्लाव क्रीड़ा

मेढक की भांति उछलते-कूदते और फुदकते हुए लक्ष्य-स्थल तक पहुँचना[१] ।

जैनियो के आदिपुराण में भगवान ऋषभदेव वाल्यावस्था में जिस रीति से देवकुमारो के साथ खेल कर जी बहलाते थे, उसका विवरण दिया गया है। कदाचित् देवकुमार लोग मोर बन जाते थे, तब ऋषभ-देव ताली पीटते हुए उन्हे नाचना सिखाते थे, कभी सुग्गो को श्लोक पाठ करना सिखाते, कभी राजहसो को कमल-नाल खिलाते, कभी हाथी के बच्चो के साथ खेलते, कभी एक-टक मुर्गों को अपनी छाया के साथ लडते देखते, कभी कुश्ती लडने में व्यस्त देवकुमारो की देख-भाल करते, कभी सारस और कूज की केका सुनते, कभी दडा-क्रीडा का निरीक्षण करते, कभी देवकुमारो के साथ वावडी में जल-क्रीडा करते और कभी वन-क्रीडा के प्रसग में सघन जगलो में चले जाते[२] ।

गुड़ियो का खेल

मनोविनोद के लिये बच्चे और बालिकाए गुडियो से खेलती थी। वाणभट्ट का कथन है कि कादवरी के कमरे में यान्त्रिक चकवा-चकई का जोड रखा हुआ था। इनके अतिरिक्त मणि की बनी हुई अनेक पुतलियाँ रखी हुई थी[३]।

कथा-सरित्सागर का कहना है कि मय-दानव की छोटी बेटी प्रभा लकडी की बनी हुई गुडियाँ (माया-यत्र-पुत्रिका) से खेलती थी। इनके बारे में कहा गया है कि कोई कल दबा देने से पुतलियाँ आकाश में चली जाती और आदेशानुसार माला, फूल आदि ले आती, फिर कोई नाचती, कोई गाती, तो कोई बोलने लगती[४]।

कुट्टनीमतम् का कथन है कि मोम की बनी हुई पुतलियो को

---

१ १०।१८।१५ २ पृष्ठ १९३–२०७ ३. पृष्ठ ३८३ ४. पृष्ठ १२८

सिक्थकर्म तथा लकडी की वनी हुई गुडियो को पुस्तकर्म कहा जाता था[१]।

पद्मचरित का कहना है कि पुस्तकर्म के तीन भेद हैं—क्षय, जैसे तक्षण (लकडी छील कर जो वस्तु वनायी जाय), उपचय, जैसे मिट्टी का काम ; सक्रात (साँचे पर पीतल, ताँबे आदि की पत्ती ठोक-ठाँक कर जो मूर्ति वनायी जाय)[२]।

गुलिका क्रीड़ा

कथा-सरित्सागर का कहना है कि एक दिन कुमार नरवाहनदत्त और गोमुख आखेट के लिये घने जगल में चले गये। जव वे दौडते-दौडते विलकुल थक गये तव वे गुलिका (गेंद) खेलने लगे। एकाएक गुलिका उछल कर उसी रास्ते से आने वाली एक परिव्राजिका के खोपडे पर जा गिरी। हँस कर वह वोल उठी—तुच्छ गुलिका क्रीडा करते हुए कुमार जवानी की इतनी मस्ती दिखा रहे हैं। कर्पूरमजरी के हाथ पडने पर न जाने वह क्या कर वैठेंगे! वस, तभी से कुमार को कर्पूर-मञ्जरी की धुन सवार हो गयी और वह आग-पानी में भी धसने को तैयार हो गये[३]।

यहाँ कहना अप्रासगिक न होगा कि पद्मचरित में क्रीडा के चार भेद वताये गये हैं—

(१) जिन खेलो मे शरीर के अग-प्रत्यगो की चलाचल करने की आवश्यकता होती है उनका नाम "चेष्टा" दिया गया है,

(२) जिन खेलो में साज-सरञ्जाम और सामान की आवश्यकता होती है उनका नाम "उपकरण" दिया गया है,

(३) सुभाषित, काव्य-क्रीडा इत्यादि का नाम वाक्-क्रीडन दिया गया है,

---

१. पृष्ठ ५३   २. २४।४८   ३. पृष्ठ १८९

और (४) जुआ प्रभृति जिन खेलो में बाजी धरी जाती है उनका नाम "कला-व्यत्यसन" दिया गया है[1]।

बाजिवाह्यालि-विनोद वा पोलो

बालकोचित क्रीडा न होने पर भी मानसोल्लास में वर्णित "बाजि-वाह्यालि-विनोद" में खेलाडियो में चेष्टा की कमी बिलकुल नही होती थी। यह खेल खेलते समय खेलाडी लोग तेज दौडने वाले सुघड घोडो पर सवार हो कर हाकी खेलने का डडा जैसा लबा डडा लेकर गेंद खेलते थे। दोनो पक्ष के खिलाडी विपक्षी के "गोल" में गेंद भोकने के फेर में रहते थे। इस खेल का अग्रेजी नाम पोलो है। कहा जाता है कि मुगलो के शासन-काल में भी यह खेल चालू था। यदि रात को खेल होता तो अग्निमय गेंद का उपयोग करने के रीति थी। प्राचीन ईरान मे पोलो बडा लोक-प्रिय खेल था। वहाँ स्त्रियाँ भी यह खेल खेलती थी।

चालुक्य-राज सोमेश्वर देव के "मानसोल्लास" में बाजिवाह्यालि-विनोद का विशद वर्णन हुआ है। इस खेल के लिये दस हजार वर्ग धनुष (१ धनुष = चार हाथ) का समतल और चौकोर भू-खड चुना जाता था। उसके चारो ओर घेरा डाल दिया जाता था। यातायात के लिये दो द्वार होते थे। दर्शको के बैठने के लिये उत्तर वा दक्षिण में खेमे खडे कर दिये जाते थे। खेल-भूमि की दोनो बगलो में दो तोरण वा "गोल" होते थे। इनके खभे १६ हाथ की दूरी पर होते थे। इस प्रकार प्रारंभिक आयोजन कर लेने के अनन्तर शासक स्वय जाँच-पडताल कर घोडे चुनता था। नियत दिन तीसरे पहर साज-सजावट कर राजा रनिवास, कुमारो और दरबारियो के साथ खेल-भूमि की यात्रा करता था। वहाँ पहुचने के बाद वह खिलाडियो को दो दलो में बाँट देता था। प्रत्येक दल में आठ-आठ खिलाडी होते थे। इच्छानुसार राजा किसी भी

१. ११५००

दल में सम्मिलति हो जाता था। गेंद पारिभद्र काठ का वनता था। ऊपर से लाल चमडा मढ दिया जाता था। गेंद मारने के लट्ठ वा "छडी" को "गेड्डिका" वा "गेड्डिका" कहा जाता था। लवाई में वह एक घनुष वा चार हाथ होता था। इसकी मूठ लाल चमडे से मढ दी जाती और "मुख" वा निचला भाग काला होता था। मुख का व्यास ५ अगुल होता था। खेल आरभ होने के पहले सब खिलाडी अपने-अपने तोरणो के आगे खडे हो जाते थे। तव तेज दौडने वाले घोडे की सवारी करता हुआ एक खिलाडी गेंद को विपक्षी के तोरण की ओर जोर से मारता था। इस प्रकार खेल का आरभ किया जाता था। विपक्ष वाले गेंद की गति मोडने का प्रयत्न करते। जैसे-जैसे चोटें पडती थी, गेंद कभी आगे वढता, कभी पीछे हटता, कभी तिरछा जाता, फिर कभी उछल कर ऊपर चला जाता। इस रीति से खेल चालू रहता था। जव गेंद उछल कर ऊपर चला जाता, तव खेलाडी लट्ठ द्वारा उसे रोक लेते। फिर दूसरा खिलाडी उसे मार कर नीचे गिराता। सभी खिलाडी विपक्षी के तोरण में गेंद झोकने के यत्न में रहते थे। इस रीति से जय-पराजय का निश्चय होता था। सदैव शासक की जय होती थी। तुरही फूक कर इसकी सूचना दी जाती थी। खेल समाप्त होने पर शासक दूसरे घोडे पर सवार हो कर अश्व-विद्या मे अपनी पारदर्शिता का परिचय देता। परिशिष्ट पर्वन् के अनुसार इस प्रदर्शन का नाम "वाहकेलि" था[1]। अन्त मे वह खेलाडियो को पारितोपिक देता[2]।

वस्तुत. हमारे देश के सघटित खेल का यह एकमात्र निदर्शन है। वहुत-सी वातो में यह खेल आवुनिक काल की हाकी, फुटवाल, क्रिकेट आदि विदेशी क्रीडाओ से मिलता-जुलता था। फलत इसे खेलने से खेलाडियो में सघटन-शक्ति, सहयोगिता की भावना, नि स्वार्थपरता, सहनशीलता, सयम, साहस, अविचलता जैसे वहुत-से सद्गुणो का विकास होता था।

---

१ पृष्ठ ३८; १२९ २. ४।२११-२२४

पेशेवर लोगों द्वारा प्रदर्शन

ऊपर कहा जा चुका है कि काशी से राजा दिवोदास को निकाल वाहर करने के लिये शिव भगवान् ने वडे-वडे उपाय किये थे।

वंशाधिरोहण; रज्जुमार्गेण गमनम्

काशीवासियो को वहकाने के लिये प्रारभ में उन्होने योगिनीयो की एक टोली भेजी। उन्होने सडको पर वांसवाजी और डोरी पर चलने-फिरने की कला दिखा कर दर्शको को वहकाने का यत्न किया[1]। सुबधु की वासवदत्ता में इन्द्रधनुप की तुलना उस डोरी से की गयी है, जिस पर चढ कर मातग (चण्डाल)-कन्या नाच दिखाती थी[2]।

वंश-नर्त्तिन्

ऊपर कहा जा चुका है कि इस खेल का उल्लेख वाजसनेय सहिता प्रभृति मे हुआ है। इस सिलसिले में नैषध-चरित में कहा गया है कि प्रारभिक दशा में नर्तकियाँ भूतल पर नाच दिखाती। फिर वे वांस पर चढ़ कर नाच दिखाने लगती थी[3]।

कहने की आवश्यकता नही कि मनोविनोद के उपर्युक्त साधन पशेवर लोग पैसा कमाने के अभिप्राय से दिखाते फिरते थे। सामान्यतः इनके प्रदर्शन त्रुटि-हीन होते थे। इसलिये वालोचित खेल-कूदो में जो स्वातत्र्य, असफल रहने से दर्शको के चेहरे पर जो मुस्कान खिल जाती थी, वरावर वय के वालको के मन मे जो प्रतियोगिता और आयास-प्रयास की भावना जागरित होती थी, उन बातो की कमी है।

अकविनोद वा कुश्ती

द्वद-युद्ध करने वाले योद्धा को अक कहा जाता था। दोनो योद्धा एक ही प्रकार के शस्त्रास्त्र लेकर लडते थे। द्वद युद्ध के आठ भेद वताये गये है।

---

१. काशी खड, ४५।११ २ पृष्ठ ३४४ ३. १२।१६

गाली-गलौज, मार-पीट, सिरफुडौवल, वालनोच और एक दूसरे पर पान की पीक थूक कर जो झगडा मोल लिया जाय, उसका नाम परिभूताक; किसी वारनारी को अपनाने के लिये डाह के मारे जब दो प्रेमिक एक दूसरे से लड जायें, उसका नाम मत्सराक, घर, खेत आदि हथियाने के लिये जो लडाई हो उसका नाम भूम्यक, भैंसे पर सवार हो, घास छोटते हुए और एक हाथ में जलती हुई मशाल लेकर जब कोई मनुष्य गाता-बजाता किसी का विरुद बखानने लगे और यदि किसी ने उसका विरोध किया, तो उसका नाम विरुदाक, विद्वता की कश-मकश का नाम विद्याक, पुराना वैर मिटाने के लिये जो युद्ध किया जाय, उसका नाम वैराक, शासक के कहने से जब दो अपराधी एक दूसरे से लडे, तो उसे द्रोहाक और जब कोई अनुतप्त पापी पाप को मिटाने के लिये दूसरे से लडना चाहे, तो उसे प्रायश्चित्ताक कहते है। ज्येष्ठिक, अन्तर्ज्येष्ठिक और गोवल नाम की तीन श्रेणी के मल्ल होते थे। ज्येष्ठिको का शरीर मोटा-ताजा, गठित और दृढ होता था, शेष दो श्रेणी के पहलवान कम बलवान होते थे। २० वर्ष की आयु वाले मल्लो को भविष्णु और तीस वर्ष तक प्रौढ कहा जाता था। इसके ऊपर वालो की गिनती मल्लो में नही होती थी। दरबार की ओर से मल्लो को मन भर गोश्त दूध-दही, घी इत्यादि उत्तमोत्तम खान-पान की सामग्री दी जाती थी; उन्हे ब्रह्मचर्य का पालन करना पडता था। एक दिन के अन्तर पर उन्हे कुश्ती लडना पडता था। उन्हे चारो संस्थान और कुल पेंच सीखने पडते थे। पेच आदि सिखाने के लिये उस्ताद होते थे। इनके अतिरिक्त मल्लो को भारी वस्तु उठाना (भारश्रम), पैदल चलना (भ्रमण श्रम), तैरना (सलिल श्रम), भुजाओ को मजबूत बनाने के लिये बाहु-पेलणक श्रम और स्तभ-श्रम (मलखम) करना पड़ता था। इस प्रकार कसरत आदि करके जब पट्ठा तैयार हो जाता था, तब मल्लाध्यक्ष के कहने से उनकी कुशलता की पडताल करने के लिये प्रदर्शन का आयोजन किया जाता। मडप, अखाड़ा प्रभृति बन जाने पर कृष्ण भगवान् का पूजन

होता। फिर कुश्ती आरभ की जाती थी। यदि लडते-लडते दोनो पस्त हो जाते तो जोड बराबर की मानी जाती। जो मल्ल न थकता और यदि वह विपक्षी का कोई अग तोड देता, तो वह विजयी माना जाता। राजा उसे पुरस्कार देता था[1]।

पशु-युद्ध

हर्षचरित में हस्ति-युद्ध का उल्लेख-मात्र[2] है, उसका विशद वर्णन कही भी नही हुआ है। सौभाग्यवश मानसोल्लास में मनोविनोद के इस राजसी साधन का विस्तृत विवरण पाया जाता है।

(अ) हस्ति-युद्ध

सोमेश्वर ने हस्ति-युद्ध का नाम "गजवाह्यालिविनोद" रखा है। केवल मस्त हाथियो को लडाने की रीति थी। इसके लिये उनको दवा-दारू दे कर भारी-भरकम, स्वस्थ और भयकर बनाया जाता था। मृग, मन्द और भद्र नाम की तीन जाति के हाथी होते है। इनके अतिरिक्त कुछ मिश्र और सकीर्ण भी होते है। कुछ कफ-प्रधान, कुछ वायु-प्रधान, कुछ पित्त-प्रधान और शेष मिली-जुली धातु के होते है। प्रकृति के कुछ सात्विक, कुछ राजसी, कुछ तामसी और शेष मिले-जुले स्वभाव के होते है। गोली, चूरन और मरहम के रूप मे उनको ओषधादि दी जाती थी। मद बढ़ाने के लिये मदभेदन, मदवर्धन, मद-वृद्धिकर और मदगध-प्रवर्त्तन नामक दवाएँ दी जाती थी। युद्ध के पूर्व दिन उन्हें क्रोधी बनाने के लिये क्रोध-दीपन नाम की गोलियाँ दी जाती थी। शोभा बढाने के लिये पुष्टई की दवाएँ दी जाती थी।

ऊपर कहा जा चुका है कि केवल मस्त हाथियो को लडाने की प्रथा थी। उनमें जोश भरने के लिये नाना प्रकार के मारू बाजे बजाये जाते और परिचारक लोग रुक-रुक कर युद्ध के नारे लगाते थे। हाथियो को उत्तेजित करने के लिये दवा-दारू दी जाती थी। युद्ध

---

१ मानसोल्लास, पृष्ठ २२९–२३९ २ २१९३

के दिन उन्हें भूखा रख छोडा जाता था। पिछले भाग में तेल मला जाता और खोपडे और सूड पर सेंदूर पोता जाता था। नगर में ढिंढोरा पीट दिया जाता कि मोटे नर, सगर्भा स्त्री, जच्चा-बच्चा और विकलाग लोग घर से वाहर न निकलें। साथ ही तेज दौडने वाले लोगो को रगस्थल में उपस्थित रहने का निमत्रण दिया जाता था।

हस्ति-युद्ध का अखाडा लबाई में ४०० हाथ और चौडाई में २४० हाथ होता था। अखाडे के भीतर जाल से घिरा हुआ एक ऊचा और प्रशस्त चवूतरा होता था। उसके चारो ओर गहरी खाई होती थी। इसे "आलोक-मदिर" कहा जाता था। सपरिवार राजा और दर-वारी लोग वहाँ वैठकर युद्ध का रस लेते थे। अखाडे के उत्तर और दक्षिण मे उसी प्रकार के दो छोटे-छोटे जालीदार चवूतरे होते थे। इन के चारो ओर भी खाइयाँ होती थी। इन पर वैठकर निरीक्षक लोग युद्ध की गति की थाह लेते थे। भोजन कर लेने के वाद सपरिवार शासक सज-धज कर रगस्थल में पधारता था। वे लोग सीधे आलोक-मदिर मे चले जाते थे। जनता अलग वैठती थी। प्रारभ मे राजा दौडाको को वुला कर पूछ-ताछ करता। जो "परिकारक" वा दौडाक दौड में हाथी को भी मात कर देता था, उसकी जीत होती थी। कभी-कभी मस्त-हाथी परिकारको को पछाड भी देता था। कदाचित् चोरो से भी परिकारक का काम लिया जाता था। यदि वह दौड़ने मे हाथी से भी तेज निकलता तो वह छोड दिया जाता, नही तो हाथी उसे ले वीतता।

जव तक ये सव तैयारियाँ होती रहती थी, तव तक हाथी मस्ती की चरम सीमा तक पहुच जाता था। इस दशा मे परिचारक और कुछ घुडसवार उसका मुह कपडे से ढक कर उसे अखाडे मे लाते थे। इसी समय वडे जोर से ढोल, नगाडे, जयघटा आदि वजाये जाते थे। तव परिकारक भी थोड़ी दूर पर हाथी के सामने डट जाता था। ऐसी दशा में हाथी के मुह से कपडा हटा लिया जाता और उसे परिकारक की ओर प्रेरित किया जाता। परिकारक को सामने देखते ही हाथी उस पर लपकने के अभिप्राय से आगे

बढता। किंतु इसी समय घुडसवार लोग पीछे से हाथी पर वार कर देते थे। तब हाथी परिकारक को छोड कर घुडसवारो पर झपटता तथा जिन-जिन को पकड पाता उनका काम तमाम कर देता। फिर वह दर्शको पर धावा बोल देता। पहुँच के भीतर जो भी आ जाते उनको वह कुचल देता, दाँतो से चीर देता या सूड से मार कर हड्डियाँ चूर-चूर कर देता। इससे चारो ओर तहलका मच जाता तथा दर्शको में भगदड मच जाती। निदान हथिनियो और घुडसवारो के सहारे मस्त हाथी को वश में लाया जाता था।

हाथियो से भिडने वाले जिन वीर योद्धाओ का नाम मानसोल्लास में "परिकारक" पडा है, हर्ष-चरित में उनको वठ कहा गया है। वे हाथ में सिर्फ डडा वा तलवार ले कर पैदल मस्त हाथियो का सामना करते थे[1]।

इस प्रकार चारो दिशाओ में हडकप मचा देने के बाद हाथियो की लडाई आरभ की जाती। हाथी अपनी जाति, वय और शक्ति के अनु-सार बहुधा सूड और दाँतों से लडते हैं। दाँत द्वारा वे प्रतिद्वंदी को १४ प्रकार की चोट पहुचाते हैं। तिरछी चोट जो नीचे से ऊपर तक चली जाय उसे परिलेख कहा जाता है, डडे के समान सीधी चोट का नाम ऊर्ध्व-घात है, अपने दाँतो के द्वारा विपक्षी का मुह थाम कर यदि उसको सताया जाय तब वह कर्त्तरी-घात (कैंची) है, दाँतो के उद्गम स्थल पर की चोट का नाम तलघात है, विपक्षी का मुह ऊँचा कर जो चोट पहुँचायी जाय उसका नाम अजघात है, सिर को तिरछे खीच कर यदि एक ही दाँत से चोट पहुँचायी जाय, तो उसे सूची-घात कहा जायगा इत्यादि। लडते समय हाथियो को अगल-बगल या टेढा-मेढा खडा नही होने देना चाहिये। हर दशा में उन्हे आमने-सामने खडा करना चाहिये। लडाई समाप्त हो जाने पर शासक की ओर से भाग लेने वाले सभी को पारितोषिक दिया जाता था[2]।

---

१ २।२११ २ पृष्ठ १८९–२११

ताम्रचूड़-विनोद वा मुर्गों की लड़ाई

मानसोल्लास में मुर्गों के शख, अशु, नार, गृध्र, अलेग, श्रोणि, सर्प और कूर्म जैसे आठ भेद बताये गये हैं। प्रत्येक जाति की विशिष्टताओ का पूरा ब्यौरा भी दिया गया है। इनकी देख-रेख के लिये अलग कर्मचारी होते थे और सावधानी के साथ इनका पालन-पोषण किया जाता था। इन्हे युद्ध-विद्या की पूरी शिक्षा दी जाती थी। मुर्गोंको लडाने के पहले लिख कर चुनौती देने की प्रथा थी। यह पत्र किसी खभे या ध्वज-स्तम्भ पर लटका दिया जाता था। सामान्यत. राजा के मुर्गों से टक्कर रानियो के मुर्गे लेते थे। युद्ध के लिये ३० हाथ घेरे का गोल अखाडा बनाया जाता था। उसके बीच में एक ऊँची वेदी होती थी। सपरिवार शासक उसी पर बैठता था। लडने वाले मुर्गों की टांगो में पैनी छुरियां बांध दी जाती थी। लडते हुए मुर्गों को अलग करने के लिये "मोसक" नाम के कर्मचारी होते थे। नजर उतारने के लिये सुदर्शन मुर्गों की चोटी पर कालिख पोत दी जाती थी। अखाडे के समीप भारी सख्या में नचवैये-बजवैये प्रभृति उपस्थित रहते थे। कार्त्तिक से फागुन तक मुर्गों को लडाने का उपयुक्त काल माना जाता था। निरतर पांच हफ्ते प्रति सोमवार को यह लडाई चालू रखी जाती थी। छठे सोमवार को हार-जीत का निश्चय होता था। समय का अनुमान लगाने के लिये "नीर-मान" वा जल-घडी का उपयोग होता था। लडते समय जो मुर्गा अपने विपक्षी के किसी भी अग मे चोट पहुचा देता, उसी की जीत होती थी। लडते-लडते यदि कोई वीरगति प्राप्त करता किंवा भाग निकलता, तो यह दुर्भाग्य की ठोकर मानी जाती थी। विजयी मुर्गे के पक्ष के लोग हारे हुए मुर्गे के तरफदारो की पीठ पर सवार हो जाते और उनकी हँसी उडाते थे। फिर गाजे-बाजे के साथ विजयी मुर्गे की सवारी निकाली जाती थी। चालुक्यराज की सम्मति है कि मुर्गों को लडते देख दर्शकों के मन में आठो रसो का उदय होता है[1]।

---

१ पृष्ठ २३९–२५३

लावक-युद्ध वा तित्तिरों की लड़ाई

मानसोल्लास का कथन है कि छ जाति के तित्तिर होते हैं। उनके नाम क्रम से कच्छेल, खारडीक, गोरञ्ज, विगर, पासुल और वेरस हैं। कच्छ देश के तित्तिरो को कच्छेल कहा जाता है। कच्छेल की सन्तति जिनका जन्म घर ही में हुआ हो, खारडीक कही जाती है। विंध्य और सह्याद्रि प्रातो के तित्तिरो को गोरञ्ज कहते हैं। इनका माथा लाल रग का होता है। लडने में वे मद्धिम होते हैं। विगर सकर जाति के होते हैं। और और प्रातो के लावक जिनका माथा लाल नही होता, उनका नाम पासुल है। वेरस भी मिश्र जाति के होते हैं। तित्तिरो के लडने के लिये विशेष प्रकार का अखाडा बनाया जाता था। बीच में हरे रग की पटरी रख दी जाती थी। अखाडे को चारो ओर कपडे के बेडे द्वारा घेर दिया जाता। समय का अनुमान लगाने के लिये बगल में नीर-मान वा जल-घडी रखी रहती थी। अधिक-से-अधिक उन्हे नौ नाडी (१२० मात्रा) लडने दिया जाता। जो लावक निरन्तर नौ नाडी तक लडता जाता था, उसकी जीत मानी जाती थी। विजयी लावक के स्वामी को पारितोषिक दिया जाता था। भागने वाले की हार होती थी। यदि किसी की चोच टूट जाती किंवा लडते हुए तित्तिरो को अलग कर देना पडता तो दोनो बराबर माने जाते थे[1]।

मेढ़ों की लड़ाई

मेढे तीन जाति के होते हैं। चोलिक, जटिल और लाल (शोण-वर्ण)। चोलिक की भौं, टाँग, पेट, पूछ, मुह और कान काले होते हैं। जटिलो के रोए मोटे, लबे, घने और नरम होते है। लाल रग के मेढे को शोण वर्ण कहा जाता है। इनका कधा कुछ ऊबड-खाबड होता है और रोए कुछ छोटे और मोटे होते हैं। ऐसे मेढे जो तन के क्षीण हो, जिनके मुह का छेद फैला हुआ हो, पीछे भँवर हो, दुम पर अध-खिला चक्र हो और आकार में जो बिच्छू के समान हो, वे शुभ लक्षण वाले

१. पृष्ठ २५३—२५९

जाने जाते है। लडते समय वे भागते नही। बडी सावधानी के साथ मेढो का पालन-पोषण किया जाता था। सुबह-शाम हवा खिलायी जाती और सीग पर लोहे की पत्ती मढ दी जाती थी। वे अधेरे कमरे में रखे जाते थे, और मस्ती बढाने के लिये उन्हे मद्य भी पिलायी जाती थी। सामान्यन्त: रविवार को उनकी लडाई होती थी। उस दिन उनको कम खिलाया जाता था। मेढे सीग से सीग टकरा कर लडते हैं। सीगो के टकराने से विकट शब्द होता है। कभी-कभी सीगो की टक्कर इतनी भयकर होती है कि लडाकू मेढो के कधे से मास के टुकडे बरसने लगते है। भग्गू मेढे की हार होती है। बाजी की सारी रकम जीतने वाले को मिलती है। इसके अतिरिक्त वह जय-पताका भी छीन लेता है[1]।

भैंसों की लड़ाई

बरार, कोल्हापुर, पजाब और काठियावाड के भैंसे लडने में तेज निकलते है। काय के विशाल होने के अतिरिक्त इनके कधे स्थूल और छाती भी लम्बी-चौडी होती है। पेट छोटा, आँखें लाल और पिछला भाग कुछ पतला होता है। इनका मुह और सीग छोटे, पैर और दुम सफेद होती हैं। बचपन से वे पाले-पोसे जाते थे। एक साल के हो जाने पर नथाई की जाती थी। भारी-भरकम बनाने के लिये उन्हे जल में रहने दिया जाता था। पाँच वर्ष में पट्ठे बिल्कुल तैयार हो जाते थे। लडाई के दिन भैंसो मे घिरे हुए, कुल अगो मे कीचड का लेप चढा कर और नीम की पत्तियो की माला पहने हुए दो भैंसे आमने-सामने खडे कर दिये जाते थे। तब दोनो को भिडाने के लिये ग्वाले पपोडो पीटने और जोर-जोर से चिल्लाने लगते थे। तब तक दोनो भैंसे कधा ऊचा कर एक दूसरे को देखते रहते थे। वे अधिकतर माथे और सीग के बल लडते है। लडते समय वे रँभाते, हटते, बढते, घुटने

---

१. मानसोल्लास, पृष्ठ २५९–२६१

लावक-युद्ध या तित्तिरों की लड़ाई

मानसोल्लास का कथन है कि छ जाति के तित्तिर होते हैं। उनके नाम क्रम से कच्छेल, खारडीक, गोरञ्ज, विगर, पासुल और वेरस हैं। कच्छ देश के तित्तिरो को कच्छेल कहा जाता है। कच्छेल की सन्तति जिनका जन्म घर ही में हुआ हो, खारडीक कही जाती है। विन्ध्य और सह्याद्रि प्रातो के तित्तिरो को गोरञ्ज कहते हैं। इनका माथा लाल रग का होता है। लडने में वे मद्धिम होते हैं। विगर सकर जाति के होते हैं। और और प्रातो के लावक जिनका माथा लाल नही होता, उनका नाम पासुल है। वेरस भी मिश्र जाति के होते हैं। तित्तिरो के लडने के लिये विशेष प्रकार का अखाडा बनाया जाता था। बीच में हरे रग की पटरी रख दी जाती थी। अखाडे को चारो ओर कपडे के बेडे द्वारा घेर दिया जाता। समय का अनुमान लगाने के लिये बगल में नीर-मान वा जल-घडी रखी रहती थी। अधिक-से-अधिक उन्हे नौ नाडी (१२० मात्रा) लडने दिया जाता। जो लावक निरन्तर नौ नाडी तक लडता जाता था, उसकी जीत मानी जाती थी। विजयी लावक के स्वामी को पारितोषिक दिया जाता था। भागने वाले की हार होती थी। यदि किसी की चोच टूट जाती किंवा लडते हुए तित्तिरो को अलग कर देना पडता तो दोनो बराबर माने जाते थे[१]।

मेंढ़ों की लड़ाई

मेंढ़े तीन जाति के होते हैं। चोलिक, जटिल और लाल (शोण-वर्ण)। चोलिक की भौं, टाँग, पेट, पूछ, मुह और कान काले होते हैं। जटिलो के रोए मोटे, लबे, घने और नरम होते हैं। लाल रग के मेंढे को शोण वर्ण कहा जाता है। इनका कधा कुछ ऊबड-खाबड होता है और रोए कुछ छोटे और मोटे होते हैं। ऐसे मेंढे जो तन के क्षीण हो, जिनके मुह का छेद फैला हुआ हो, पीछे भँवर हो, दुम पर अध-खिला चक्र हो और आकार में जो बिच्छू के समान हो, वे शुभ लक्षण वाले

१. पृष्ठ २५३—२५९

जाने जाते है। लडते समय वे भागते नही। बड़ी सावधानी के साथ मेढो का पालन-पोषण किया जाता था। सुबह-शाम हवा खिलायी जाती और सीग पर लोहे की पत्ती मढ दी जाती थी। वे अधेरे कमरे में रखे जाते थे, और मस्ती बढाने के लिये उन्हें मद्य भी पिलायी जाती थी। सामान्यन्त रविवार को उनकी लडाई होती थी। उस दिन उनको कम खिलाया जाता था। मेढे सीग से सीग टकरा कर लडते है। सीगो के टकराने से विकट शब्द होता है। कभी-कभी सीगो की टक्कर इतनी भयकर होती है कि लडाकू मेढो के कधे से मास के टुकडे बरसने लगते है। भग्गू मेढे की हार होती है। बाजी की सारी रकम जीतने वाले को मिलती है। इसके अतिरिक्त वह जय-पताका भी छीन लेता है[१]।

भैसों की लड़ाई

बरार, कोल्हापुर, पजाब और काठियावाड के भैसे लडने में तेज निकलते है। काय के विशाल होने के अतिरिक्त इनके कधे स्थूल और छाती भी लम्बी-चौडी होती है। पेट छोटा, आंखे लाल और पिछला भाग कुछ पतला होता है। इनका मुह और सीग छोटे, पैर और दुम सफेद होती है। बचपन से वे पाले-पोसे जाते थे। एक साल के हो जाने पर नथाई की जाती थी। भारी-भरकम बनाने के लिये उन्हे जल में रमने दिया जाता था। पांच वर्ष में पट्ठे बिल्कुल तैयार हो जाते थे। लडाई के दिन भैसो से घिरे हुए, कुल अगो मे कीचड का लेप चढा कर और नीम की पत्तियो की माला पहने हुए दो भैसे आमने-सामने खडे कर दिये जाते थे। तब दोनो को भिडाने के लिये ग्वाले थपोडी पीटने और जोर-जोर से चिल्लाने लगते थे। तब तक दोनो भैसे कधा ऊचा कर एक दूसरे को देखते रहते थे। वे अधिकतर माथे और सीग के बल लड़ते है। लडते समय वे रॅभाते, हटते, बढते, घुटने

---

१. मानसोल्लास, पृष्ठ २५९–२६१

टेक कर बैठ जाते, दुम ऊची कर देते, जोर-जोर से दम लेते और उनके मुह से फेन निकलता रहता है। बहुत देर टक्कर लेने के बाद एक भैसा घायल होकर भाग जाता है[1]।

आखेट

जैन शास्त्र-ग्रन्थो के चुप्पी साधने के बावजद इन दिनो की रचित और सकलित सस्कृत पुस्तको से जान पडता है कि आखेट की लोकप्रियता में कमी नही हुई। वस्तुत क्षत्रिय लोग शिकार को केवल मन-बहलाव का साधन ही नही मानते थे वरन् अपना धर्म वा कर्तव्य मानते थे।

कादम्बरी का कहना है कि शवर सरदार मातग जब अपने अनुयायियो के साथ विन्ध्याटवी में शिकार खेलने गया था, तब उसके साथ बहुत-से शिकारी कुत्ते भी थे। सभी ने मिल कर उस वन-खड में भयकर हडकप मचा दिया था[2]। जब चन्द्रापीड शिकार खेलने गया था, तब वह कवच पहने हुए था और उसके साथ कई कुलीन (कोलकेया) शिकारी कुत्ते थे[3]।

स्कदपुराण के काशी-खड में पिगाक्ष नाम के शवर सरदार (पल्लीपति) के विषय में कहा गया है कि वह शेर और रीछ जैसे हिंसक जन्तुओ को धडाधड मार गिराता था, किन्तु वह कभी पालतू, सोते हुए, भूखे-प्यासे सगर्भ पशु-पक्षियो को नही मारता था[4]। पुन उसी पुराण के नागर-खड का कथन है कि आनर्त्त-राज चमत्कार आखेट करने के अभिप्राय से गहरे जगल में चला गया। उसने दूर से, निश्चिन्त होकर अपने बच्चे को दूध पिलाती एक हिरनी को देखा। देखते ही राजा ने बेखटके तीर चला दिया। इस पर उस घायल हिरनी ने उसको अभिशाप दिया। राजा ने कहा कि पशु-पक्षियो का वध करना

---

१. मानसोल्लास, पृष्ठ २६१–२६२
२ पृष्ठ ६३
३ पृष्ठ २१४
४. १२।१८–२०

क्षत्रियो का धर्म है। हिरणी बोली—सच है, किन्तु इसके भी कुछ विधि-विधान हैं जिन्हे मान कर चलना चाहिये। सोते हुए, स्त्री-ससर्ग करते हुए और बच्चे को दूध पिलाते पशु-पक्षियो पर कभी वार नही करना चाहिये। तुमने इस नियम को ठुकरा दिया। इसलिये तुम कोढी होओगे[1]।

सभी कोई जानते है कि धोखे में राजा दशरथ ने अधे मुनि के एकलौते बेटे की हत्या कर दी थी। इस सिलसिले में ब्रह्मपुराण में कहा गया है कि रात को राजा ने पनघट का "वारि-बध" कर दिया था, अर्थात् प्यासे पशुओ के वहाँ आने पर रोक-थाम लगा दी थी। राजा स्वय एक गड्ढे के भीतर छिपा था और जो भी पशु वहाँ आ जाते थे, उनको वह ले बीतता था[2]। उसी पुराण मे राजा पवमान के बारे में कहा गया है कि अपने साथ वह पुरोहित, रनवास और सेना-दल लेकर वन को सिधारा। वहाँ कभी तो नाच-गान का रस लेता और कभी शिकारियो के साथ सघन जगलो में आखेट की खोज में मारा-मारा फिरता था[3]।

कुट्टनीमतम् का कहना है कि रत्नावली नाटक के पहले अक का अभिनय देखने के बाद राजकुमार समरभट ने इन शब्दो में मृगया प्रथा की सराहना की थी।—"दौडते हुए घोडे पर सवार होकर किसी चलते-फिरते लक्ष्य पर निशाना लगाने में कितना आनन्द आता है! आखेट करने के बहाने शिकारी का उस भू-भाग के साथ घनिष्ठ परिचय हो जाता है। हकवो के द्वारा हकाये गये हुए जीवो को पेड के नीचे छाया में खडे-खडे मार गिराने में क्या मजा मिलता है! फिर गीत सुना कर जीते-जी हिरनो को पकड लेने, दावानल के भय से भागते हुए सुअरो को तीर से बेधने और पेड के खोखले में निश्चिन्त होकर सोते हुए खरगोशो को धर दबाने में कितना सुख मिलता है[4]।"

---

१ १०।१-१२ २. २।५३।३३-३६ ३. २।९४।७-९ ४ ९५१-९५७

भागवतपुराण का कहना है कि शास्त्रों में कहीं भी पशु-हिंसा की विधि नहीं है। मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति को तृप्त करने के लिये ही ऐसा नियम बना दिया है कि जिसकी मांस में रुचि हो, वह राजा केवल शास्त्रोक्त क्रिया के लिये वन में जाकर आवश्यकतानुसार अनिषिद्ध पशुओं का वध करे तथा उस समय भी व्यर्थ पशु-हिंसा न करे[1]।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की विचार-धारा का स्रोत स्पष्टत वैष्णव मत का सिद्धान्त था। किन्तु पुराने खुराट इस प्रकार के विधि-निषेध थोड़े ही मानने वाले थे। वे मनमानी करने पर तुले हुए थे। कथा-सरित्सागर में कहा गया है कि वत्स-राज उदयन सदैव आखेट करने में मस्त रहता था[2]। आगे चल कर उदयन के शिकार-अभियान का विशद वर्णन हुआ है। कहा गया है कि शिकारी लोग पलाश की पत्ती जैसा गाढे हरे रंग का पहनावा पहनते थे। उनके साथ शिकारी कुत्ते रहते और छोटे जानवरों को फँसाने के लिये जाल और फन्दों का उपयोग किया जाता था[3]।

यशस्तिलक चम्पू काव्य में यशोमति कुमार की शिकार-यात्रा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसके शरीर से कुल राज-चिह्न हटा दिये गये; माथे की केश-राशि लता और पत्तियों के द्वारा कस कर बाँध दी गई, उसका पहनावा काले रंग का था और उस पर कीचड़ चिपका हुआ था और उसके साथ शिकारी कुत्तों का झुंड तथा तीर-धनुष, लट्ठ, भाला, जाल और फन्दे लेकर अनगिनत किरात गये थे[4]।

ऊपर दिये हुए उद्धरणों के साथ मानसोल्लास में वर्णित मृगया-विनोद बहुत-सी बातों में मिलता-जुलता है।

चालुक्य-राज सोमेश्वर की सम्मति है कि राजधानी से थोड़ी दूर

---

१ ४।२६।६–८ २. पृष्ठ ३२ ३ पृष्ठ ८० ४. २।२२०

करने वाला) और शिक्षक कुछ दिनो तक सिखाते-पढ़ाते थे। सीख-पढ लेने के बाद वे विनोद के साधन बन जाते थे। शिकार खेलने के पूर्व दिन न उसको खाने दिया जाता और न सोने दिया जाता। इससे वह चिडचिडा हो जाता था। दूसरे दिन उसको किसी घने जगल में जहाँ अनेक चिड़ियाँ और खरगोश रहते बसते हो, ले जाया जाता। वहाँ हकवे झाड-जगलो से खदेड कर पशु-पक्षियो को एकत्र करते थे। इस दशा में उन पर बाज छोड दिया जाता था। अपने मजबूत डैनों के सहारे बाज आकाश के ऊँचे-से-ऊँचे स्तर पर भी चिडियो का शिकार करता है[1]।

सारमेय-विनोद वा कुत्तों के द्वारा शिकार

आभीर, सीमाप्रान्त, त्रिगर्त्त, कर्णाट, आन्ध्र, वनवासी, विदर्भ प्रमुख प्रान्तो के कुत्ते अच्छे शिकारी निकलते है। आभीर के कुत्तो के रोए छोटे, सीमाप्रान्त वालो की पूछ छोटी, त्रिगर्त्त वाले भारी-भरकम, कर्णाटी के रोए मद्धिम, आध्र वाले आकार के छोटे होने पर भी बडे मजबूत और वनवासी वालो के रोए घने होते हैं। ऐसे कुत्ते जिनकी आँखें लाह जैसी लाल और जीभ आम के पल्लव के समान लाल हो, माथा मोटा हो, मुह पर ढिठाई हो, नख और कधा मोटा और लम्बा हो, छाती चौडी हो, बिचला भाग गोल हो, जाँघ पतली और घुटनो की गाँठ गोल हो और पूछ पतली हो, महाशक्तिमान् होते हैं। दो कुतियो को एक साथ किसी खरगोश के बिल की दिशा में रवाना किया जाय। जो उसको पहले पकड पावे उसे पारितोषिक देना चाहिये। यदि दोनो एक साथ उस पर झपटें तो दोनो को बराबर मानना चाहिये। सुअर का आखेट करते समय कुत्तो की टोली छोडनी चाहिये। यदि सुअर कुत्तो पर वार करे तो उसे भाले, डडे और तीर से मार देना चाहिये। अन्त में कुत्ते उसकी लाश को चट कर लेते है[2]।

---

१. पृष्ठ २६७–२७१ २ मानसोल्लास, पृष्ठ २६४–२६६

आखेट के इकतीस भेद

राजा सोमेश्वर का कहना है कि मृगया के ३१ भेद हैं। किन्तु मानसोल्लास में २१ ही के ब्यौरे दिये हैं। नीचे मानसोल्लास में वर्णित शिकार-पद्धतियो का थोडा-सा दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

पानीयज

सामान्यत जगलो में जो नदी, तालाब, झील होती है, उनमें कही-कही एक-आध स्थान होता है, जहाँ जगली जीव-जतु पानी पीने आते हैं। ऐसे स्थान के समीप गहरे गड्ढे खोदे जाते थे। दिन ढलने के पहले शासक, रनिवास की महिलायें और नौकर-चाकर हरे रग की द्विपदी (पायजामा) जैसा पहनावा पहन कर उन गड्ढो के भीतर छिप जाते थे। ऐसा करने का उद्देश्य यह जान पडता है कि हवा चलने पर भी जगली पशुओ को अगल-बगल में मनुष्य के होने का पता न चल सके। तब तक हँकवे वहाँ आस-पास दाने छितरा देते और जगली हिरनो को बहका कर वहाँ लाने के लिये पालतू हिरनो को छोड देते थे। थोडी देर में पालतू हिरन दो-एक जगली हिरनो को फँसा कर वहाँ लाते थे। जब वे दाना चुगते रहते थे या पालतू हिरनो के साथ लडते रहते थे, तब तक राजा उन्हे लें बीतता था। जगली हिरन को मार गिराने के साथ-साथ उसकी लाश हटा दी जाती और रक्त के कुल चिह्न मिटा दिये जाते। उसी प्रकार और हिरन भी वहाँ लाये जाते थे।

चारज

हँकवे और शिकारी दाने छितरा कर जगली रीछ और हिरनो को राजा के खेमे की ओर बहका लाते थे। वहाँ पहुँचते ही राजा उनको मार गिराता था।

मार्गज

हँकवे आदि पहले जगली हिरनो के आने-जाने की राह का पता

लगाते थे। तदनुसार शिकारी गड्ढे में से किंवा पेड पर से उनका शिकार करता था।

ऊषर

स्वभावत हिरन शोरा (भूमि-क्षार) चाटने के बड़े प्रेमी होते हैं। ऐसा करते समय कभी-कभी डडो से उन्हे मार दिया जाता है।

दीपमृगज

फुर्तीले, हट्टे-कट्टे और सुघड नर और मादा हिरनो को बचपन से, जगली हिरनो को बहका कर शिकारी के पास लाने की शिक्षा दी जाती थी। घोडो की भांति इनके मुंह में दहाने और नियन्त्रित करने के लिये लगाम होती थी। ऐसे हिरनो को दीप-मृग वा बहकाने वाले हिरन कहा जाता था। कभी तो वे पेडो के साथ बांध दिये जाते और कभी छोड दिये जाते थे। वे ऐसे शिक्षित होते थे कि थोडा-सा इशारा मिलते ही सैकडो प्रलोभनो के होते हुए भी वे अपने मालिक के पास चले आते थे। कभी-कभी राजा दो-तीन शिकारियो और दीपमृगों को साथ ले कर शिकार खेलने चला जाता।

बलिवर्द तिरोधान

जगली हिरनो को चकमा देकर दीपमृग उनको शिकारी के निकट ले आते थे। बैलों की आड मे छिपे हुए शिकारी तब उन्हें तीर का निशाना बनाते थे।

वध्रज, पाशज और जालज

जाल और फन्दे में फँसाकर जगली हिरनो को पकडना।

ताड़िक

तालियां बजाकर और थपोडी पीट कर जो शिकारी हिरनो का मन भुलाते हैं, वे 'ताड' कहे जाते हैं। सघन जगल में जहाँ चारो ओर हरियाली लहलहाती हो और जहाँ सूखी पत्तियां न हो, ऐसे स्थान में

जगली हिरनो के झुण्ड के आने का समाचार मिलते ही राजा कुछ ताड़ों के साथ वहाँ चला जाता। वहाँ पहुँचते ही ताड लोग अपने सिर के बाल विखरा देते और शरीर के ऊपरी भाग को नीचे ऊपर करते हुए थपोडी पीट-पीट कर गोलाकार घूमते थे। साथ ही वे मुह से एक अद्‌भुत शब्द करते रहते थे। हिरनें आँखें फाड कर उनका कृत्य देखते रहते थे। ऐसी दशा में दवे पाँव राजा पीछे से अचानक आकर बहुतो को ले बीतता था।

वायुज

आँधी-तूफान के दिन जब जोर से हवा वहती रहे, तव यदि जगली हिरनो के आने का समाचार मिलता तो राजा ८।१० शिकारियो के साथ उल्टे रास्ते से आकर किसी पेड पर वा किसी ढूह पर चढ़ जाता। ऐसे समय शिकारी लोग हल्ला-गुल्ला मचाकर हिरनो को राजा की ओर भगाते। तब राजा वही बैठा वहुतो का काम तमाम करता था।

कोपज

किसी हिरनी को अपनाने के लिये कभी-कभी दो हिरन आपस में लड जाते है। जब तक वे लडते रहते है, तव तक शिकारी पेड की आड मे खडा-खडा तमाशा देखता रहता था। लडाई समाप्त हो जाने पर वह हारे हुए हिरन को मार देता था।

कामज

जिस समय जगली हिरन रति-क्रीडा में मस्त रहते हैं, उस समय वे विल्कुल ला-परवाह हो जाते हे। ऐसे समय शिकारी वेखटके उन्हे मार गिराते हे।

मदविकारज

खान-पान की सामग्री के साथ दवा मिला कर हिरनो को पागल कर दिया जाता था। फिर वे मार दिये जाते थे।

व्याघ्रज

शिक्षित चीते के द्वारा शिकार खेलना [१]।

उपर्युक्त शिकार-पद्धतियो पर ध्यान देने से यही निष्कर्ष निकलता है कि इस काल के अधिकतर शिकारी अपनी एक ओछी प्रवृत्ति को तृप्त करने के लिये ही आखेट करने जाते और मृगया सबधी प्राचीन नियम-कानून ताक पर रख कर, छल-छन्द का उपयोग कर अधिक-से-अधिक जीव-हत्या करने पर उतारू हो गये थे।

पालतू जतु

परम्परा के अनुसार मनबहलाव के लिये बहुत-से लोग जीव-जन्तु पालते थे तथा उनको स्नेह की दृष्टि से देखते थे। कादम्बरी का कथन है कि ब्राह्मण अध्यापक कुबेर के यहाँ एक जोडा पालतू सूआ था। उनके बारे में कहा गया है कि पाठ रटते समय यदि विद्यार्थी भूल करते तो वे डाँट-फटकार बताते थे। वे स्वय यजुस् और सामवेद दुहरा सकते थे [२]। कादम्बरी के पाले हुए पशु-पक्षियो का परिवार भारी था। उसके यहाँ कलहस, मोर, चकवे, कोयल, कबूतर और चकोर थे [३]। मनोरजन के लिये उसने कालिन्दी नाम की सारिका का ब्याह परिहास नाम के सुए से कर दिया था [४]। शरीर त्यागने के पहले उसने अपनी सहेली मदलेखा को कालिन्दी, परिहास, नेवली जो उसकी गोद में पडी रहती थी, तरलक नाम के मृगछौने, जिस चकोर का पालन-पोषण क्रीडा-शैल पर हुआ था, हस और वनमानुषी को मुक्त कर देने को कहा था [५]। कर्पूरमजरी नाटक में राजा चण्डपाल का पालतू सुग्गा विदूषक को डाँटते हुए कह रहा है कि मैं चोच के द्वारा तेरी चुदी जड से उखाड लूगा [६]। घरवाली सामान्यत जो प्रेम अपने पति और बच्चो को देती है, वारवनिता वही प्रेम पालतू जानवरो से करती है। इस रीति

---

१. पृष्ठ २७५–३०४ ३ पृष्ठ ३८३–४ ५. पृष्ठ ६२५
२. पृष्ठ ५ ४ पृष्ठ ४०३ ६ चौथा अक

से वह अपने हृदय के स्वाभाविक स्थायी भावो को सशक्त रखती है। कुट्टनीमतम् का कहना है कि कामसेना के पालतू नेवले ने एक दिन दूध नही पिया। इसलिये उसकी पालिका ने भी उस दिन भोजन नही किया[1]। सुरत देवी के बारे में कहा गया है कि बाहर ठहरे हुए गाहको की परवाह न कर लौ-लीन हो वह सुए को पढा रही थी[2]। मुकुला रात-दिन पालतू मेढे की देख-भाल किया करती[3]। महानाटक का कथन है कि वन को सिधारने के पहले सीता देवी ने पालतू शुक-सारिका और कोयल से विदा ली थी[4]। कथा-सरित-सागर का कहना है कि ऋषि मरीचि ने एक सुग्गा पाला था। किन्तु अन्त में उस पर एक निषाद का हाथ लगा[5]। पाटलिपुत्र के शासक विक्रम केशरी का एक बुद्धिमान् सुआ और रानी चन्द्रप्रभा की एक बुद्धिमती सुग्गी थी[6]। राजकुमार मृगाकदत्त के विवाह के उप-लक्ष्य में अयोध्या के राजा अमरदत्त ने अपने पालतू पशु-पक्षियो को भी उपहार दिया था[7]। उत्तरपुराण का कथन है कि पुण्डरीकिणी नगर में कुवेरदत्त नाम का एक सेठ रहता था। रतिवर नाम का उसका एक पालतू कबूतर था। परिवार के सभी का वह लाडला था। खाने के लिये उसे मीठा अन्न दिया जाता था। सेठ जी ने रतिसेना नाम की एक कबूतरी के साथ उसका विवाह भी कर दिया था[8]।

कथाकार वा कहानी सुनानेवाले

पुस्तकादि का प्रचार सीमित होने के कारण प्राचीन काल में कहानी सुनाने वालो, सुभाषित वा सूक्ति कहने वालो, वाचको और कथको की खूब चलती थी। राजभवनो में राजा, रानी और राज-कुमारो का मन बहलाने के लिये सदैव उनकी माँग बनी रहती थी। कादम्बरी का कहना है कि राजा शूद्रक समय-समय पर रसीली उक्तियाँ और कहानी प्रभृति सुनने के लिये राजभवन में गोष्ठी का आयोजन

---

१ पृष्ठ ८७ ३ पृष्ठ ८७ ५ पृष्ठ ३०८ ७ पृष्ठ ४८९
२ पृष्ठ ८६ ४ तीसरा अक ६ पृष्ठ ४१२ ८ पृष्ठ ४४७

करता था[१]। विद्यामदिर से लौटने के वाद पिता के कहने पर कुमार चन्द्रापीड जव माता से मिलने के लिये रनिवास में गये, तव रानी विलासवती का मन वहलाने के लिये वृद्धा तापसियाँ उनको इतिहास और पुराणो की पुण्य-कथाएँ सुना रही थी[२]। देवी कादम्बरी को नारद की कन्या सुरीले स्वर से महाभारत पढ कर सुना रही थी और उसके पीछे वैठी हुई किन्नर-कन्याए वाँसुरी वजा रही थी[३]। कुट्टनीमतम् का कहना है कि रणक्षेत्र में पीठ न दिखाना, नाट्यकला का पारखी होना, सुभाषित से प्रेम करना और आखेट में रुचि राजपुत्रो की कुल-विद्या मानी जाती थी[४]। कर्पूरमजरी का कथन है कि राजभवनो मे "सुभाषित-पाठक" सादर रखे जाते थे जो समय-समय पर अपनी तुरत-वुद्धि और विद्वत्ता के द्वारा सुनने वालो को मोहित कर देते थे[५]। पद्मचरित का कहना है कि पचवटी में रहते समय राम और लक्ष्मण पेडो की सघन छाया में वैठ कर सीता जी का मन वहलाने के लिये रोचक किस्से-कहानी सुनाया करते थे[६]।

आदिपुराण में कथको में जो-जो गुण होने आवश्यक है, उनकी लम्बी सूची दी गई है। कहा गया है कि कथा सुनाने वाला सदाचारी, स्थिर वुद्धि, इन्द्रियो का समर्थ, सुदर्शन, मार्जित भाषा-भाषी, प्रियभाषी, प्रतिभाशाली, तुरत वुद्धिवाला, सहनशील तथा स्वभाव का उदार हो। वह औरो के अभिप्राय को समझने वाला, समस्त विद्याओ का जानकार, अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर विषय को स्पष्ट करने वाला, सस्कृत-प्राकृत आदि भाषाओ का भारी विद्वान् और अनेक शास्त्र और कलाओ में निपुण हो। कथा बाँचते समय न वह भौं चलावे, न किसी पर आक्षेप करे और न जोर से वोले। सदैव सत्य, प्रमाणित वचन इस प्रकार वोले जिससे किसी का चित्त न दुखे, अयुक्तियो का परिहार कर तथा

---

१ पृष्ठ ९ ३ पृष्ठ ४२७ ५ पृष्ठ ९९
२ पृष्ठ २०५ ४ ९८९ ६ २।१८६

युक्ति-पूर्ण विचार कर, कथा सुनावे। अन्त में कहा गया है कि सुनने वालो की योग्यता के साथ मेल रख कर कथा वाँचना चाहिये[1]।

अवदान-कल्पलता की कुछ कहानियो से ऐसा जान पडता है कि अधिकारी और योग्य व्यक्तियो के मुह से सुभाषित वा सूक्त सुनने के लिये लोग बडे लालायित रहते थे ; तथा एक-एक सूक्ति के लिये विना आगा-पीछा सोचे, वे रुपया, पैसा, यहाँ तक कि प्राण तक देने को राजी हो जाते थे।

बनारस में सुभाषित-गवेषि नाम का एक राजा था। उसके दरबार में कवि और विद्वानो के ठट्ठ लगे रहते थे। एक दिन उसने सुमति नाम के महामात्य को सुभाषित सुनाने को कहा। बला टालने के लिये उसने कहा कि जगलो में क्रूरक नाम का एक व्याध रहता है। उसके पास सुभाषितो का खजाना है। सुनते ही राजा साधारण वस्त्रादि पहन कर, उसकी खोज में निकल पडा। पूछ-ताछ करके राजा उसके यहाँ पहुँच भी गया। राजा की विनती सुन कर उसने शर्त्त रखी कि आप उस पहाड की चोटी पर से कूदने को तैयार हो जायँ, तभी मैं सूक्ति सुना सकता हूँ। राजा तुरत राजी हो गया। व्याध ने तब एक मामूली सुगत-शासन सुना दिया। वचन के अनुसार राजा पहाड पर से कूदा, किन्तु एक यक्ष ने उसे बचा लिया[2]।

उसी प्रकार श्रावस्ती के शिवि राजा के बारे में कहा गया है कि एक दिन महल की छत पर बैठा वह कुछ सोच विचार में पडा हुआ था। अचानक राक्षस के वेश में इन्द्र महाराज वहाँ पहुँचे और एक श्लोक का आधा पद सुना कर वे एकाएक रुक गये। राजा ने श्लोक पूरा करने के लिये बहुत विनती की। राक्षस ने कहा "मैं भूखा-प्यासा हूँ, इसलिये आगे नही बढ सकता।" राजा ने पूछा "आप क्या खाना चाहते हैं?" राक्षस बोला "आपका रक्त और मास।" राजा के मान जाने पर उसने पूरा श्लोक पढ सुनाया[3]।

---

१. १।१२६–१३८ २ ५३।१–५७ ३. अवदान ९१

वनारस के शुद्धोदन नाम के एक समुद्री व्यापारी ने राजा ब्रह्मदत्त की पुत्री से एक सुभाषित मोल लिया था। मूल्य के रूप मे उसने १२ वर्षों में जितने मोती जमा किये थे, सव दे दिये[1]।

भोज-प्रवध से जान पडता है कि धारा के भोजराज भी कवियो के प्रकाण्ड पृष्ठपोषक थे। वे एक-एक श्लोक, एक-एक शब्द और कदाचित् एक-एक अक्षर के लिये लाख-लाख रुपया देते थे।

चतुरंग वा शतरंज

ऊपर कहा जा चुका है कि पालि, प्राकृत और प्राचीन सस्कृत-ग्रन्थो में बार-बार अष्टपद और दशपद शब्दों का उल्लेख है, तथा इस प्रसग में अन्दाज लगाया गया था कि सभवत ये खेल चतुरग वा शतरंज के पूर्वज रहे होगे। अस्तु। सातवी और आठवी शती में रचित कई प्रामाणिक ग्रन्थो में चतुरग शब्द का स्पष्ट उल्लेख है। वाणभट्ट के हर्षचरित में चतुरग शब्द आया है[2], कादम्बरी में शूद्रक की शासन-परिपाटी की सराहना करते हुए कहा गया है कि "शून्य-गृह" (वा खाली खाने) केवल चतुरग खेलने की बिसात वा फलक में ही दीख पडते थे[3], दशकुमार-चरित में चतुरग की गिनती निर्जीव द्यूतकला में की गई है[4]। किन्तु साहित्यिक उल्लेख वाद में होने के वावजूद ऐसा लगता है कि हमारे देश में वहुत दिनो से चतु-रग खेला जाता था। छठी शती के बीचोबीच शाह खुसरो नौशेरवा के राज्य-काल में यह खेल ईरान पहुँचा था।

जुआ

यद्यपि वाणभट्ट ने कादम्बरी में अक्षक्रीडा[5] का उल्लेख किया है, किन्तु उसने कही भी इस लोकप्रिय खेल का सविस्तार वर्णन नही किया है। कुट्टनीमतम् में पचाक्ष-द्यूत का उल्लेख हुआ है[6]। कथा-सरित्सागर का कथन है कि मालवा के राजा श्री सेन

---

१ अवदान १०७ १।८६ ३ १।११ ४ २।२।७९ ५ १।१२७ ६ ९९७

को युवावस्था में जुए में हारने के कारण वहुत कष्ट झेलने पडे थे। अत राजा होने पर उसने हारे हुए जुआरियो के टिकने के लिये एक "महामठ" बनवा दिया था। वहाँ वे निश्चिन्त होकर खाते-पीते और चैन करते थे[१]। चन्द्रप्रभ नाम के एक ब्राह्मण जुआरी की हार होने पर डडो से उसकी मरम्मत की गई, फिर जीतने वालो ने उसे नगा करके जगल में छोड दिया[२]। उसी प्रकार पुराने जुआरी डाकिनेय की हार होने पर वह पीटा गया, फिर एक सूखे कुए मे डाल दिया गया[३]। जुआरियो का ऐसा नियम था कि वे हार का माल वापस नही करते थे[४], हारने वाला विजयी का दास बन जाता था, किन्तु इसके लिये दोनो पक्ष वालो की रजामन्दी की आवश्यकता होती थी[५]। पासे लुढकाते समय यदि किसी जुआरी ने आपत्ति न की, तो खेलने के लिये वह विवश किया जाता था[६]। परिशिष्ट पर्वन् का कहना है कि चन्द्रगुप्त के राजकोष मे धन की कमी होने पर चाणक्य धनी नागरिको को जुआ खेलने के लिये बुला लेता और कूट-पाशको का उपयोग कर उनका धन जीत लेता था[७]।

व्यायाम

हर्ष की बात है कि इस काल के साहित्यिको में से किसी-किसी ने व्यायाम को मान्यता दी है। बडे-बडे शासको की दिनचर्या का वर्णन करते समय अथवा विद्यालयो के कार्य-क्रम का ब्यौरा देते समय वे शारीरिक व्यायाम करने की प्रथा का भी उल्लेख कर देते हैं।

दिव्यावदान का कथन है कि उपगुप्त के साथ सम्राट् अशोक जब तीर्थाटन कर रहा था, तब कपिलवस्तु के और और दर्शनीय स्थानो के साथ-साथ उपगुप्त ने सम्राट् को बुद्ध भगवान् की व्यायामशाला भी दिखायी थी[८]। कादम्बरी से विदित होता है कि कुमार चन्द्रापीड के लिये जो विद्यामदिर बनाया गया था, उसमें व्यायामशाला भी

---

१ पृष्ठ ३९० ३ पृष्ठ ५७० ५ पृष्ठ ४०१ ७ ८।२२७
२ पृष्ठ ४४९ ४ पृष्ठ ४०० ६ पृष्ठ ५७२ ८ २७।३९१

थी[१]। आगे कहा गया है कि जिस मुद्गर को दस मनुष्य मिल कर उठा पाते, ऐसे लोहे के मुद्गर से कुमार व्यायाम किया करता था[२]। नैषधचरित का कहना है कि दरबार उठ जाने पर राजा नल विद्यार्थी राजपुत्रो को शस्त्रास्त्र चलाने की शिक्षा देता था[३]। कुमारपालचरित में कहा गया है कि राजा प्रात कृत्यादि से निवृत्त होकर श्रम-गृह में जाता और बहुत-से भरो (मल्लो) के साथ मल्ल-श्रम, धनुश्रम, असिश्रम, शक्तिश्रम, चक्रश्रम, प्रासश्रम, परशुश्रम और शूलसीर (हल) श्रम नियमित रूप से किया करता था[४]।

मानसोल्लास से जान पडता है कि शासक लोग कभी-कभी शस्त्रास्त्र चलाने की निपुणता का प्रदर्शन करते थे। कहा गया है कि ऐसे अवसरों पर राजकर्मचारी, अमात्य, राजकुमार, राज्यपाल, सामन्त, रजवाडे, विद्वान्, कवि तथा रनिवास की महिलाओं का भारी जमावडा होता था। राजा ललाट पर तिलक और छाती तथा भुजाओ पर चन्दन लगा कर अखाडे में उतर पडता। उसके सिर पर बाघ की पूछ की बनी हुई एक टोपी होती थी। फिर वह दर्शको में से एक वीर योद्धा को अपना प्रतिद्वदी चुन लेता। प्रारभ में वह कटार और कटारी का खेल दिखाता, फिर तलवार लेकर पचाघात प्रमुख चोट दिखाता। इसके बाद वह तीर और धनुप लेकर लक्ष्यवेध आदि का खेल दिखाता। अन्त में बारी-बारी से वह भाले, चक्र और गदा का खेल दिखाता। सोमेश्वर ने इस प्रदर्शन का नाम शस्त्र-विनोद दिया है।

धनुर्विद्या का प्रदर्शन करते समय राजा नाना प्रकार के ठवन, आसन और मुष्टियो के साथ-साथ कैशिक, सात्वत और भरत नाम की शैलियाँ दिखाता था। इस सिलसिले में सोमेश्वर ने शब्द से ज्ञेय परापर लक्ष्य, पाँच प्रकार के चल लक्ष्य, उत्तम लक्ष्य, मध्यम लक्ष्य और कनिष्ठ लक्ष्य का सविस्तार वर्णन किया है। अन्त में उसने राधा-वेध का वर्णन किया है। यह प्राय मत्स्यवेध की तरह था। अर्जुन से टक्कर लेने के

---

१ पृष्ठ १६७ २. पृष्ठ १६९ ३ २१।५-६ ४ २।१-२०

अभिप्राय से राजा एक वाण के द्वारा लक्ष्यवेध करता और साथ ही साथ पाँच वाण आकाश में छोडता। ऐसा जान पडता है कि प्राचीन काल मे हमारे देश में धनुर्विद्या की वडी उन्नति हुई थी। किन्तु आज कल ये सब हाथ की सफाइयाँ ऐतिहासिक घटना हो गयी है[1]।

दौड़ की प्रतियोगिता

ऐसा लगता है कि इन दिनो दौड की प्रतियोगिता कर किसी झगडे का निपटारा करने की प्रथा प्राय उठ-सी गई थी। इसलिये साहित्यिक उल्लेख भी इने गिने हैं। जैन-हरिवश का कथन है कि राजा अरिजय की पुत्री प्रीतिमती ने प्रण किया था कि जो भी वीर उसे दौडने में नीचा दिखायेगा, वही उसका पति होगा, अन्यथा नही। अत समारोह के साथ दौड की प्रतियोगिता की गई। चितागति, मनोगति, चपलगति प्रमुख विद्याधरो ने इसमें भाग लिया था। किन्तु प्रीतिमती ने गति-युद्ध में सभी को मात कर दी[2]।

कथा-सारित्सागर से जान पडता है कि घर से भागे हुए पुत्रक ने विन्ध्याटवी में पैतृक सपत्ति लेने के लिये मय दानव के दोनो पुत्रो को आपस में छीना-झपटी करते देखा। इस पर पुत्रक ने उनसे कहा कि आपस में हाथा-पाई न कर दोनो भाई दौड की प्रतियोगिता करो। जीतने वाले को कुल सपत्ति मिले। दोनो ने उसका कहना मान लिया। जव वे दौड कर निकल गये तव पुत्रक सारी वस्तुओ पर हाथ साफ कर वहाँ से चलता हुआ[3]।

पुन उसी पुस्तक का कथन है कि वैशाखपुर में रुचिरदेव और पोतक नाम के दो सौतेले भाई रहते थे। रुचिरदेव की एक हथिनी थी और पोतक के तेज दौडने वाले दो घोडे थे। एक दिन दोनो भाइयो में उनकी गति के वारे में कुछ कहा-सुनी हो गई। रुचिरदेव अपनी हथिनी को दौडने में वहुत तेज मानता था तो पोतक अपने घोडो को तेज वताता। इस पर दोनो ने वाजी रखी कि जीतने वाले को हारने वाले के

१ पृष्ठ १५५-१७१ २ ३४।१८-३१ ३ पृष्ठ ६

पशु मिलेंगे। इस झगड़े का निपटारा करने के लिये कौशाम्बी के युवराज नरवाहनदत्त बुलाये गये। निदान दौड़ की जो प्रतियोगिता हुई, उसमें हथिनी की जीत हुई[1]।

कवि-समाज

राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में शासकों को काव्य-परीक्षण के लिये कभी-कभी कवि-समाज की बैठक करने का सुझाव दिया है[2]। सभा-गृह का वर्णन करते हुए उसने कहा है कि उसके १६ खंभे और चार द्वार हों और आसपास आठ मत्तवारणी (विश्राम गृह) हों। सभा-गृह राजा के केलि-गृह से सटा हो। बीच में हाथ-भर ऊँची एक वेदिका हो, उसके कोनों में खंभे हों। राजा का सिंहासन उसी पर रखा जाय। उत्तर दिशा में संस्कृत भाषा के कवि, वेदज्ञ ब्राह्मण, पौराणिक, स्मार्त्त और वैद्य बैठाये जायें, पूर्व में प्राकृत भाषा के कवि, नट, नर्त्तक, गायक, वादक, भाँड आदि रहें। पश्चिम में अपभ्रंश भाषा के कवि, चितेरे, सोनार, लोहार, बढ़ई आदि बैठाये जायें। और दक्षिण में भूत-भाषा के कवि, वैशिक, गणिका, जादूगर, मल्ल और योद्धा हों। ऐसी सभा में नये काव्यों की सम्यक् समालोचना हो, सभापति का आदर-सम्मान किया जाय और कवियों को पारितोषिक दिये जायें। कहा गया है कि प्राचीन काल में वासुदेव, सातवाहन (शालिवाहन वा हाल), शूद्रक और साहसांक (विक्रमादित्य) प्रमुख शासक ऐसी सभाओं के सभा-पति हुए थे। ऐसी काव्य-गोष्ठियों में कभी-कभी शास्त्रार्थ भी किया जाय।

जैन-हरिवंश का कथन है कि याज्ञवल्क्य ने सुलसा नाम की एक विदुषी परिव्राजिका को शास्त्रार्थ में पराजित कर उसका पाणि-ग्रहण किया था। आगे सुलसा ने पिप्पलाद को जन्म दिया[3]। अवदान-कल्पलता का कहना है कि बनारस के राजा क्रिकी के दरबार में उपाध्याय ने वादि सिंह को शास्त्रार्थ में नीचा दिखाया था[4]।

मानसोल्लास के कथनानुसार सोमेश्वर के दरबार में तीसरे पहर

१ पृष्ठ ३५२ २ १०।१७४-१७७ ३ २१।१२९-१३९ ४ ३९।२६-४२

कभी-कभी इस प्रकार की कवि-गोष्ठी और शास्त्रार्थ करने के लिये बैठकें होती थी। सिंहासन के चारो बगल बडे-बडे कवि, गायनाचार्य, नैयायिक और विद्वान लोग बैठते थे। सभा में उक्त अवसर पर सद्धर्मी भी बुलाये जाते थे। बैठक में काव्य, नाटक, न्याय-शास्त्र आदि की चर्चा होती थी। अन्त मे शासक की ओर से प्रतिभाशाली मनीषियो को पारितोषिक दिया जाता था[1]।

इस प्रकार राष्ट्र की ओर से कवि-समाज की बैठकें करने के अतिरिक्त काव्य-मीमांसा से पता चलता है कि बनारस, उज्जयिनी प्रमुख विद्या-केन्द्रो मे काव्य-परीक्षा और शास्त्र-परीक्षण के लिये कभी-कभी ब्रह्म-सभा की बैठकें की जाती थी। इन परीक्षाओ में जो पारित होते थे उन्हे क्षौम-वस्त्रादि पहना कर और ब्रह्म-रथ पर बैठा कर समारोह के साथ सवारी निकाली जाती थी। उज्जयिनी की काव्य-परीक्षा के विषय में कहा गया है कि कालिदास, अमर सिंह, भारवि प्रमुख प्रख्यात कवियो को ब्रह्म-सभा के समक्ष उपस्थित होकर परीक्षा देनी पडी थी। उसी प्रकार पाटलिपुत्र से शास्त्र-परीक्षा में उत्तीर्ण होकर वर्ष, उपवर्ष, पाणिनि, व्याडि, पतंजलि, वररुचि प्रमुख मनीषियो ने बडा नाम कमाया था। इन सभाओ के सभापति बन कर जो अंतिम निर्णय सुनाते थे, सारे ब्रह्माण्ड में उनका यश फैलता था[2]।

पादपूरण

बृहत्कथा-कोश का कहना है कि नन्द राजा ने एक दिन हँसी-हँसी में वररुचि से कहा कि एक श्लोक के चौथे पाद की रचना तो मैंने कर ली है, प्रारंभिक तीन पादो की रचना अभी-अभी करके सुनाओ। श्लोक का अंतिम पाद "रणटणटण्टणटण्टण" था। सुनते ही वररुचि ने पूरा श्लोक रच कर राजा को सुना दिया[3]। यहाँ कहना अप्रासंगिक नही होगा कि इसी श्लोक का अंतिम चरण महानाटक और भोजप्रबंध में आया है।

---

१ पृष्ठ १७१-१८९ २ १०।१७८ ३ पृष्ठ ३५१

गोष्ठियों के भेद

सामान्यत गोष्ठी शब्द का अर्थ जलसा वा बैठक है। ऊपर काम-सूत्र में वर्णित पान-गोष्ठी का उल्लेख हो चुका है। जैनियो के आदि-पुराण का कहना है कि बाल्यावस्था में ऋषभदेव ने नाना प्रकार की गोष्ठियो की कार्यवाही में सक्रिय भाग लेकर बडा नाम कमाया था। प्रसगत कहा गया है कि वे चित्रादि खीचने से सबद्ध कला-गोष्ठी में योग देते, कदाचित् पद-गोष्ठी में बैठ कर वैयाकरणो के साथ उस शास्त्र की चर्चा करते, कभी काव्य-गोष्ठी, कभी जल्प-गोष्ठी में भाग लेकर वाद-विवाद करते, कभी नृत्य-गोष्ठी, कभी गीत-गोष्ठी, कभी वादित्र गोष्ठी तो कभी वीणा-गोष्ठी में चले जाते थे[1]। इनके अतिरिक्त हर्ष-चरित में वीर-गोष्ठो का उल्लेख हुआ है। इसमें युद्ध-क्षेत्र में वीरो को कृतियो की चर्चा को जाती थी। हर्षवर्धन ऐसी बैठको की कार्यवाही में बडा रस लेता था[2]।

लीलाघर

कर्पूर-मजरी नाटक मे लीला-गृह वा प्रमोदशाला का विशद वर्णन हुआ है। कहा गया है कि वहाँ हवा में सदैव अगरु धूप बत्ती की गोला-कार कुडलियाँ तैरती रहती थी, दीपावली के तेज से सारा भवन जगमगा रहा था, ऊपर मोती की झालरें झूम रही थी, खूब ऊपर कबूतरें चक्कर काट रहे थे, इधर-उधर केलि-शय्याए बिछी पडी थी, सैकडो युवतियाँ आपस में धीरे-धीरे बातचीत कर रही थी और मानिनी गाल फुला कर एक कोने में बैठी थी[3]।

छहों ऋतुओं के अनुरूप भोग-विलास

आदिपुराण का कथन है कि राजा वज्रजघ ने अपनी धर्मपत्नी श्रीमती के साथ छहो ऋतुओ के अनुकूल नाना प्रकार के भोग भोगते हुए बहुत-सा समय बिता दिया। शरद् ऋतु में खिले हुए कमलो से सजे हुए तालाबो के जल में और सप्तपर्ण वृक्षो की सुगधि से महमहाते

---

१ १४।१९०-१९२ २ पृष्ठ ७१ ३ पृष्ठ ८७

हुए वनो में वह मनमाना रमता फिरता था, हेमन्त में मीठी धूप से तपे हुए शयनागार में वह देवी के स्तनो की उष्णता का रस लेता, शिशिर ऋतु आने पर वह केशर से पुते हुए देवी के शरीर से चिपक जाता, वसन्त काल में वह देवी के साथ अमराई में खेलता फिरता और कभी देवी के कानो में अशोक की कोपलें खोसता, गरमी के दिनो जलक्रीडा के द्वारा देवी को प्रसन्न करता, फिर चन्दन से पुते हुए देवी के अगो में शिरीष कुसुम के बने हुए नाना प्रकार के गहने बना कर पहनाता था। पुनः वर्षा ऋतु मे जब बादल की गरज सुन कर मस्त मोर नाचने लगते थे, पाटो के लबालब भर जाने से प्रमत्त नदियाँ उमड पडती थी और गगन-मडल में घोर घन-घटा देख कदब के फूलो में स्वभावत. सिहरन आती थी, तब भय के मारे देवी राजा के गले लिपट जाती थी[1]।

प्राचीन काल में विलासी लोग जिस रीति से गर्मी के दिनो में समय काटते थे, उसका सजीव वर्णन कर्पूरमजरी नाटक में हुआ है। वे दोपहर को चन्दन पोतते, सध्या तक भीगे वस्त्र ओढे रहते, रात के एक पहर तक जल-क्रीड़ा करते, फिर शीतल सुरा पीते और रात के अतिम भाग में निधुवन का रस लेते। पुन कहा गया है कि बाँसुरी पर पचम राग अलापने से कानो को शाति मिलती है, ठण्डे पानी के साथ वारुणी पीने से मुह को शीतलता पहुचती है और बगल में यदि चन्दन पुते स्तन-वाली ललना हो तो शय्या को तरी पहुँचती है। गर्मी के दिनो ये सब स्वभाव-शीतल होते है[2]।

संवाहन कला

पद्मचरित में सवाहन कला का विशद वर्णन हुआ है। कहा गया है कि उसके कर्म-सश्रय और शय्योपचारिक—दो भेद है। कर्म-सश्रय के पुन—सस्पृष्ट, गृहीत, भुक्तित और चलित—चार भेद है। क्रम से उनसे त्वचा, मास, हड्डी और मन को सुख होता है। मालिश करते समय ठोकर मारने, तोड-फोड़ करने, गडाने, दबाने और गाँठो के दृढ

1 ९१।१-२० 2. अक ४

हो जाने पर उन्हे ऐंठ कर अलग करने की रीति है। इन चेष्टाओ के मृदु, मध्यम और प्रकृष्ट, तीन भेद है। हल्के हाथो से दबाने पर त्वचा को आराम पहुचता है, मद्धिम से मास को और प्रकृष्ट से हड्डो को। मालिश करते समय गुनगुनाते हुए लोरियाँ गाने से मन हरा होता है। इस कला को प्रयोग करते समय निम्नलिखित दोषो से बचना चाहिये—रोओ को कभी उल्टा-पुल्टा नही सहलाना चाहिये, जहाँ माम की कमी हो वहाँ निरर्थक दबाना नही चाहिये और बालो को कस कर खीचना नही चाहिये। मलनेवाला पात्र की रुचि पर ध्यान दे तथा उसको उलटे-सीधे कभी न लिटाना चाहिये। जब मालिश के द्वारा मन को चगा करने के लिये साज-सामान (करण) का उपयोग किया जाय, तब उसे शय्योपचारिक कहा जायगा[१]।

मानसोल्लास में वर्णित पादाभ्यगोपभोग भी एक प्रकार की मालिश थी। भोजनादि कर लेने के बाद राजा बाए पार्श्व के बल लेट जाता था। तब मालिश करने में कुशल दासी पैरो पर उबटन-सा कोई पदार्थ लगाती थी। ऋतु-परिवर्तन के साथ-साथ उबटन भी बदलती रहती थी। वसन्त में घी, दही वा दूध, गर्मी में मक्खन, वर्षा मे चर्बी वा मठा और शरद् काल में शत-धौत घी का उपयोग किया जाता था। मालिश हो जाने पर मसूर और हल्दी के चूर से पैर धो दिया जाता था[२]।

चित्रकारी

ऊपर कहा जा चुका है कि प्राचीन भारत मे चित्रकारी का प्रचार व्यापक था। अच्छे घराने के प्राय सभी स्त्री-पुरुष इस कला की चर्चा किया करते थे। वर वा कन्या चुनने के लिये उनका जीता-जागता चित्र भेजने की प्रथा थी। राज-भवन, मठ और मदिरो की भीतो पर चित्र उरेह कर उनको प्रिय-दर्शन बनाने की रीति थी। स्कन्दपुराण के नागर खड से ज्ञात होता है कि राजकुमारी रत्नवती जब सयानी हो गई, तब आनर्त-राज ने योग्य वर की खोज में देश-विदेश के बहुत

१ ३।५०१ २ पृष्ठ १३८-१३९

से दरवारो में चित्रकार भेजे। उन्हें राजकुमारो का चित्र खीच लाने का निर्देश दिया गया था। इन सव चित्रो की देख-भाल कर राजकुमारी मनचाहा पति चुनने वाली थी[१]। कादम्वरी का कहना है कि सीता-हरण के अनन्तर विरही राम ने अपने दुखी मन को ढाढस देने के लिये कुटिया की दीवार पर वडी लगन के साथ सीतादेवी का चित्र वनाया था[२]। रत्नावली नाटिका में निपुणिका अपनी सहेली सागरिका को चित्रकर्म का साज-सामान लेकर कदली-गृह में पैठते देखती है[३]। सागरिका और सुसगता दोनो चित्रकारी मे पटु थी। सागरिका वडे प्रेम से उदयन का चित्र उरेहती है, तो सुसगता ने झटपट सागरिका का चित्र खीच दिया[४]। हर्ष-चरित से विदित होता है कि कुछ लोग "यम-पटिक" वा परलोक के मन-गढन्त दृश्यादि दिखा कर पैसा कमाते थे[५]। मालती-माधव में वडी लगन के साथ मालती अपने प्रियतम माधव का चित्र वनाती है[६]। कुट्टनीमतम् की सम्मति है कि विदुषी कहलाये जाने के लिये वारवनिताए चित्रकर्म कर सकती है, किन्तु मनवहलाव के लिये नही[७]। कर्पूरमजरी नाटक में "भीतो पर वनाये हुए" चित्रो का उल्लेख है[८]। नैषध-चरित का कथन है कि नल के प्रमोद-भवन की भीतो पर जो चित्र वने हुए थे, वे वहुधा जीते-जागते जान पडते थे तथा उनकी रँगावट भी अनोखी थी। किन्तु इन चित्रों में सुरुचि का परिचय नही मिलता है। दारु-वन में ऋषि-कन्याओ के वीच शिवजी, व्रज-भूमि में गोपियों के साथ कृष्ण-लीला और अप्सराओ ने जिस रीति से वडे-वडे मुनि-ऋषियो को वहकाया था—यही सव दृश्य वने हुए थे[९]। प्राचीन रोम में भी विलासियो के सोने के कमरो में ऐसे पौराणिक दृश्य खीचने की प्रथा थी। स्थान, काल और पात्र पर विचार करते हुए सभवत:

---

१ ११६।४–६ ४ पृष्ठ ५८ ७. पृष्ठ ७१

२. १।४७ ५. ५।२१४ ८. पहला अक

ऐसे चित्र अनुपयुक्त नही थे। विद्धशालभजिका नाटक से पता चलता है कि भीत पर चित्रादि खीचने के लिये चितेरिनो को लगाने की रीति थी[१]। कथा-सरित्सागर का कथन है कि महामत्री यौगन्धरायण पद्मावती को महादेवी वासवदत्ता के यहाँ छोड कर स्वय खिसक पडा। महादेवी तब पद्मावती के साथ अपने महल में पधारी। पद्मावती ने वहा भीत पर 'विरहिणी सीतादेवी की चित्रित मूर्त्ति देख कर थोडी-बहुत ढाढस प्राप्त की[२]। मुक्तिपुर की राजकुमारी रूपलता के प्रति अपना प्रेम जतलाने के लिये चित्रकार कुमारिदत्त के हाथ राजा पृथ्वीरूप ने अपना चित्र भेजा था[३]। परिव्राजिका कात्यायनी चित्र-विद्या में वडी कुशल थी। राजकुमारी मन्दारवती का सजीव चित्र अकित कर उसने राजकुमार सुन्दरसेन के आगे रख दिया। फिर कुमार के मित्रो के कहने से उसने राजकुमार का चित्र भी वना दिया[४]।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण का कहना है कि त्रिलोक (की जीवन-यात्रा-पद्धति) की नकल उतारने का नाम चित्र है। नृत्त-कला का भी ध्येय वही है[५]। चित्रो का मुख्य उद्देश्य सभी का ध्यान आकर्षित करके (मन वहलाना) है[६]। चित्रो में उरेहे हुए पात्रो के चार भेद वताये गये है—सत्य.शरीर व्यवच्छेद विद्या के अनुसार यथार्थवादित्व, वैणिकः जितना स्थान उपलब्ध है उसके अनुपात चौकोर पृष्ठ-भूमि के साथ, सुन्दर-सुठाम, परिपूर्ण और लबोतरा अग-प्रत्यग वाली मूर्तिया; नागर शरीर का गठित, वर्त्तुल वा मोटा-ताजा और थोडा-वहुत माल्यधारी, और मिश्र. मिला-जुला[७]।

सोमेश्वरदेव के मानसोल्लास में वज्रलेप, तूलिका वा कूची और नाना प्रकार के रग वनाने के नुस्खे दिये गये है। उसका कहना है कि आधारिक रग कुल चार है—अर्थात् सफेद, लाल, पीला और काला। शेष सभी मिश्र-वर्ण है। चित्र वनाने के पहले नाप-जोख कर लेने की

१ पहला अक ३ पृष्ठ २५१ ५ ३।३५।५ ७ ३।४१।१-५
२ पृष्ठ ५२ ४ पृष्ठ ४७१ ६ ३।४१।१२

प्रथा थी। बीच की रेखा का नाम ब्रह्मसूत्र था और अगल-बगल की दो लकीरें जिन्हे पक्षसूत्र कहा जाता था, छ छ उँगली की दूरी पर खीची जाती थी। ब्रह्मसूत्र की कुल लबाई १०८ अगुल होती थी। मानसोल्लास में चित्राकित मानव के पाँच स्थान वा मुद्राओ पर विचार किया गया है। क्रम से उनके नाम ऋजु, अर्धर्जु, साचि, अर्धाक्षि और भित्तिक है। भिन्न-भिन्न ठवनो के लिये पक्षसूत्र की दूरी घटाई वढाई जाती थी। प्रत्येक स्थान के लिये शरीर के भिन्न-भिन्न अग-प्रत्यगो की नाप-जोख जितनी होनी चाहिए, उसका भी व्यौरा दिया गया है[1]।

गान्धर्व शास्त्र

वृहद्धर्मपुराण में नाद, २२ श्रुतियाँ, सप्त स्वर, तीन गतियाँ, ६ रागो के परिवार और स्वर-साधना के तीन क्रमो का सविस्तार विचार-विवेचन हुआ है। कहा गया है कि गीत गाने के लिये दो तत्त्वो का होना अनिवार्य है—सुकठ और विधि-नियमो की जानकारी। इन दोनो में विधि-ज्ञान को अधिक महत्व दिया गया है। गीतो का पद-विन्यास वाचिक है, वह देखा नही जाता। किन्तु जब उसमें सुर जोडा जाता है, तव सुनने वालो के हृदय में नाना प्रकार के रसो का आविर्भाव होता है। मूलाधार मे अग्निदेव का स्थान है। नाद की उपलब्धि वही होती है। पाँच स्थलो को पार कर वह सिर में पहुचता है। नाभि से अतीव सूक्ष्म आकार मे उसका उद्‌गम होता है, हृदय तक पहुँचते-पहुँचते वह सूक्ष्म हो जाता है, गले तक आने पर वह अव्यक्त वन जाता है तथा मुख से निकलते समय उसमे कृत्रिमता वा वनावटीपन आ जाता है। सिर में समाते समय वह फिर अव्यक्त वा अस्पष्ट हो जाता है। नाभि से सिर तक क्रम से दयावती आदि २२ श्रुतियाँ है। षडजादि सात स्वर है। इन स्वरो की घोर, मन्द्र और उच्च नाम की तीन गतियाँ है। स्वर-साधन के आरोही, अवरोही और सञ्चारी नाम के तीन क्रम है। अत मे राग-रागिनियो के नामो की सूची दी गयी है।

---

१. पृष्ठ १३

छ रागो के नाम क्रम से कामद, वसन्त, मल्लार, विभापक, गान्धार और दीपक है। सुवन्धु के वासवदत्ता में विभास राग का उल्लेख है।[१]

कामद की पत्नियो के नाम क्रम से मायूरी, तोटिका, गौडी, वराडी, विलोलिका और धानाश्री है। वागीश्वरी, शारदी, श्यामा, वृन्दावनी, वैजयन्ती और जयन्ती उसकी दासियाँ (रखेली) है और परज उसका दास है।

वसन्त की पत्नियो के नाम क्रम से केदारी, कल्याणी, सिन्धुरा, सुहया, अश्वारूढा और कर्णाटी है। श्याम केली, देवकेली, मालिनी, कामकेसिका, सभावती और सवरा उसकी दासियाँ है और हिल्लोल उसका दास है।

मल्लार की पत्नियो के नाम क्रम से नटी, सुरहट्टी, पाहिडी, चारुरूपिणी, नीला और जयजयन्ती, है। चक्रशाकी, चन्द्रमुखी, रसिका, विलासिका, यामिनी और श्यामघटिका उसकी दासियाँ है।

विभाप की पत्नियो के नाम क्रम से रामकेली, ललिता, कोडरा, कौमुदी, भैरवी और शर्वरी है। तरगिणी, नागिनी, किशोरी, हेमभूषणा, कल्लोलिनी, और मीमनेत्रा उसकी दासियाँ है और श्यामघोटक उसका दास है।

गान्धार के पत्नियो के नाम क्रम से श्री, रूपवती, गौरी, धानसी, मगला और गान्धर्वी है। पटमजरी, मजीरा, महापद्मावती, वेलावली, भूपाली और गर्विनी उसकी दासियाँ है और गौडराज उसका दास है।

दीपक की पत्नियो के नाम क्रम से उत्तरी, पूर्विका, गुज्जरी, काल-गुज्जरी, गडकरी और माला है। दीपहस्ता, दीपवर्णा, दीपकर्णा, प्रदीपिका, दीपाक्षी और दीपवक्त्रा उसकी दासियाँ है और उसके दास का नाम प्रदीप है[२]।

पद्मचरित में सातो स्वरो का उत्पत्ति-स्थान कठ, सिर और हृदय वताया गया है, इसके अतिरिक्त द्रुत, मध्य और विलबित नाम की तीन

१ पृष्ठ २२ २ ४४।१-५०

लयो, अस्र और चतुरस्र नाम की तालयोनियो, स्थायी-सचारी-आरोही-अवरोही नामक चार पदों, सस्कृत-प्राकृत-सौरसेनी नाम की तीन भाषाओ, धैवती - आर्षभी-षडग - षड्गोदीच्या—निषादिनी-गाधारीषड्ग - कैकशी-षडगमध्यम-गाधारोदीच्य-मध्यमपचमी-गाधारपचमी-रक्त-गाधारी - मध्य-माआन्ध्री-मध्यमोदीच्य-कर्मारवी-नदिनी-कैशिकी प्रमुख १८ जातियो तथा १३ अलकारो (४ प्रकार के स्थायी-आदिप्रसन्न, प्रसन्नात, मध्यप्रसादी और प्रसन्नाद्यवसान, ६ प्रकार के सचारी-निवृत्त, प्रस्थित, प्रेंखोलित विंदु, तार, मद और प्रसन्न, प्रसन्न-आरोही और २ प्रकार के अवरोही-प्रसन्नात और कुहर) के नाममात्र का उल्लेख हुआ है[1]।

जैन-हरिवंश में वाद्य-यंत्रो के तत-अवनद्ध-घन-सुषिर नाम के चार भेद बताये गये है। वीणा प्रमुख वाद्य-यंत्र गान्धर्व विद्या के शरीर माने गये है। गान्धर्व के तीन कारण वीणा, वंश और गान है और वह क्रम से स्वरगत, तानगत और पदगत होता है। स्वर के दो भेद—वैण और शारीर—है। वैण स्वर के अतिवृत्तिस्वर, ग्राम, वर्ण, अलकार, मूर्छना और धातु जैसे अनेक भेद है तथा जाति, वर्ण, स्वर, ग्राम, स्थान, साधारण- क्रिया और अलकार, शारीर स्वर के भेद है।

षडज, ऋषभ प्रमुख सातो स्वरो के वादी, सवादी, विवादी और अनु-वादी नाम के चार-चार भेद होते है। मध्यम ग्राम मे पचम और ऋषभ स्वरो का सवाद, और षड्ज ग्राम मे षड्ज और पचम का सवाद होता है। षड्ज और मध्यम ग्रामो मे प्रत्येक की बाईस-बाईस श्रुतिया और सात मूर्छनाएँ होती है। छ और पाँच स्वर वाली मूर्छना को तान कहते है। उनमे छ स्वर वाली को षाडव और पाँच स्वर वाली को औडव कहा जाता है। मूर्छना के दो भेद—साधारण स्वर-सभूत और काकलीस्वर-सभूत है। तान ८४ प्रकार की होती है, उसमें औडव के ३५ और षाडव के ४९ भेद है। १८ जातियाँ है। उनके नाम क्रम से षड्गी, आर्षभी, धैवती, निषादजा, सुषडगा, दिव्यवा, षडगकौशिकी, षडगमध्या, गान्धारी-

1. १।४९६

मध्यमा, गान्धारीदिव्यवा, पचमी, रक्तगाधारी, रक्तपचमी, मध्यमोदीच्यवा, नदयती, कर्मारवी, आन्ध्री और कौशिकी है। जातियो में कदापि मध्यम स्वर का विलोप नही होता। जातियो के तार, मद्र, न्यास प्रमुख दस लक्षण है। जहाँ से राग उत्पन्न होता है वा जहाँ से राग की प्रवृत्ति होती है वहाँ तार और मद्र बहुलता से उपलब्ध होते है। ग्रह, उपन्यास, विन्यास, सन्यास, न्यासगोचर और अनुवृत्ति—ये औपलाक्षणिक अश है। जाति दुर्बल होने से अश नाम मात्र होता है। समस्त जातियो का अश के अतिरिक्त ग्रह भी होता है। किन्तु जहाँ अश की प्रवृत्ति होती है, वहाँ ग्रह नही होता। समस्त द्वै-ग्राम की जातियो में ६३ अश रहते है और उनका सग्रह छ स्वरो में है। मध्यमोदीच्यवा, नदयती और गाधारपचमी में पचम (स्वर) अश और ग्रह रहता है। धैवती में धैवत, और ऋषभ, ये दो अश और ग्रह है, पचमी मे पचम और ऋषभ दो ग्रह अश है इत्यादि। इस प्रकार स्वजातियो मे ग्रह और अश ६३ है। ग्रह और अश की तरह समस्त जातियो में तीन प्रकार के गुण है। एक से बढते बढ़ते छ गुने स्वर हो जाते है और वे एक-स्वर, दो-स्वर, तीन-स्वर से सात स्वर तक होते है। इसके बाद प्रत्येक जाति की विलक्षणताओ का सविस्तार वर्णन हुआ है[1]।

उसी ग्रथ का कथन है कि विजयखेट नगर के निवासी, क्षत्रिय वशी सुग्रीव नाम के एक गायनाचार्य की दोनो पुत्रियो को सगीत-शास्त्र में पराजित कर कुमार वसुदेव ने उनको अपनाया था[2]। उसी प्रकार कुमार ने गान्धर्व कला में गन्धर्व सेना को नीचा दिखाकर उससे विवाह किया था[3]।

अवदान कल्पलता का कथन है कि देश-निकाला होने के बाद राजकुमार कविकुमार बडे-बडे कष्ट झेलता हुआ मारा-मारा फिरने लगा। निदान एक घूमने फिरने वाली नाट्यमडली के साथ नर्तकी के वेश में

---

१. १९।२२६-२३२ २ १९।५३-५८ ३. १९।२६२-२६८

वह काम्पिल्य नगर में घुस पडा। उस समय वहां उसका सगा भाई लोलमत्र राज्य कर रहा था। स्वभाव का वह लम्पट था। राजभवन में कौशिकी लीला का अभिनय हुआ। कविकुमार ने नर्तकी बनकर हाव-भाव बताते हुए ऐसा नाच दिखाया कि सभी चकित रह गये। खेल समाप्त हो जाने पर राजा ने नर्तकी-वेशी कविकुमार को अपने खास कमरे में बुला लिया। उसने वही पर राजा का काम तमाम कर दिया। फिर वह स्वय राजा बन बैठा[1]।

मेरुत्तुग के प्रबन्ध चिन्तामणि में सगीत की मोहिनी शक्ति के विषय में एक सुन्दर कहानी देखने मे आती है। राजा कुमारपाल ने सगीताचार्य सोलक की निपुणता से प्रसन्न होकर पारितोपिक के रूप में कुल ११६ द्रम्म दिये। शिल्पी ने उस रकम की मिठाई मोल लेकर बालकों को खिला दी। इसपर बिगडकर राजा ने उसे देश-निकाला दिया। निर्वासित शिल्पी ने और किसी दरबार में करतब दिखाकर दो हाथी प्राप्त किये। उसने हाथियो को कुमारपाल के हाथ सौंपा। इसपर राजा ने प्रसन्न होकर उसपर से निपेधाज्ञा वापस ले ली। एक दिन राजमार्ग पर बाहर से आया हुआ कोई कलाकार जोर से चिल्ला रहा था—"मैं लुट गया! हाय! हाय!! मैं लुट गया!" राजा ने पूछा—"किसने लूटा?" उत्तर मिला—"एक हिरन ने। गान सुना कर मैंने एक जगली हिरन को अपने वश में कर लिया था। जब वह मेरे समीप आया, तब मैंने अपने गले का हार उतार कर उसको पहना दिया। इतने में उधर से एक सिंह को आते देख हिरन हार सहित भाग निकला।" सुनते ही राजा ने सोलक को हार समेत हिरन को पकड लाने का आदेश दिया। आचार्य ने यह काम पूरा कर दिखाया। सोलक का चमत्कार देखकर हेमाचार्य के अचरज का वार-पार नही रह गया। उसने पूछा "तुम और क्या चमत्कार दिखा सकते हो?" उसने कहा—"गीत गाकर मैं सूखी शाखो पर नये पत्ते

---

१. ६६।८०-१०१

और पल्लव जमा सकता हूँ।" राजा के कहने से उसने यह भी कर दिखाया[१]।

जैन हरिवश में चारुदत्त के कथा-प्रसग मे कहा गया है कि एक दिन चम्पापुरी में नगरशोभा वसन्तसेना का नाच हो रहा था। जलसे मे नगर के वडे-वडे कलाकार और गवर्व लोग उपस्थित थे। इतने में अपने काका रुद्रदत्त के साथ चारुदत्त उधर से आ निकला। नृत्य-मडप मे भीड-भाड देखकर वे भी भीतर जाकर वैठ गये। उस समय वसन्तसेना सूची-नाटक दिखाने वाली थी। पहले उसने मच पर जाति पुष्प की कलियाँ विखेर दी और गायन के प्रभाव से वे धीरे धीरे खिलने लगी। यह देखकर दर्शक लोग मुक्तकठ से नर्तकी की सराहना करने लगे। चारुदत्त ने प्रारभ ही में इशारे से कह दिया था कि वह मालाकार राग गा रही है। तव वेश्या अँगूठे का अभिनय दिखाने लगी। दर्शको ने शावाशी दी। चारुदत्त ने फिर कह दिया कि वह नापित राग अलाप रही है। सगीत-शास्त्र में उसकी प्रवीणता देखकर वसन्तसेना उस पर लट्टू हो गयी और उसने चारुदत्त के सिवा और किसी से भी सगति करने से अस्वीकार किया[२]।

परिशिष्ट-पर्वन् में उसी प्रकार कोषा नाम की एक गणिका की नृत्य-कला का विशद वर्णन हुआ है। कहा गया है कि उसने फर्श पर सरसो का ढेर लगाया, फिर उसमें एक सुई खोस दी। अत मे उस ढेर पर फूल की पखडियाँ छितरा दी। फिर वह उसी ढेर पर नाचने लगी। न तो उसके पैर में सुई धँसने पायी और न वह ढेर ही छितराने पाया[३]।

लोकगीत

लोकगीत का प्रचार व्यापक था। शुभ-कर्मों के अवसर पर महिलाएँ और खेतो की रखवाली करती हुई कृषक-वधू परम्परा के अनुसार गान करती थीं। हर्षचरित का कथन है कि राज्यश्री के विवाह के अवसर पर सामन्तो की स्त्रियाँ वर और वधू के नाम ले-ले कर मगलाचार के

---

१ ३।२०० २ २१।४३-५१ ३ ८।२१०

गीत गा रही थी[1]। पद्मचरित में कहा गया है कि पुष्पक-विमान पर बैठकर मय दानव जब मन्दोदरी को साथ लेकर रावण के यहाँ जाने लगा, तब पुर-स्त्रियो ने मगल-गीत गाकर कन्या को विदा किया था[2]। अवदान-कल्पलता का कहना है कि विद्याधरकुमार जीमूतवाहन ने जब सिद्ध राजकुमारी का पाणिग्रहण किया था, तब विद्याधर महिलाओ ने आँगन मे नाच-गान का जलसा किया था[3]।

शिशुपालवध का कहना है कि कुआर में किसान-पत्नियाँ गान गाकर चढ़ाई करने वाले हिरनो से धान के खेतो की रखवाली करती थी[4]। उसी प्रकार कुमारपालचरित में कहा गया है कि गान गाकर वे ईख और चने-मटर के खेतो की रखवाली करती थी[5]।

सुरापान

श्रमण और ब्राह्मणो को छोड प्राय सभी वर्ग के लोग बेधड़क सुरापान करते थे। मुख्यत शालीनता या लज्जा हटाने और काम प्रवृत्ति को सहलाने के लिये स्त्रियो को सुरा पिलाने की रीति थी। कभी-कभी रसिक लोग एकत्र होकर सामाजिकता के सुख का अनुभव करते हुए पान-गोष्ठियो में बैठकर बेखटके सुरापान करते थे। कभी अत्यधिक पी लेने के कारण किसी-किसी पियक्कड का दम निकल जाता था। वाममार्गी खुल्लमखुल्ला सुरापान और नारियो की सोहबत की प्रशसा करते फिरते थे। इस प्रकार प्रस्तुत काल के समाज में कुछ बुरी लतें और निर्लज्जता बेरोक-टोक फैलने लगी थी, जो प्राचीन काल में कम दिखाई देती थी।

मत्स्यपुराण मे शासको को गढ के भडार मे सौवीरक, रूपोदक, सुरा, आसव, मद्य आदि रखने का निर्देश दिया गया है[6]।

उत्सवादि मनाते हुए तथा महत्वपूर्ण अवसरो पर लोग बडे चाव के साथ सुरापान करते थे। कथा-सरित्सागर का कथन है कि उज्जयिनी

१. पृष्ठ १४३
२ ११।७५
३ १०८।९४
४ ६।४९, १२।४३
५ ५।६९-७०
६ २१७।५८

में वसन्तोत्सव मनाने के सिलसिले में राजा धर्मध्वज ने राजोद्यान में समारोह के साथ पान-गोष्ठी का आयोजन किया था। उसमें रानियो की पी हुई सुरा का बचा-खुचा भाग राजा ने बडे प्रेम से पिया था[१]। मृगाकदत्त के साथ शशाकवती के विवाह के उपलक्ष्य में धूम-धाम के साथ आपान गोष्ठी हुई थी। उसमें सभी ने योग दिया था[२]। लड-भिडकर नरवाहनदत्त जब विद्याधरो का राजा बन गया, तब उसने अपने पिता वत्सराज और माता वासवदत्ता को अपने यहाँ आने का निमत्रण दिया। उनके वहाँ पहुचने पर नरवाहनदत्त के आनन्द का वार-पार नही रहा। कुमार ने ठाट के साथ वधु-सग-महोत्सव मनाया। इस प्रसग मे आरभ में आपान गोष्ठी की बैठक की गयी थी। पान-भूमि कमल के फूलो से भरपूर सजायी गयी। वहाँ मटकी भर-भरकर सुरा रखी थी तथा मणि-रत्न की बनी हुई कटोरियो में उबलती हुई सुरा भर-भरकर सुरागनाएँ सबको हाथो-हाथ देती थी। रनिवास की महिलाएँ भी इस गोष्ठी में उपस्थित थी और मन-भर सुरापान करने से वे सहम-सकोच से परे हो गयी और मद-भरी आँखो से वे अपने-अपने प्रीतमो को एकटक देखती थी। इसके बाद सभी भोजन-भूमि में पधारे[३]। सुबन्धु की वासवदत्ता में विदग्ध-मधुगोष्ठी का उल्लेख है[४]। इन बैठको में प्रमुख नागरिको का जमावडा होता था। नैषध-चरित में मधु-गोष्ठी का उल्लेख हुआ है जिसमें नल और रनिवास की महिलाओ ने भाग लिया था[५]। नशा चढने पर नल यदि दूसरी स्त्रियो से विनोद करता तो दमयन्ती डाह-भरी आँखो से उसकी ओर ताकती रहती थी। तब फिर नल देवी को मनाने लगता। पद्मचरित में रावण की पानशाला के दृश्यो का विशद वर्णन हुआ है। कहा गया है कि वह भवन सुगधित पान और मालाओ के सौरभ से महमहाता था। वहाँ कुछ लोग तो अकेले बैठ कर

---

१ पृष्ठ ४२९
२ पृष्ठ ४८९
३ पृष्ठ ५२४
४ पृष्ठ ११९
५ २०।८०

प्यास बुझा रहे थे और कुछ सस्त्रीक उपस्थित थे। कोई सुन्दरी पान-पात्र में अपनी शक्ल-सूरत की विकृत परछाईं देखकर डाह के मारे उस पर कस कर तमाचा जमा रही थी। कोई प्रेमिक प्रिया की पी हुई सुरा का बचा-खुचा भाग साग्रह पी रहा था। अनभिज्ञ कामिनी पेट में मदिरा समाते ही एकाएक कामशास्त्र में निपुण हो गयी। सहम-सकोच ताक पर रखकर वह प्रीतम के साथ नाना प्रकार के विनोद करने में पग गई। उनकी मदभरी आंखे घूमने लगी, बोली लडखडाने लगी और उनकी चेष्टाएँ धीरे-धीरे विकृत हो गयी. . [1]।

स्कदपुराण के प्रभास-क्षेत्र माहात्म्य खड में कहा गया है कि सुरापान और मास भोजन करने से स्त्रियो की काम-प्रवृत्ति धधक उठती है। स्त्रियो के पेट में सुरा समाने से सामान्यत वे अपनी प्रकृति छोड देती है[2]। शिशुपालवध काव्य में मतवाली यादव स्त्रियो की कृतियो का सजीव वर्णन हुआ है। कहा गया है कि तीन ही चपक शराव पीने के बाद वे मस्त हो गयी और लज्जा-सकोच से परे हो गयी, अट-सट बकने लगी, विनोद करने और गुप्त बातें प्रकाश करने लगी, उनके हाव-भाव, हँसी, बोल-चाल और कटाक्ष में भारी हेर-फेर हो गया। डाह, मान और ढिठाई जाती रही और वे कामातुर हो गयी। वे लडखडाते हुए अर्थहीन वाक्य बोलने लगी, फिसलकर गिरते हुए पहनावे, गहने और साज-सिंगार के द्रव्यादि पर वे दृष्टि तक नही डालती थी तथा सदैव वहाँ से खिसक जाने के तार में थी। नव-विवाहिता पत्नियाँ लज्जा-सकोच भुला कर अपने पति के प्रति मदभरी आँखें फाडकर मार रही थी। मद्यपान करने से लोग अपना सहज, सरल स्वभाव व्यक्त करने लगते है[3]।

मत्तविलास प्रहसन में प्राचीन काल की कलवरिया का जीता-जागता चित्र खीचा गया है। सामने झडा लहराने का बाँस होता था। भीतर मदिरा, पानपात्र, सुरापी, कबाबे-सीक, बक-झक, बेसुरा और बेताला गान, पानी की मटकियाँ और कलवार देख पडते थे[4]।

---

१ ३।५१ २ १०१।३०-३१ ३ १०।१२-१८ ४. पहला अक

कभी-कभी अत्यधिक सुरापान कर लेने से मद्यप सीधे परलोक सिधारता था। अवदान-कल्पलता का कथन है कि शारियान नाम के एक शाक्य ने इतना सुरापान किया कि वह अतत मृत्यु का आखेट बना[१]।

वाममार्ग के अनुयायी सहम-सकोच ताक पर रखकर सुरा और सुरत के माहात्म्य का प्रचार करते फिरते थे। कर्पूरमजरी मे भैरवानन्द गला फाड कर घोषणा करता है कि "भला, कौल मत किसे नही रुचता? दीक्षिता कामिनी का ससर्ग करो, चाहे वह विवाहिता पत्नी हो और चाहे वह स्वभाव की चिडचिडी रांड हो, मन-चाही सुरा पियो और भर पेट भोजन करो, भीख मांगो और रात को चमडे का टुकडा विछाकर लेट जाओ।" पुनश्च "हरि-ब्रह्मादि देवताओ का विधान है कि वेदपाठ, यज्ञ-हवन और ध्यान करने से ही मुक्ति मिल सकती है। अकेले शकर भगवान् ने कहा है कि मद्यपान और रतिक्रीडा करने से ही मोक्ष मिल जाता है।"[२]।

ऐसे विचार यशस्तिलक-चम्पू में प्रस्तुत किये गये हैं--"प्रिया का मुख निहारते हुए, मन-भर सुरा पियो और नग-वडग रहो। मुक्ति की ऐसी सीधी और सरल राह दिखाने वाले भगवान् शकर चिरायु हो[३]।"

क्वचित् सुरापियो की निन्दा भी की गयी है। यशस्तिलक में कहा गया है कि जड वुद्धि मद्यपो के विवेक का नाश होने से वे बेहया, निरुद्यम और अपटु हो जाते है, तथा चरित्र बिगडने से उनकी शालीनता जाती रहती है[४]।

पुनश्च मोह लाने वाली सुरा हेठियो की खदान है सुरापान के समान और कोई भी पाप नही[५]।

किन्तु समय ऐसा टेढ़ा था कि उपर्युक्त प्रकार की विचार-धारा तथा तत्रो के विधि-निषेध, सब कुछ अरण्य-रोदन था।

---

१. ४४।५१-६१ २. पहला अक ३ २।२५१ ४ २।११५ ५ २।३२७

दोलाकेलि

ऐसा लगता है कि प्राचीन काल में दोलाकेलि वा झूले पर झूलना मन-बहलाव का सार्वजनीन साधन था। राजकुमारी से सामान्य ग्रामीण गोप-वधू तक सभी इस तरह थोडी देर के लिये अपने मन को हरा बना लेती थी। पुरुष भी स्त्रियो के साथ झूले पर झूलते थे। जान पडता है कि प्रारभिक दशा में यह मनोविनोद का एक विशुद्ध साधन माना जाता था। कालान्तर मे इसकी पवित्रता जाती रही और झूला पुरुपो को स्त्रियो के ससर्ग में लाकर उनकी कामप्रवृत्ति को सहलाने का एक अचूक साधन माना गया।

कादम्बरी से पता चलता है कि राजभवनो में जो झूले होते थे उनमें छोटी-छोटी घटियाँ बँधी रहती थी। सामान्यत दिन ढलने पर इनका उपयोग होता था[१]।

कुट्टनीमतम् में व्रतती-प्रेंखा (लताओ की बनी हुई दोला) का उल्लेख हुआ है[२]। पद्मचरित का कथन है कि वनवास के समय राम और लक्ष्मण कभी-कभी वेल-वल्ली एक साथ बाँधकर सीता देवी के झूलने के लिये हिन्दोला बना देते थे[३]। कर्पूरमजरी से जान पडता है कि देहाती क्षेत्रो में गोप-बालाएँ पेंग मारकर झूले को इधर से उधर हिलाती थी[४]। उसी नाटक में हिन्दोला चतुर्थी के दिन गौरी माता का दोलोत्सव मनाने की रीति का उल्लेख हुआ है। देवी के झूले के सामने दूसरे एक हिंडोले पर कर्पूरमजरी पधरायी गयी थी[५]।

जैनो के उत्तरपुराण से विदित होता है कि लोग अधिकतर वसन्त काल में झूले पर बैठकर झूलने का रस लेते थे[६]। जैन हरिवश का कहना है कि झूलते समय लोग हिन्दोल राग अलापते थे[७]।

---

१. १।२१२
२. ६७०
३. २।१८६
४. पहला अक
५. दूसरा अक
६. ४३।२२३
७ १४।२०

कुमारपालचरित में हेमाचार्य ने राजा के अशोकाराम में जो दोला-लीलोत्सव मनाया गया था, उसका सजीव वर्णन किया है। एक-एक झूले पर पति-पत्नी का एक-एक जोडा बैठकर बेधडक झूलता हुआ सोच्छ्वास गान कर रहा था। स्त्रियाँ मदमत्त थी। जैसे-जैसे झूला नीचे-ऊपर आता जाता था, देवियो के नूपुर की मधुर ध्वनि होने लगती थी। जब कभी वे अपने पैरो से अशोक का पेड छू देती थी, अचानक उसकी कलियाँ खिलने लगती। राजा कुमारपाल ने वहाँ जाकर सबका स्वागत-सम्मान किया[१]।

किन्तु कालान्तर में यह निर्दोष क्रीडा भी कलुषित हो गयी और वह झूलने-वालो के काम-भाव जागरित करने का एक महत्त्वपूर्ण साधन बन गया। कुट्टनीमतम् के अनुसार झूलते समय पुरुष अपनी संगिनी की कोख में बार-बार नख गडाकर उसको "मदनमयी" बना देता था[२]। यशस्तिलक का कहना है कि झूले पर झूलते समय जब मुह से मुह टकराता है, आँख से आँखो की लडाई होती रहती है, छाती से छाती की भिडन्त होती है, हाथो पर हाथ धरा जाता है और जाँघो की रगड होने लगती है, तब दोला-क्रीडा भला किसे न रुचेगी[३]।

वैशिकी

पहले की तरह वारांगनाएँ "मंगलामुखी" बनी रही, उनकी सामाजिक स्थिति में विशेष कोई उलट-फेर नही हुआ। पूर्ववत् मांगलिक कृत्यो के अवसर पर वे बुलायी जाती थी तथा राज-भवनो में उनसे छोटी-मोटी सेवाएँ भी ली जाने लगी। परन्तु जैसे-जैसे दिन बीतते गये, वैसे-वैसे प्राचीन काल में उनकी जो विशिष्टता थी, वह नही रह गयी। इन दिनो वे अधिकतर कला-कौशल से कन्नी काटने लगी और छलछद का उपयोग कर येन केन उपायेन पैसे कमाने की धुन में लगी रहती थी। कभी-कभी लालच के वश में होकर वे खून-खराबी तक कर बैठती थी।

---

१ ३।१९-२५ २ पृष्ठ २२३ ३ १।५९६

ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण का कथन है कि यात्रा करते समय यदि वेश्या के दर्शन हो जायँ तो उसको शकुन मानना चाहिए[१]।

ब्रह्मपुराण से पता चलता है कि भगवान राम और कृष्ण के निकट खडी होकर वे चँवर डुलाती थी[२]। भागवतपुराण से विदित होता है कि विवाह के पहले जब देवी रुक्मिणी दुर्गा-मदिर मे पूजा चढाने गयी थी, तब सैकडो वेश्यायें उनके साथ हो ली[३]। पुन युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समाप्त होने पर जब राजा सगे-साथियो के साथ अवभृत स्नान करने चले, तब हस्तिनापुर की सब वारनारियो को उनके साथ चलने को कहा गया था[४]। कुमारपाल-चरित, से जान पडता है कि राजा की चँवरधारिणी वारागनाएँ थी। वे सिहासन के पास खडी होकर चँवर डुलाया करती थी[५]। पुन सध्या होते ही वे प्रति दिन राजा की आरती उतारती थी[६]।

नैपधचरित से पता चलता है कि नल के विवाह के अवसर पर बारातियो को भोजनादि परोसने का काम पण्य-स्त्रियो (वराप्सरोभि.) को सौंपा गया था[७]।

यशस्तिलक चम्पू से ज्ञात होता है कि यशोधर महाराज के अभिषेकोत्सव के अवसर पर वार-रमणियो ने सक्रिय भाग लिया था[८]।

नैपधचरित से जान पडता है कि जितने दिन बाराती कन्या के घर ठहरे हुए थे उतने रोज उनका मन बहलाने के लिये वारागनाओ का समायोग किया गया था[९]।

ब्रह्मपुराण में अवन्ती की पण्य-स्त्रियो के सपर्क में कहा गया है कि वे गान्धर्व विद्या में निष्णात, कुशल अभिनेत्री और नारियो के सभी गुणो से सपन्न थी[१०]। पुन· एकाम्र क्षेत्र की वारनारियो की प्रशसा में

---

१. ३।१६।२३ ४ १०।७५।१५ ७ १६।४८ १० ४१।४३
२. ६५।-१७-१८ ५ १।७५-७८ ८ १।३२३
३ १०।७१।१६ ६. ६।३२ ९ १६।११२

कुमारपालचरित में हेमाचार्य ने राजा के अशोकाराम मे जो दोला-लीलोत्सव मनाया गया था, उसका सजीव वर्णन किया है। एक-एक झूले पर पति-पत्नी का एक-एक जोडा वैठकर वेधडक झूलता हुआ सोच्छ्वास गान कर रहा था। स्त्रियां मदमत्त थी। जैसे-जैसे झूला नीचे-ऊपर आता जाता था, देवियो के नूपुर की मधुर ध्वनि होने लगती थी। जव कभी वे अपने पैरो से अशोक का पेड छू देती थी, अचानक उसकी कलियाँ खिलने लगती। राजा कुमारपाल ने वहाँ जाकर सवका स्वागत-सम्मान किया[१]।

किन्तु कालान्तर में यह निर्दोष क्रीडा भी कलुषित हो गयी और वह झूलने-वालो के काम-भाव जागरित करने का एक महत्वपूर्ण साधन वन गया। कुट्टनीमतम् के अनुसार झूलते समय पुरुष अपनी संगिनी की कोख में वार-वार नख गडाकर उसको "मदनमयी" वना देता था[२]। यशस्तिलक का कहना है कि झूले पर झूलते समय जव मुह से मुह टकराता है, आँख से आँखो की लडाई होती रहती है, छाती से छाती की भिडन्त होती है, हाथो पर हाथ धरा जाता है और जांघो की रगड होने लगती है, तव दोला-क्रीडा भला किसे न रुचेगी[३]!

वैशिकी

पहले की तरह वारागनाएँ "मंगलामुखी" वनी रही, उनकी सामाजिक स्थिति में विशेष कोई उलट-फेर नही हुआ। पूर्ववत् मांगलिक कृत्यो के अवसर पर वे वुलायी जाती थी तथा राज-भवनो में उनसे छोटी-मोटी सेवाएँ भी ली जाने लगी। परन्तु जैसे-जैसे दिन वीतते गये, वैसे-वैसे प्राचीन काल में उनकी जो विशिष्टता थी, वह नही रह गयी। इन दिनो वे अधिकतर कला-कौशल से कन्नी काटने लगी और छलछद का उपयोग कर येन केन उपायेन पैसे कमाने की धुन में लगी रहती थी। कभी-कभी लालच के वश में होकर वे खून-खरावी तक कर वैठती थी।

---

१ ३।१९-२५ २ पृष्ठ २२३ ३ १।५९६

महापुरुषों को भी लोहा बना देती है। उनकी शोभा-सम्पदा दिखावटी है, हृदय की नीच और स्वभाव की वे वेलचक होती है। बहुधा उनका चाल-चलन कठपुतली-सा होता है[१]। पुनः आज एक गाहक वेश्या को खरीदता है, प्रात काल दूसरा गाहक पहुचता है, थोड़े समय के लिये वह गाहकों के वश में हो जाती है, चिरकाल के लिये बाजारू वेश्या को कौन मोल ले सकता है[२]?

कवि राजशेखर ने काव्य-मीमासा में "असदुपदेशकत्वात्तर्हिनोपदेय काव्यम्" का उदाहरण देते हुए नीचे लिखे हुए श्लोक का उद्धरण किया है—एक कुटनी बेटी को समझा रही है—बालिका रहते हमलोग बालकों की संगति करती रही, यौवन में युवकों का ससर्ग किया, बुढापे में बूढ़ों की आस लगाये रहती है। बेटी, तू विवाह करने चली है! यह क्या अनर्थ करने पर तू उतारू हो गयी है? बेटी, हमारे कुल मे किसी पर सतीत्व का लांछन नहीं लगने पाया"[३]।

समयमातृका में एक कुटनी डीग हांक रही है—गाहकों की निर्बुद्धिता के कारण हम लोग सदैव फूलती-फलती रहती है[४]। फिर, केवल मूर्ख लोग ही आँखे खोलकर हमारे रचे हुए ढोंग में फँस जाते हैं तथा हमारी बातों को पतियाते हैं। केवल माया रचकर ही वेश्याएँ पैसा कमा सकती है[५]। सर्वोपरि वारागनाएँ सदैव सच्चाई से दूर भागती हैं; वे सर्वदा झूठ पर निर्भर हैं। जैसे कुल-स्त्री के सुरापी बनने से उसका सब कुछ जाता रहता है, वैसे ही सचाई का मार्ग अपनाने से वेश्या का सर्वनाश होता है[६]।

अत में वेश्याओं की दयनीय जीवन-यात्रा-पद्धति का सजीव वर्णन चाणक्य-नीतिसार में हुआ है। कहा गया है कि उनकी निद्रा औरों की इच्छा पर निर्भर है; गाहक की झक के साथ कदम मिलाकर

---

१. ३०२-३२३ ३ ९।८९-९० ५. २४।३७
२ ९४६ ४. २३।२६ ६. २६।६८

कहा गया है कि वे मीठी वोली वोलने वाली, हँसमुख, कला-कौशल में कुशल, नृत्य-गीत और नाटक में निपुण, प्रिय दर्शन तथा सभी गुणो से सपन्न थी। न तो वे कुरूप थी, न दुष्ट थी और न औरो से डाह करती थी[१]।

ब्रह्मपुराण की रचना सभवत स्कदपुराण के सकलन-काल के लगभग हुई थी। प्रशसा उच्च होने पर भी सभवत अतिरजित नही थी। किन्तु ये शब्द बीते काल की गणिकाओ के लिये लागू हो सकते थे। उनकी सन्तति स्यात् ही इस प्रमाण-पत्र की योग्य थी।

भविष्यपुराण से ज्ञात होता है कि राजा दलवाहन ने अपने पुत्री के विवाह के अवसर पर लक्षावृत्ति नाम की एक सुकठी गायिका को दहेज के रूप मे दिया था[२]।

इस काल के कई अनुभवी लेखको ने पण्य-स्त्रियो की चाल-ढाल और छल-छद पर आलोकपात किया है। कुट्टनीमतम् का कहना है कि जव गुणपालित ने अपने मित्र सुन्दरसेन को हारलता नाम की एक वाजारू स्त्री पर लट्टू होते देखा, तव उसने उसे रोकने का भरसक प्रयत्न किया। इस प्रसग में उसने कहा था—वेश्याओ की प्रेम-प्रीति, कटाक्ष और हाव-भाव दिखावटी है। जव तक यार की गिरह में पैसे होते हैं, तव तक तो प्रेम बढ़ता जाता है, किन्तु जव पैसे की कमी होती है तब उसमें भाटा पडने लगता है। गाहको का कुतूहल बढाने के लिये वे वस्त्रादि पहनती हैं—लाज रखने के लिये नही। लोगो का मन भुलाने के लिये वे भडकीला साज-सिगार करती है, सामाजिक स्थिति जतलाने के लिये नही। उनका प्रेम, बोल-चाल तक सीमित रहता है, हृदय को छू तक नही पाता, सरलता वाहु-लता में होती है, स्वभाव में नही, उँचाई स्तनो की होती है-चाल-ढाल की नही। कोयल के समान लाल-लाल आँख वाली, व्यभिचारी और अनार्या, वे हृदय को छोड सभी अग गाहक के आगे रख देती है। चुम्बक वनकर रूपाजीवा, पहुचे हुए

---

१ ३९।३०-३५

२ प्रतिसर्ग पर्व (३) ९।५

महापुरुषो को भी लोहा बना देती हैं। उनकी शोभा-सम्पदा दिखावटी है, हृदय की नीच और स्वभाव की वे बेलचक होती है। बहुधा उनका चाल-चलन कठपुतली-सा होता है[1]। पुन. आज एक गाहक वेश्या को खरीदता है, प्रात काल दूसरा गाहक पहुचता है; थोडे समय के लिये वह गाहको के वश में हो जाती है, चिरकाल के लिये बाजारू वेश्या को कौन मोल ले सकता है[2] ?

कवि राजशेखर ने काव्य-मीमासा में "असदुपदेशकत्वात्तर्हिनोपदेय काव्यम्" का उदाहरण देते हुए नीचे लिखे हुए श्लोक का उद्धरण किया है—एक कुटनी बेटी को समझा रही है—बालिका रहते हमलोग बालको की संगति करती रही, यौवन में युवको का ससर्ग किया, बुढापे में बूढो की आस लगाये रहती हैं। बेटी, तू विवाह करने चली है! यह नया अनर्थ करने पर तू उतारू हो गयी है? बेटी, हमारे कुल में किसी पर सतीत्व का लाछन नहीं लगने पाया"[3]।

समयमातृका में एक कुटनी डीग हाँक रही है—गाहकों की निर्बुद्धिता के कारण हम लोग सदैव फूलती-फलती रहती हैं[4]। फिर, केवल मूर्ख लोग ही आँखे खोलकर हमारे रचे हुए ढोग में फँस जाते हैं तथा हमारी बातो को पतियाते हैं। केवल माया रचकर ही वेश्याएँ पैसा कमा सकती हैं[5]। सर्वोपरि वारागनाएँ सदैव सच्चाई से दूर भागती हैं; वे सर्वदा झूठ पर निर्भर हैं। जैसे कुल-स्त्री के सुरापी बनने से उसका सब कुछ जाता रहता है, वैसे ही सचाई का मार्ग अपनाने से वेश्या का सर्वनाश होता है[6]।

अत में वेश्याओ की दयनीय जीवन-यात्रा-पद्धति का सजीव वर्णन चाणक्य-नीतिसार में हुआ है। कहा गया है कि उनको निद्रा औरो की इच्छा पर निर्भर है, गाहक की झक के साथ कदम मिलाकर

---

१. ३०२-३२३ ३ ६।८९-९० ५. २४।३७
२ ६४६ ४ २३।२६ ६. २६।६८

कहा गया है कि वे मीठी वोली वोलने वाली, हँसमुख, कला-कौशल में कुशल, नृत्य-गीत और नाटक में निपुण, प्रिय दर्शन तथा सभी गुणो से सपन्न थी। न तो वे कुरूप थी, न दुष्ट थी और न औरो से डाह करती थी[1]।

ब्रह्मपुराण की रचना सभवत स्कदपुराण के सकलन-काल के लगभग हुई थी। प्रशसा उच्च होने पर भी सभवत अतिरजित नही थी। किन्तु ये शब्द वीते काल की गणिकाओ के लिये लागू हो सकते थे। उनकी सन्तति स्यात् ही इस प्रमाण-पत्र की योग्य थी।

भविष्यपुराण से ज्ञात होता है कि राजा दलवाहन ने अपने पुत्री के विवाह के अवसर पर लक्षावृत्ति नाम की एक सुकठी गायिका को दहेज के रूप मे दिया था[2]।

इस काल के कई अनुभवी लेखको ने पण्य-स्त्रियो की चाल-ढाल और छल-छद पर आलोकपात किया है। कुट्टनीमतम् का कहना है कि जव गुणपालित ने अपने मित्र सुन्दरसेन को हारलता नाम की एक वाजारू स्त्री पर लट्टू होते देखा, तव उसने उसे रोकने का भरसक प्रयत्न किया। इस प्रसग में उसने कहा था—वेश्याओ की प्रेम-प्रीति, कटाक्ष और हाव-भाव दिखावटी है। जव तक यार की गिरह में पैसे होते है, तब तक तो प्रेम वढ़ता जाता है, किन्तु जब पैसे की कमी होती है तव उसमें भाटा पडने लगता है। गाहको का कुतूहल बढाने के लिये वे वस्त्रादि पहनती हैं—लाज रखने के लिये नही। लोगो का मन भुलाने के लिये वे भडकीला साज-सिंगार करती है, सामाजिक स्थिति जतलाने के लिये नही। उनका प्रेम, वोल-चाल तक सीमित रहता है, हृदय को छू तक नही पाता, सरलता वाहु-लता में होती है, स्वभाव में नही, उँचाई स्तनो की होती है-चाल-ढाल की नही। कोयल के समान लाल-लाल आँख वाली, व्यभिचारी और अनार्या, वे हृदय को छोड सभी अग गाहक के आगे रख देती है। चुम्वक वनकर रूपाजीवा, पहुचे हुए

---

१ ३९।३०-३५		२ प्रतिसर्ग पर्व (३) ९।५

महापुरुषों को भी लोहा बना देती हैं। उनकी शोभा-सम्पदा दिखावटी है, हृदय की नीच और स्वभाव की वे बेलचक होती हैं। बहुधा उनका चाल-चलन कठपुतली-सा होता है[१]। पुनः आज एक गाहक वेश्या को खरीदता है, प्रात काल दूसरा गाहक पहुचता है; थोडे समय के लिये वह गाहको के वश में हो जाती है, चिरकाल के लिये बाजारू वेश्या को कौन मोल ले सकता है[२]?

कवि राजशेखर ने काव्य-मीमासा में "असदुपदेशकत्वात्तर्हिनोपदेय काव्यम्" का उदाहरण देते हुए नीचे लिखे हुए श्लोक का उद्धरण किया है—एक कुटनी बेटी को समझा रही है—बालिका रहते हमलोग बालको की सगति करती रही, यौवन में युवको का ससर्ग किया, बुढापे में बूढो की आस लगाये रहती हैं। बेटी, तू विवाह करने चली है! यह नया अनर्थ करने पर तू उतारू हो गयी है? बेटी, हमारे कुल में किसी पर सतीत्व का लाछन नहीं लगने पाया"[३]।

समयमातृका में एक कुटनी डीग हांक रही है—गाहको की निर्बुद्धिता के कारण हम लोग सदैव फूलती-फलती रहती हैं[४]। फिर, केवल मूर्ख लोग ही आँखें खोलकर हमारे रचे हुए ढोग मे फँस जाते हैं तथा हमारी बातो को पतियाते हैं। केवल माया रचकर ही वेश्याएँ पैसा कमा सकती हैं[५]। सर्वोपरि वारागनाएँ सदैव सच्चाई से दूर भागती हैं, वे सर्वदा झूठ पर निर्भर हैं। जैसे कुल-स्त्री के सुरापी बनने से उसका सब कुछ जाता रहता है, वैसे ही सचाई का मार्ग अपनाने से वेश्या का सर्वनाश होता है[६]।

अत में वेश्याओ की दयनीय जीवन-यात्रा-पद्धति का सजीव वर्णन चाणक्य-नीतिसार में हुआ है। कहा गया है कि उनकी निद्रा औरो की इच्छा पर निर्भर है; गाहक की झक के साथ कदम मिलाकर

---

१. ३०२-३२३　　३ ६।८९-९०　　५ २४।३७
२ ६४६　　४. २३।२६　　६. २६।६८

कहा गया है कि वे मीठी वोली वोलने वाली, हँसमुख, कला-कौशल में कुशल, नृत्य-गीत और नाटक में निपुण, प्रिय दर्शन तथा सभी गुणो से सपन्न थी। न तो वे कुरूप थी, न दुष्ट थी और न औरो से डाह करती थी[1]।

ब्रह्मपुराण की रचना सभवत स्कदपुराण के सकलन-काल के लगभग हुई थी। प्रशसा उच्च होने पर भी सभवत अतिरजित नही थी। किन्तु ये शब्द बीते काल की गणिकाओ के लिये लागू हो सकते थे। उनकी सन्तति स्यात् ही इस प्रमाण-पत्र की योग्य थी।

भविष्यपुराण से ज्ञात होता है कि राजा दलवाहन ने अपने पुत्री के विवाह के अवसर पर लक्षावृत्ति नाम की एक सुकठी गायिका को दहेज के रूप में दिया था[2]।

इस काल के कई अनुभवी लेखको ने पण्य-स्त्रियो की चाल-ढाल और छल-छद पर आलोकपात किया है। कुट्टनीमतम् का कहना है कि जव गुणपालित ने अपने मित्र सुन्दरसेन को हारलता नाम की एक वाजारू स्त्री पर लट्टू होते देखा, तव उसने उसे रोकने का भरसक प्रयत्न किया। इस प्रसग में उसने कहा था—वेश्याओ की प्रेम-प्रीति, कटाक्ष और हाव-भाव दिखावटी है। जव तक यार की गिरह में पैसे होते है, तव तक तो प्रेम वढता जाता है, किन्तु जब पैसे की कमी होती है तव उसमें भाटा पडने लगता है। गाहको का कुतूहल बढाने के लिये वे वस्त्रादि पहनती है—लाज रखने के लिये नही। लोगो का मन भुलाने के लिये वे भडकीला साज-सिंगार करती है, सामाजिक स्थिति जतलाने के लिये नही। उनका प्रेम, वोल-चाल तक सीमित रहता है, हृदय को छू तक नही पाता, सरलता वाहु-लता में होती है, स्वभाव में नही, उँचाई स्तनो की होती है-चाल-ढाल की नही। कोयल के समान लाल-लाल आँख वाली, व्यभिचारी और अनार्या, वे हृदय को छोड सभी अग गाहक के आगे रख देती है। चुम्वक वनकर रूपाजीवा, पहुचे हुए

---

१ ३९।३०-३५ २ प्रतिसर्ग पर्व (३) ९।५

महापुरुषो को भी लोहा बना देती है। उनकी शोभा-सम्पदा दिखावटी है, हृदय की नीच और स्वभाव की वे बेलचक होती हैं। बहुधा उनका चाल-चलन कठपुतली-सा होता है[१]। पुन. आज एक गाहक वेश्या को खरीदता है, प्रात काल दूसरा गाहक पहुचता है, थोडे समय के लिये वह गाहको के वश में हो जाती है, चिरकाल के लिये बाजारू वेश्या को कौन मोल ले सकता है[२]?

कवि राजशेखर ने काव्य-मीमासा मे "असदुपदेशकत्वात्तर्हिनोपदेय काव्यम्" का उदाहरण देते हुए नीचे लिखे हुए श्लोक का उद्धरण किया है—एक कुटनी बेटी को समझा रही है—बालिका रहते हमलोग बालको की सगति करती रही, यौवन में युवको का ससर्ग किया, बुढापे में बूढो की आस लगाये रहती है। बेटी, तू विवाह करने चली है। यह क्या अनर्थ करने पर तु उतारू हो गयी है? बेटी, हमारे कुल मे किसी पर सतीत्व का लाछन नहीं लगने पाया"[३]।

समयमातृका में एक कुटनी डीग हांक रही है—गाहको की निर्बुद्धिता के कारण हम लोग सदैव फूलती-फलती रहती हैं[४]। फिर, केवल मूर्ख लोग ही आँखे खोलकर हमारे रचे हुए ढोग में फँस जाते है तथा हमारी बातो को पतियाते हैं। केवल माया रचकर ही वेश्याएँ पैसा कमा सकती हैं[५]। सर्वोपरि वारागनाएँ सदैव सच्चाई से दूर भागती है, वे सर्वदा झूठ पर निर्भर है। जैसे कुल-स्त्री के सुरापी बनने से उसका सब कुछ जाता रहता है, वैसे ही सचाई का मार्ग अपनाने से वेश्या का सर्वनाश होता है[६]।

अत मे वेश्याओ की दयनीय जीवन-यात्रा-पद्धति का सजीव वर्णन चाणक्य-नीतिसार में हुआ है। कहा गया है कि उनकी निद्रा औरो की इच्छा पर निर्भर है; गाहक की झक के साथ कदम मिलाकर

---

१. ३०२-३२३ ३ ६।८९-९० ५ २४।३७
२ ६४६ ४ २३।२६ ६. २६।६८

कहा गया है कि वे मीठी बोली बोलने वाली, हँसमुख, कला-कौशल में कुशल, नृत्य-गीत और नाटक में निपुण, प्रिय दर्शन तथा सभी गुणो से सपन्न थी। न तो वे कुरूप थी, न दुष्ट थी और न औरो से डाह करती थी[१]।

ब्रह्मपुराण की रचना सभवत स्कदपुराण के सकलन-काल के लगभग हुई थी। प्रशसा उच्च होने पर भी सभवत अतिरजित नही थी। किन्तु ये शब्द बीते काल की गणिकाओ के लिये लागू हो सकते थे। उनकी सन्तति स्यात् ही इस प्रमाण-पत्र को योग्य थी।

भविष्यपुराण से ज्ञात होता है कि राजा दलवाहन ने अपने पुत्री के विवाह के अवसर पर लक्षावृत्ति नाम की एक सुकठी गायिका को दहेज के रूप में दिया था[२]।

इस काल के कई अनुभवी लेखको ने पण्य-स्त्रियो की चाल-ढाल और छल-छद पर आलोकपात किया है। कुट्टनीमतम् का कहना है कि जब गुणपालित ने अपने मित्र सुन्दरसेन को हारलता नाम की एक बाजारू स्त्री पर लट्टू होते देखा, तब उसने उसे रोकने का भरसक प्रयत्न किया। इस प्रसग में उसने कहा था—वेश्याओ की प्रेम-प्रीति, कटाक्ष और हाव-भाव दिखावटी है। जब तक यार की गिरह में पैसे होते है, तब तक तो प्रेम बढ़ता जाता है, किन्तु जब पैसे की कमी होती है तब उसमें भाटा पडने लगता है। गाहको का कुतूहल बढाने के लिये वे वस्त्रादि पहनती हैं—लाज रखने के लिये नही। लोगो का मन भुलाने के लिये वे भडकीला साज-सिंगार करती है, सामाजिक स्थिति जतलाने के लिये नही। उनका प्रेम, बोल-चाल तक सीमित रहता है, हृदय को छू तक नही पाता, सरलता बाहु-लता में होती है, स्वभाव में नही; उँचाई स्तनो की होती है-चाल-ढाल की नही। कोयल के समान लाल-लाल आँख वाली, व्यभिचारी और अनार्या, वे हृदय को छोड सभी अग गाहक के आगे रख देती है। चुम्बक बनकर रूपाजीवा, पहुचे हुए

---

१ ३९।३०-३५ २. प्रतिसर्ग पर्व (३) ९।५

महापुरुषों को भी लोहा बना देती हैं। उनकी शोभा-सम्पदा दिखावटी है, हृदय की नीच और स्वभाव की वे बेलचक होती हैं। बहुधा उनका चाल-चलन कठपुतली-सा होता है[१]। पुन आज एक गाहक वेश्या को खरीदता है, प्रात काल दूसरा गाहक पहुचता है; थोडे समय के लिये वह गाहको के वश में हो जाती है, चिरकाल के लिये बाजारू वेश्या को कौन मोल ले सकता है[२]?

कवि राजशेखर ने काव्य-मीमासा में "असदुपदेशकत्वात्तर्हिनोपदेय काव्यम्" का उदाहरण देते हुए नीचे लिखे हुए श्लोक का उद्धरण किया है—एक कुटनी बेटी को समझा रही है—बालिका रहते हमलोग बालको की सगति करती रही, यौवन में युवको का ससर्ग किया, बुढापे में बूढो की आस लगाये रहती है। बेटी, तू विवाह करने चली है! यह क्या अनर्थ करने पर तू उतारू हो गयी है? बेटी, हमारे कुल मे किसी पर सतीत्व का लाछन नहीं लगने पाया"[३]।

समयमातृका में एक कुटनी डीग हाँक रही है—गाहको की निर्बुद्धिता के कारण हम लोग सदैव फूलती-फलती रहती हैं[४]। फिर, केवल मूर्ख लोग ही आँखे खोलकर हमारे रचे हुए ढोग मे फँस जाते हैं तथा हमारी बातो को पतियाते हैं। केवल माया रचकर ही वेश्याएँ पैसा कमा सकती हैं[५]। सर्वोपरि वारागनाएँ सदैव सच्चाई से दूर भागती हैं, वे सर्वदा झूठ पर निर्भर हैं। जैसे कुल-स्त्री के सुरापी बनने से उसका सब कुछ जाता रहता है, वैसे ही सचाई का मार्ग अपनाने से वेश्या का सर्वनाश होता है[६]।

अत में वेश्याओ की दयनीय जीवन-यापन-पद्धति का सजीव वर्णन चाणक्य-नीतिसार में हुआ है। कहा गया है कि उनकी निद्रा औरो की इच्छा पर निर्भर है, गाहक की झक के साथ कदम मिलाकर

---

१ ३०२-३२३　　३ ६।८९-९०　　५ २४।३७
२ ६४६　　४ २३।२६　　६ २६।६८

कहा गया है कि वे मीठी बोली बोलने वाली, हँसमुख, कला-कौशल में कुशल, नृत्य-गीत और नाटक में निपुण, प्रिय दर्शन तथा सभी गुणो से सपन्न थी। न तो वे कुरूप थी, न दुष्ट थी और न औरो से डाह करती थी[1]।

ब्रह्मपुराण की रचना सभवत स्कदपुराण के सकलन-काल के लगभग हुई थी। प्रशसा उच्च होने पर भी सभवत अतिरजित नही थी। किन्तु ये शब्द बीते काल की गणिकाओ के लिये लागू हो सकते थे। उनकी सन्तति स्यात् ही इस प्रमाण-पत्र की योग्य थी।

भविष्यपुराण से ज्ञात होता है कि राजा दलवाहन ने अपने पुत्री के विवाह के अवसर पर लक्षावृत्ति नाम की एक सुकठी गायिका को दहेज के रूप मे दिया था[2]।

इस काल के कई अनुभवी लेखको ने पण्य-स्त्रियो की चाल-ढाल और छल-छद पर आलोकपात किया है। कुट्टनीमतम् का कहना है कि जब गुणपालित ने अपने मित्र सुन्दरसेन को हारलता नाम की एक बाजारू स्त्री पर लट्टू होते देखा, तब उसने उसे रोकने का भरसक प्रयत्न किया। इस प्रसग में उसने कहा था—वेश्याओ की प्रेम-प्रीति, कटाक्ष और हाव-भाव दिखावटी है। जब तक यार की गिरह में पैसे होते है, तब तक तो प्रेम बढ़ता जाता है, किन्तु जब पैसे की कमी होती है तब उसमें भाटा पडने लगता है। गाहकों का कुतूहल बढ़ाने के लिये वे वस्त्रादि पहनती हैं—लाज रखने के लिये नही। लोगो का मन भुलाने के लिये वे भडकीला साज-सिंगार करती है, सामाजिक स्थिति जतलाने के लिये नही। उनका प्रेम, बोल-चाल तक सीमित रहता है, हृदय को छू तक नही पाता, सरलता बाहु-लता में होती है, स्वभाव में नही, उँचाई स्तनो की होती है-चाल-ढाल की नही। कोयल के समान लाल-लाल आँख वाली, व्यभिचारी और अनार्या, वे हृदय को छोड सभी अग गाहक के आगे रख देती है। चुम्बक बनकर रूपाजीवा, पहुचे हुए

---

१ ३९।३०-३५ २ प्रतिसर्ग पर्व (३) ९।५

महापुरुषो को भी लोहा वना देती हैं। उनकी शोभा-सम्पदा दिखावटी है, हृदय की नीच और स्वभाव की वे बेलचक होती है। बहुधा उनका चाल-चलन कठपुतली-सा होता है[१]। पुन आज एक गाहक वेश्या को खरीदता है, प्रात काल दूसरा गाहक पहुचता है, थोडे समय के लिये वह गाहको के वश में हो जाती है, चिरकाल के लिये वाजारू वेश्या को कौन मोल ले सकता है[२]?

कवि राजशेखर ने काव्य-मीमासा मे "असदुपदेशकत्वात्तर्हिनोपदेय काव्यम्" का उदाहरण देते हुए नीचे लिखे हुए श्लोक का उद्धरण किया है—एक कुटनी वेटी को समझा रही है—वालिका रहते हमलोग वालको की संगति करती रही, यौवन में युवको का ससर्ग किया, बुढापे में वूढो की आस लगाये रहती है। वेटी, तू विवाह करने चली है। यह मया अनर्थ करने पर तू उतारू हो गयी है? वेटी, हमारे कुल मे किसी पर सतीत्व का लाछन नहीं लगने पाया"[३]।

समयमातृका में एक कुटनी डीग हांक रही है—गाहको की निर्वु-द्धिता के कारण हम लोग सदैव फूलती-फलती रहती है[४]। फिर, केवल मूर्ख लोग ही आँखें खोलकर हमारे रचे हुए ढोग मे फँस जाते है तथा हमारी वातो को पतियाते है। केवल माया रचकर ही वेश्याएँ पैसा कमा सकती हैं[५]। सर्वोपरि वारागनाएँ सदैव सच्चाई से दूर भागती है; वे सर्वदा झूठ पर निर्भर है। जैसे कुल-स्त्री के सुरापी बनने से उसका सब कुछ जाता रहता है, वैसे ही सचाई का मार्ग अपनाने से वेश्या का सर्वनाश होता है[६]।

अत में वेश्याओ की दयनीय जीवन-यात्रा-पद्धति का सजीव वर्णन चाणक्य-नीतिसार में हुआ है। कहा गया है कि उनकी निद्रा औरो की इच्छा पर निर्भर है, गाहक की झक के साथ कदम मिलाकर

---

१. ३०२-३२३ ३ ६।८९-९० ५ २४।३७
२ ६४६ ४. २३।२६ ६. २६।६८

कहा गया है कि वे मीठी बोली बोलने वाली, हँसमुख, कला-कौशल में कुशल, नृत्य-गीत और नाटक में निपुण, प्रिय दर्शन तथा सभी गुणो से सपन्न थी। न तो वे कुरूप थी, न दुष्ट थी और न औरो से डाह करती थी[1]।

ब्रह्मपुराण की रचना सभवत स्कदपुराण के सकलन-काल के लगभग हुई थी। प्रशसा उच्च होने पर भी सभवत अतिरजित नही थी। किन्तु ये शब्द बीते काल की गणिकाओ के लिये लागू हो सकते थे। उनकी सन्तति स्यात् ही इस प्रमाण-पत्र की योग्य थी।

भविष्यपुराण से ज्ञात होता है कि राजा दलवाहन ने अपने पुत्री के विवाह के अवसर पर लक्षावृत्ति नाम की एक सुकठी गायिका को दहेज के रूप मे दिया था[2]।

इस काल के कई अनुभवी लेखको ने पण्य-स्त्रियो की चाल-ढाल और छल-छद पर आलोकपात किया है। कुट्टनीमतम् का कहना है कि जब गुणपालित ने अपने मित्र सुन्दरसेन को हारलता नाम की एक बाजारू स्त्री पर लट्टू होते देखा, तब उसने उसे रोकने का भरसक प्रयत्न किया। इस प्रसग में उसने कहा था—वेश्याओ की प्रेम-प्रीति, कटाक्ष और हाव-भाव दिखावटी है। जब तक यार की गिरह में पैसे होते है, तब तक तो प्रेम बढ़ता जाता है, किन्तु जब पैसे की कमी होती है तब उसमें भाटा पडने लगता है। गाहको का कुतूहल बढ़ाने के लिये वे वस्त्रादि पहनती हैं—लाज रखने के लिये नही। लोगो का मन भुलाने के लिये वे भडकीला साज-सिगार करती है, सामाजिक स्थिति जतलाने के लिये नही। उनका प्रेम, बोल-चाल तक सीमित रहता है, हृदय को छू तक नही पाता, सरलता बाहु-लता में होती है, स्वभाव में नही, ऊँचाई स्तनो की होती है-चाल-ढाल की नही। कोयल के समान लाल-लाल आँख वाली, व्यभिचारी और अनार्या, वे हृदय को छोड सभी अग गाहक के आगे रख देती है। चुम्बक बनकर रूपाजीवा, पहुचे हुए

---

१ ३९।३०-३५ २ प्रतिसर्ग पर्व (३) ९।५

महापुरुषों को भी लोहा बना देती है। उनकी शोभा-सम्पदा दिखावटी है, हृदय की नीच और स्वभाव की वे बेलचक होती है। बहुधा उनका चाल-चलन कठपुतली-सा होता है[१]। पुन आज एक गाहक वेश्या को खरीदता है, प्रात काल दूसरा गाहक पहुचता है, थोडे समय के लिये वह गाहकों के वश में हो जाती है, चिरकाल के लिये बाजारू वेश्या को कौन मोल ले सकता है[२]?

कवि राजशेखर ने काव्य-मीमासा मे "असदुपदेशकत्वात्तर्हिनोपदेय काव्यम्" का उदाहरण देते हुए नीचे लिखे हुए श्लोक का उद्धरण किया है—एक कुटनी बेटी को समझा रही है—बालिका रहते हमलोग बालकों की सगति करती रही, यौवन में युवकों का ससर्ग किया, बुढापे में बूढों की आस लगाये रहती हैं। बेटी, तू विवाह करने चली है! यह क्या अनर्थ करने पर तु उतारू हो गयी है? बेटी, हमारे कुल मे किसी पर सतीत्व का लाछन नहीं लगने पाया"[३]।

समयमातृका में एक कुटनी डीग हांक रही है—गाहकों की निर्बुद्धिता के कारण हम लोग सदैव फूलती-फलती रहती है[४]। फिर, केवल मूर्ख लोग ही आँखें खोलकर हमारे रचे हुए ढोग में फँस जाते हैं तथा हमारी बातों को पतियाते है। केवल माया रचकर ही वेश्याएँ पैसा कमा सकती है[५]। सर्वोपरि वारागनाएँ सदैव सच्चाई से दूर भागती है, वे सर्वदा झूठ पर निर्भर है। जैसे कुल-स्त्री के सुरापी बनने से उसका सब कुछ जाता रहता है, वैसे ही सचाई का मार्ग अपनाने से वेश्या का सर्वनाश होता है[६]।

अत में वेश्याओं की दयनीय जीवन-यात्रा-पद्धति का सजीव वर्णन चाणक्य-नीतिसार में हुआ है। कहा गया है कि उनकी निद्रा औरों की इच्छा पर निर्भर है; गाहक की झक के साथ कदम मिलाकर

---

१. ३०२-३२३ ३. ६।८९-९० ५. २४।३७
२ ६४६ ४. २३।२६ ६. २३।६८

कहा गया है कि वे मीठी वोली वोलने वाली, हँसमुख, कला-कौशल में कुशल, नृत्य-गीत और नाटक में निपुण, प्रिय दर्शन तया सभी गुणो से सपन्न थी। न तो वे कुरूप थी, न दुष्ट थी और न औरो से डाह करती थी[1]।

व्रह्मपुराण की रचना सभवत स्कदपुराण के सकलन-काल के लगभग हुई थी। प्रशसा उच्च होने पर भी सभवत अतिरजित नही थी। किन्तु ये शब्द वीते काल की गणिकाओ के लिये लागू हो सकते थे। उनकी सन्तति स्यात् ही इस प्रमाण-पत्र की योग्य थी।

भविष्यपुराण से ज्ञात होता है कि राजा दलवाहन ने अपने पुत्री के विवाह के अवसर पर लक्षावृत्ति नाम की एक सुकठी गायिका को दहेज के रूप में दिया था[2]।

इस काल के कई अनुभवी लेखको ने पण्य-स्त्रियो की चाल-ढाल और छल-छद पर आलोकपात किया है। कुट्टनीमतम् का कहना है कि जव गुणपालित ने अपने मित्र सुन्दरसेन को हारलता नाम की एक वाजारू स्त्री पर लट्टू होते देखा, तव उसने उसे रोकने का भरसक प्रयत्न किया। इस प्रसग में उसने कहा था—वेश्याओ की प्रेम-प्रीति, कटाक्ष और हाव-भाव दिखावटी है। जब तक यार की गिरह में पैसे होते हैं, तव तक तो प्रेम वढ़ता जाता है, किन्तु जब पैसे की कमी होती है तब उसमें भाटा पडने लगता है। गाहकों का कुतूहल बढ़ाने के लिये वे वस्त्रादि पहनती है—लाज रखने के लिये नही। लोगो का मन भुलाने के लिये वे भडकीला साज-सिगार करती है, सामाजिक स्थिति जतलाने के लिये नही। उनका प्रेम, बोल-चाल तक सीमित रहता है, हृदय को छू तक नही पाता, सरलता वाहु-लता मे होती है, स्वभाव में नही, उँचाई स्तनो की होती है-चाल-ढाल की नही। कोयल के समान लाल-लाल आँख वाली, व्यभिचारी और अनार्या, वे हृदय को छोड सभी अग गाहक के आगे रख देती है। चुम्बक वनकर रूपाजीवा, पहुचे हुए

---

१ ३९।३०-३५ २ प्रतिसर्ग पर्व (३) ९।५

महापुरुषो को भी लोहा बना देती हैं। उनकी शोभा-सम्पदा दिखावटी है, हृदय की नीच और स्वभाव की वे बेलचक होती हैं। बहुधा उनका चाल-चलन कठपुतली-सा होता है[१]। पुनः आज एक गाहक वेश्या को खरीदता है, प्रात काल दूसरा गाहक पहुचता है; थोडे समय के लिये वह गाहको के वश में हो जाती है, चिरकाल के लिये बाजारू वेश्या को कौन मोल ले सकता है[२]?

कवि राजशेखर ने काव्य-मीमासा में "असदुपदेशकत्वात्तर्हिनोपदेय काव्यम्" का उदाहरण देते हुए नीचे लिखे हुए श्लोक का उद्धरण किया है—एक कुटनी बेटी को समझा रही है—बालिका रहते हमलोग बालको की सगति करती रही, यौवन में युवको का ससर्ग किया, बुढापे में बूढो की आस लगाये रहती हैं। बेटी, तू विवाह करने चली है! यह क्या अनर्थ करने पर तू उतारू हो गयी है? बेटी, हमारे कुल मे किसी पर सतीत्व का लाछन नहीं लगने पाया"[३]।

समयमातृका में एक कुटनी डींग हांक रही है—गाहको की निर्बुद्धिता के कारण हम लोग सदैव फूलती-फलती रहती हैं[४]। फिर, केवल मूर्ख लोग ही आंखें खोलकर हमारे रचे हुए ढोंग में फंस जाते हैं तथा हमारी बातो को पतियाते है। केवल माया रचकर ही वेश्याएँ पैसा कमा सकती हैं[५]। सर्वोपरि वारागनाएँ सदैव सच्चाई से दूर भागती हैं, वे सर्वदा झूठ पर निर्भर हैं। जैसे कुल-स्त्री के सुरापी बनने से उसका सब कुछ जाता रहता है, वैसे ही सचाई का मार्ग अपनाने से वेश्या का सर्वनाश होता है[६]।

अत में वेश्याओ की दयनीय जीवन-यात्रा-पद्धति का सजीव वर्णन चाणक्य-नीतिसार में हुआ है। कहा गया है कि उनकी निद्रा औरो की इच्छा पर निर्भर है, गाहक की झक के साथ कदम मिलाकर

---

१ ३०२-३२३ ३ ६।८९-९० ५ २४।३७
२ ६४६ ४. २३।२६ ६ २६।६८

कहा गया है कि वे मीठी बोली बोलने वाली, हँस
कुशल, नृत्य-गीत और नाटक में निपुण, प्रिय दर्शन
सपन्न थी। न तो वे कुरूप थी, न दुष्ट थी और न और

ब्रह्मपुराण की रचना सभवत स्कदपुरा
के लगभग हुई थी। प्रशसा उच्च होने पर भी सभ
थी। किन्तु ये शब्द बीते काल की गणिकाओ के
थे। उनकी सन्तति स्यात् ही इस प्रमाण-पत्र की य

भविष्यपुराण से ज्ञात होता है कि राजा द
के विवाह के अवसर पर लक्षावृत्ति नाम की एक
दहेज के रूप मे दिया था[२]।

इस काल के कई अनुभवी लेखको ने पण्य-ि
और छल-छद पर आलोकपात किया है। कुट्टनीमत
जब गुणपालित ने अपने मित्र सुन्दरसेन को हार
बाजारू स्त्री पर लट्टू होते देखा, तब उसने उसे
प्रयत्न किया। इस प्रसग में उसने कहा था—वेश्य
कटाक्ष और हाव-भाव दिखावटी है। जब तक यार
होते है, तब तक तो प्रेम बढ़ता जाता है, किन्तु जब
है तब उसमें भाटा पडने लगता है। गाहको का कुतू
वे वस्त्रादि पहनती है—लाज रखने के लिये नही। ल
के लिये वे भडकीला साज-सिगार करती है, सामाजि
के लिये नही। उनका प्रेम, बोल-चाल तक सीमित
छू तक नही पाता, सरलता बाहु-लता में होती है,
ऊँचाई स्तनो की होती है-चाल-ढाल की नही। कोयल
लाल आँख वाली, व्यभिचारी और अनार्या, वे हृद
अग गाहक के आगे रख देती हैं। चुम्बक बनकर

१ ३९।३०-३५ २ प्रतिसर्ग

उतारने के लिये मैं सदैव तैयार हूँ, किन्तु उसकी माँ की माँग बहुत है[1] इत्यादि।

समयमातृका में क्षेमेन्द्र ने सध्या-काल में वेश्यावीथी में जो-जो दृश्य देखने में आते है उनका और भी सजीव वर्णन दिया है। किसी अप्सरा के परिचित नागर के न आने तथा अपरिचित गाहक को नकार देने के कारण उसकी "धोबी की कुतिया"-सी दशा हो गयी। कोई उल्टे पाँव लौटने वाले सपन्न गाहक से अधिक धन फँसने के फेर में माँ की दुहाई दे रही थी। कोई पालतू बिल्ली को बुलाने के बहाने बारम्बार बाहर निकल कर सडक का मुआयना करती थी। "रात लबी है, लुच्चा नौसिखुआ है और लडकी नन्ही-सी है! क्या होगा, कौन जाने!" यह सोच कर कोई कुटनी बडी बेचैन थी। किसी का घर खाली था, इसलिये झेंप मिटाने के उद्देश्य से बिना पूछे वह कहती फिरती थी—"मैं किसी अपरिचित गाहक से शुल्क नही लेती। समय टेढा है। म्लेच्छ लोग इधर उधर झाँकते फिरते है!" नये किसी गाहक को एकान्त में ले जाकर कोई कुटनी कह रही थी—"बच्ची उच्चपदस्थ एक राजकर्मचारी की रखेली है। वह बाहर गया हुआ है।" इस प्रकार की झाँसा-पट्टी देकर वह उससे तीन-गुना शुल्क वसूल करने के तार में थी।"बेटी छोटी-सी है, आपके योग्य नही, उसे छुट्टी भी नही, फिर आप अपरिचित भी है।" इस प्रकार की बोलियाँ बोलती हुई कोई कुटनी गाहक को परदे की आड में ले जाती थी इत्यादि[2]।

क्षेमेन्द्र ने कला-विलास में जिन-जिन कलाओ मे वारागनाएँ निष्णात होती है, उनकी एक लम्बी सूची दी है। इनमे वेप-कला, नृत्त-गीत, आँख-मारना, काम-भाव की थाह लेना, ठगना, मद्यपान, सहलाना, चुम्बन, रति-क्रीडा, निर्लज्जता पर क्षोभ, रुलाई, मान, बहानेबाजी, झूठमूठ छिद्रान्वे-

---

१. ३३१-३५० २. पृष्ठ १८-१९

उन्हें चलना पडता है, कारण न होने पर भी हँसना पडता है तथा दुख का अनुभव न करने पर भी रोना पडता है, उनकी देह विक्री की वस्तु है, जिसे सभी नखो से खरोचते और दाँतो से काटते है। सदैव सत्रस्त गणिका का जीवन दुखमय अभिशाप-सा है[1]।

कुट्टनीमतम् मे सध्या समय वेशवीथी में जो दृश्य सामान्यतः देख पडते है, उनका विशद वर्णन हुआ है। कही कोई पण्य-स्त्री किसी कपटी लुच्चे को घर में पैठने से रोकती थी, कही मामूली पुरानी साडी मिलने के कारण कोई हाय-हाय करती थी, कही कोई ऋणी नागर को कन्नी काट कर जाते देख उसके पीछे दौड रही थी, कोई सुन्दरी अपने यहाँ किसी राजपुत्र के आने का व्यौरा दे रही थी और प्रमाण के रूप में उसके नख और दाँतो के दाग प्रस्तुत कर रही थी, नागरो की होडा-होडी के कारण किसी का मूल्य अचानक बढ जाने के कारण वह धरती पर पाँव नही रखती थी, कही कोई किसी धनिक असामी से अधिक धन फँसने के तार में थी। नगद रकम न होने पर जब वेश्या ने अपने यहाँ से दुरदुरा दिया तब कोई लुच्चा दुखभरे शब्दो में झीख रहा था—"तेरे साथ हो लेने से मुझको घर-वार छोडना पडा, अव तूने भी मुझसे विलकुल मुह फेर लिया!" कही पेशगी लेकर दिये हुए वचन का उल्लघन करने के लिये कोई खुर्राट वैशिक दुगुना शुल्क वसूल करने के तार में था। कही निर्धन कोई नागर अपने मित्र से कह रहा था कि "अभी चार दिन हुए मैंने उसे चीनाशुक का जोडा दिया था, तथापि सदैव वह झिडकती रहती है! ऐसी दशा में वोलो, भाई, मै क्या करूँ?" फिर कोई कह रहा था — "केली तो मुझे चाहती है, किन्तु उसकी डाइन मा को सौ वर्षों में भी मना नही पाऊगा!" कही कोई चुडैल वेटी को कह रही थी—"दयितिका केसरिया पहन ले, फूल के गहने उठाले, आज नाच दिखाने की बारी है न?" फिर कोई गर्वीला नागर कह रहा था कि "मदन सेना की नथ

---

१ ७।१६

उतारने के लिये मैं सदैव तैयार हूँ, किन्तु उसकी माँ की माँग बहुत है[1] इत्यादि।

समयमातृका में क्षेमेन्द्र ने सध्या-काल में वेश्यावीथी में जो-जो दृश्य देखने में आते हैं उनका और भी सजीव वर्णन दिया है। किसी अप्सरा के परिचित नागर के न आने तथा अपरिचित गाहक को नकार देने के कारण उसकी "धोबी की कुतिया"-सी दशा हो गयी। कोई उल्टे पाँव लौटने वाले सपन्न गाहक से अधिक धन फँसने के फेर में माँ की दुहाई दे रही थी। कोई पालतू बिल्ली को बुलाने के बहाने बारम्बार बाहर निकल कर सडक का मुआयना करती थी। "रात लंबी है, लुच्चा नौसिखुआ है और लडकी नन्ही-सी है! क्या होगा, कौन जाने!" यह सोच कर कोई कुटनी बडी बेचैन थी। किसी का घर खाली था, इसलिये झेंप मिटाने के उद्देश्य से बिना पूछे वह कहती फिरती थी—"मैं किसी अपरिचित गाहक से शुल्क नही लेती। समय टेढा है। म्लेच्छ लोग इधर उधर झाँकते फिरते है।" नये किसी गाहक को एकान्त मे ले जाकर कोई कुटनी कह रही थी—"बच्ची उच्चपदस्थ एक राजकर्मचारी की रखेली है। वह बाहर गया हुआ है।" इस प्रकार की झाँसा-पट्टी देकर वह उससे तीन-गुना शुल्क वसूल करने के तार में थी। "बेटी छोटी-सी है, आपके योग्य नही, उसे छुट्टी भी नही, फिर आप अपरिचित भी है।" इस प्रकार की बोलियाँ बोलती हुई कोई कुटनी गाहक को परदे की आड में ले जाती थी इत्यादि[2]।

क्षेमेन्द्र ने कला-विलास में जिन-जिन कलाओं मे वारागनाएँ निष्णात होती है, उनकी एक लम्बी सूची दी है। इनमें वेष-कला, नृत्त-गीत, आँख-मारना, काम-भाव की थाह लेना, ठगना, मद्यपान, सहलाना, चुम्बन, रति-क्रीडा, निर्लज्जता पर क्षोभ, रुलाई, मान, बहानेबाजी, झूठमूठ छिद्रान्वे-

---

१. ३३१-३५०   २. पृष्ठ १८-१९

पण, शूल-पीडा, रुखाई, कटुभाषण, घर से दुरदुराना, वशीकरण और अन्त में कुटनी बनना मुख्य है[1]।

इस काल की पण्य-स्त्रियो का शुल्क वा भाटी क्या थी, यह ठीक-ठीक कही बताया नही गया। चाहे कुछ भी हो, नियत रकम दे देने पर गाहक को छुटकारा नही मिलता था। उससे बँधी रकम के अतिरिक्त इनाम-बख्शीश के रूप में कुछ रकम वसूल करने की प्रथा थी[2]। कभी-कभी ये साडी और उत्तरीय का जोडा भी लेती थी। कुट्टनीमतम् में एक नागर ने "चीनाशुक-युगल" की भेंट की थी—ऐसा कहता है[3]। पुन अवदान-कल्पलता का कथन है कि मृणाल नाम के एक विट ने वस्त्रो का जोडा और गहने पेशगी के रूप मे दिये थे[4]।

कोई-कोई वेश्या बडभागी होती थी। उसके यहाँ आराम-चैन का वारपार नही रहता था। मृच्छकटिका की वसन्तसेना के ठाठ-वाट से सभी परिचित है। स्कदपुराण के ब्रह्मखड के उत्तर खड का कहना है कि नन्दिग्राम में एक नामी गणिका थी। उसका नाम महानन्दा था। उसकी रहन-सहन का स्तर वडा भडकीला था। कहा गया है कि वह पूनो के चाँद जैसा छाता लगाती, उसकी पालकी पर सोना मढा हुआ था, चँवर के डडे सोने के थे और जूते पर सोने का काम था। वह बहुमूल्य वस्त्र पहनती, चाँद की किरण जैसी स्वच्छ शय्या पर लेटती। उसका पलँग भी सोने का था। सैकडो गो-धन, अनगिनत गहने, धान रखने के लिये वडी-वडी कोठरियाँ, सुगध, केशर, कपूर, फूल-माला, का क्या कहा जाय! इनको छोडकर उसके पास एक करोड से अधिक नकद रुपया था। उसकी सैकडो दास-दासी भी थी। वह प्रतिदिन शिव-पूजन किया करती थी[5]।

कथा-सरित्सागर में प्रतिष्ठान की मदनमाला के वैभव का वर्णन हुआ है। गढ जैसा उसका महल खाई और ऊँची दीवारो से घिरा हुआ

---

१. ४।२-११ २. कुट्टनीमतम्, ३६४ ३ ३४४ ४. ५०।७३ ५ २०।२९-३५

था। महल के ऊपर झंडा लहराया करता था। ड्योढी पूर्व दिशा की ओर थी। सदैव बीस हजार सशस्त्र पैदल सैनिक उसकी रखवाली किया करते थे। शेष तीन फाटकों की रखवाली के लिये दस-दस हजार सिपाही थे। महल सात खंडों में विभक्त था। कही घुडसाल, कही हयसार, कही अस्त्रागार, कही खजाना, कही नौकर-चाकरो के रहने का स्थान था। फिर कही चारण और बन्दी लोग टेर रहे थे और कही गीत-वाद्य का जलसा हो रहा था। इन सब खंडो को पार करके मदनमाला के निजी महल में पहुँचा जाता था[1]।

वारागनाओ के छल-छद जानते हुए भी प्राचीन काल के बडे-बडे निष्ठावान् ब्राह्मण तथा शूर-वीर क्षत्रिय उनके जाल में फँसने के लिये अकुलाते थे। स्कदपुराण के नागरखंड का कहना है कि याज्ञवल्क्य महर्षि शाकल्य के चेले थे। वेश्यासक्त होने पर भी वह बडे तेजस्वी ब्राह्मण हो गये । एक दिन गुरु शाकल्य ने उनको राजा सुप्रिय के यहाँ पुरोहिती करने भेजा। रात को याज्ञवल्क्य किसी वेश्यालय में पडा हुआ था। उसके शरीर पर नख और दांत के दाग स्पष्ट दिखाई पडते थे। गुरु की आज्ञा मिलते ही याज्ञवल्क्य राजभवन में पहुँच गया और पूजा-पाठ कर लेने के बाद राजा को शांति-जल देने लगा। किन्तु उसके शरीर के दागो को देखकर राजा ने उसे लेने से अस्वीकार किया और मंत्रपूत जल शाल के बने हुए एक खभे पर छोड देने को कहा। याज्ञवल्क्य ने वैसा ही किया। लहमे भर में उस खम्भे में से शाखाएँ निकल आयी और उन पर नयी पत्तियाँ जमने लगी। यह चमत्कार देखते ही राजा ने बहुत चिरौरी-विनती की कि मुझको भी वह जल देने की कृपा कीजिये। किन्तु याज्ञवल्क्य ने उसकी एक न सुनी और वहाँ से चल दिया[2]।

स्कदपुराण के ब्रह्मखंड के उत्तर भाग में विदुर नाम के एक ब्राह्मण के बारे में कहा गया है कि पत्नी बदुला के सो जाते ही उसे अकेली छोड

१. पृष्ठ १७४ २. १२१।१-२७

कर रात को वह अपनी रखेली के यहाँ चला जाया करता। कुछ दिनो में वदुला का भी चरित्र विगडा और वह यार के साथ घर मे दिवाली मनाती रही। एक दिन विदुर ने दोनो को देख लिया। यार तो भाग निकला। तव पति देवता विचारी स्त्री पर क्रोव उतारने लगे। वहुत पीटे जाने पर वदुला वोल उठी—"तुम प्रतिदिन मुझे अकेली छोड कर रखेली के यहाँ चल देते हो, तो मेरी गति क्या हो सकती है?" इस पर ब्राह्मण ने वदुला से समझौता कर लिया कि भविष्य मे कमाई के पैसे वह उसको दिया करेगी[1]।

उसी पुराण के नागरखड में कहा गया है कि परावसु नाम का एक ब्राह्मण उपाध्याय के घर में रह कर वेदाध्ययन करता था। प्रति दिन रात को धीरे से उठकर वह रखेली के यहाँ चला जाया करता था[2]।

उसी पुराण के विष्णुखड के वेंकटाचल माहात्म्य भाग से विदित होता है कि वेदपुर मे पद्मनाभ नाम का एक वेदज्ञ ब्राह्मण रहता था। उसका एकलौता वेटा केशव वडा आवारा निकला। घर-वार छोडकर वह सदैव वेश्या के यहाँ पडा रहता था। कभी-कभी शुल्क के रूप में वह उसको एक-आध निष्क दे भी देता था। स्वभावत वेश्याएँ पैसे की कगाल होती है। पैसा न मिलने से वे किसी से नाता नही जोडती। अत वेश्या का मुह भरने के लिये केशव चोरी करने लगा। एक दिन वह कुछ किरातो के साथ हो लिया और किसी धनिक ब्राह्मण के घर पर चढाई कर दी। हाथा-पाई होते समय सयोगवश गृहस्वामी मारा गया। तव केशव को ब्रह्महत्या सताने लगी। निदान ऋषि भरद्वाज ने उसे मुक्ति का उपाय वतला दिया[3]।

स्कदपुराण के ब्रह्मखड के उत्तरभाग से पता चलता है कि व्याह के पहले राजकुमार लोग सामान्यत वेश्यासक्त होते थे[4]। कुट्टनी-मतम् का कथन है कि कुमार समरभट्ट ने काशी के श्री विश्वनाथ जी

---

१ २२।५४-६२ २ १९७।४-५ ३ २८।४०-८० ४ १।४७

के मंदिर में मंजरी नाम की एक वारवनिता को अभिनय करते हुए देखा था। उसी समय कुमार की दृष्टि में वह जँच गयी थी। कुमार के घर लौटने पर मंजरी ने प्रेम जतलाने के लिये उसके निकट दूती भेजी। कुमार ने तब उसको अपने यहाँ मँगवा लिया। क्रमश: वह कुमार से रुपये-पैसे के अतिरिक्त मूल्यवान् माल-असबाब झँसने लगी। निदान जब कुमार का हाथ बिलकुल खाली हो गया तब वह धीरे से खिसक गयी[1]।

ऊपर कहा जा चुका है कि इस काल की वारवनिताएँ कमाई के पीछे कला-कौशल की चर्चा का तौर काटने लगी थी। कुट्टनीमतम् का नृत्याचार्य दुखभरे शब्दों में कहता है—अब बनिये समाज के नेता बन बैठे हैं। नट लोग धोखा देने लगे हैं। ऐसी दशा में नटियों की सृष्टि कैसे हो सकती है? अब उनका सारा ध्यान कमाई पर केन्द्रित है। कोई बलात् रोक ली जाती है, कोई प्रियदर्शन गाहक के आ जाने से पहुँच नही पाती, कोई यारों के साथ पान-गोष्ठी का रस लेती रहती है! इस दशा में कला कैसे पनप सकती है[2]?

इस काल की पण्य-स्त्रियों का नारा, अवदान-कल्पलता के अनुसार, "न धर्माय, न कामाय, वय अर्थाय निर्मिता" बना[3]। वस्तुत कमाई की लालसा ने उन्हें ऐसा जकड लिया कि वे नरहत्या जैसा पाप करने से भी झिझकती नही थी। उपर्युक्त ग्रंथ मे इस प्रकार की कई कहानियाँ देखने में आती हैं। मृणाल नाम के एक वैशिक ने बनारस की भद्रा नाम की एक वारनारी के साथ किसी बगीचे मे मिलने की बात तय कर ली और पेशगी के रूप मे उसे कपडे आदि दिये। दूसरे दिन साज-सिंगार कर वह यात्रा करने ही वाली थी कि उसी समय एक गाहक पहुंच गया। वह बहुत आगा-पीछा करने लगी। निदान दासी के कहने से वह रुक गयी और दासी के द्वारा मृणाल को सदेशा भेज दिया। इस

---

१. ७३७-१०५८ २ ७९४-७९५ ३. ७२।१६

बीच दासी ने भडाफोड दिया। वडी देर में जव भद्रा मृणाल के पास पहुची तब मारे क्रोध के उसने उसकी हत्या कर दी[१]।

फिर उसी पुस्तक का कथन है कि उपगुप्त नाम के एक गधी के रूप-गुण की चर्चा सुनकर मथुरा की वासवदत्ता उस पर लट्टू हो गयी। उसने कई वार उसके यहां दासी और दूती को भेजा। किन्तु उपगुप्त बरावर यह कहकर टाल देता कि 'अभी समय नही आया।' दु ख का घूट पीकर वासवदत्ता चुप हो जाती। एक दिन उसके यहाँ कोई वनिया बैठा हुआ था, ऐसे समय एक विदेशी सार्थपति वहाँ पहुँच गया और खासी रकम देने लगा । वासवदत्ता ने तव वनिये को विप खिला कर मार डाला और सार्थपति के साथ सारी रात गवा दी। दूसरे दिन वह पकड ली गयी और राजा के आदेश से उसके नाक-कान और हाथ-पैर काट दिये गये। ऐसी दशा में जव श्मशान में पडी हुई वासवदत्ता कराहती थी, तव धीरे-धीरे उपगुप्त वहाँ पहुँचा। कुछ रूठकर वासवदत्ता ने पूछा—"क्यो, जव मेरे प्राण निकलने वाले हैं, तभी आपको फुरसत हुई।" धीरे-धीरे उपगुप्त ने धर्मोपदेश दिया। निदान वासवदत्ता ने सद्धर्म को अपनाया[२]।

कुल वातो पर विचार कर, ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण मे वारनारियो की वडी निन्दा की गयी है। कहा गया है कि वेश्याओ के वरावर पापी कोई नही। सारे ससार में जितने प्रकार के पाप हैं, वेश्या सभी को हँसते-खेलते कर-लेती है। नये गाहक मिलने की आशा में वह पुराने की हत्या तक कर देती है। वेश्या का जिसने विश्वास किया, बिना मौत के वह मारा जाता है[३]।

जलक्रीड़ा

परम्परा के अनुसार सस्कृत महाकाव्यो के १८ लक्षण होते हैं। और

१. ५०।७२-११५ २. ७२।१-३७ ३ ४।२३।२६-४१

और विषयो के अतिरिक्त उनमें उद्यान-यात्रा, वन-विहार जल-क्रीडा, पान-गोष्ठी, रतोत्सव आदि का विशद वर्णन करने की रीति है। अत. इस काल के रचित काव्य ग्रथो में यत्र-तत्र जल-विहार का वर्णन हुआ है। किन्तु इन दिनो के वर्णन में पहले का संयम नही देखा जाता। भावुक कवियो की तीक्ष्ण दृष्टि रमणियो के गीले पहनावे भेद कर उनके अग-सौष्ठव और सुकुमार स्थानो के नखो के दागों पर अधिक जाने लगी। जल-केलि का व्यौरा देते समय नायक ने किन-किन तत्परताओ के द्वारा नायिका के काम-भाव को जागरित किया था, इसी सब का विवरण देने के लिये वे अकुलाते रहते हैं। थोडे मे मध्यकाल की जल-केलि के वर्णन में प्राचीन काल की पवित्रता नही रहने पायी और वे काम-प्रवृत्ति को सहलाने के साधन वन गये।

बुद्धघोष के पद्यचूडामणि में कुमार गौतम ने रनिवास की महिलाओ के साथ जिस रीति से जल-क्रीडा की थी, उसका सविस्तार वर्णन हुआ है। कहा गया है कि वगीचे में रमने-फिरने के वाद जव सव थक गये, तव कुमार और उनकी प्यारी महिलाए पोखरे की ओर वढ चली। तालाव के निकट पहुचते ही सभी ने अपने केशपाश अच्छी तरह वांध लिये और हाथ में एक-एक पिचकारी ले ली। पानी में उतरते ही स्त्रियां कुमार के शरीर पर पिचकारी द्वारा निरतर पानी छोडने लगी, कोई कमल की नाल लेकर जल-मृदग वजाती रही, कोई पानी में गोता मारती फिर निकल आती थी। कुमार जभी पिचकारी द्वारा सुन्दरियो के मुखमडल पर केसरिया रग का पानी छोडता तभी देवियां वदला चुकाती थी। कभी किसी की आंखे अपने हाथो से वन्द कर वह उसकी वगल में खडी किसी महिला को चूमता था। कोई सुन्दरी ऐसी निपुणता के साथ कुमार पर पानी छोडती थी कि वह झट उसके वश में आ जाय। कभी कुमार चुल्लू में पानी भर-भरकर किसी मानिनी का मान धो देता था। फिर कभी डुवकी लगा कर वह जल में डूवी हुई किसी देवी के स्तनो में लगे हुए जलकणो को मुह से चूस लेता था। इस प्रकार वहुत देर तक रग-

रली करने के बाद जब वे बिलकुल थक गये और आँखे लाल हो गयी, तब वस्त्रादि पहन कर वे घर सिधारे[१]।

गौडवहो मे यशोवर्मन् की रखेलियो की जलकेलि का वर्णन करते हुए वाक्पतिराज कहते हैं कि वे केसरिया रग की साडियाँ पहने हुई थी, हाथो मे माला थी, नशा चढने के कारण उनके पैर लडखडाते थे और आँखो की पुतलियाँ नाच रही थी। ललाट पर पसीने की बूदे देख पडती थी, गीली साडियो मे से उनके चन्दन पुते हुए कठिन स्तनो की आकृति स्पष्ट दिखाई पडती थी, आँख से काजल का चिह्न धुल गया था, नितम्ब देश पर प्रियतम के गडाये हुए नखो के दाग भीगी साडी के रहते हुए भी साफ-साफ दिखाई देते थे और उनके केशपाश उलझे हुए थे[२]।

कुट्टनीमतम् की नायिका बीती हुई घटनाएँ स्मरण करते हुए कहती है कि जल-क्रीडा करते समय नायक पिचकारी भर-भर कर मेरे शरीर पर छोडता और मैं रूठकर कमल-नाल से तान कर मारती थी। तब अचानक पानी में डुबकी लगाकर वह धीरे-धीरे मेरे पास पहुँच जाता और सिर के बल मुझको ऊपर उठाकर पानी मे उलट देता। इस पर सगी-साथिनें हँस पडती थी। उस समय गीली साडी से ढका हुआ मेरा कठिन जघन देखने पर उसके मन में स्वत विकार का उद्रेक होता था[३]।

आदिपुराण मे वज्रजघ के विषय मे कहा गया है कि वह कभी-कभी देवी श्रीमती के साथ कमल के पराग के निरतर बरसने से पीले पानी वाले पोखरे मे जल-क्रीडा करता था। उस समय दोनो पिचकारी भर-भरकर एक दूसरे पर पानी छोडते थे। जलकेलि करते समय देवी की भीगी साडी शरीर से चिपक जाती थी। तब देवी के स्तन कली के समान, भुजाएँ नाल के समान और मुख खिले हुए कमल के समान लगता था। पुन कभी-कभी राजा देवी के साथ धारा-गृह (फुहारे के घर) में चला जाता। वहाँ सदैव वर्षा ऋतु बनी रहती थी[४]।

---

१ ७।२७-५० २ पृष्ठ १६१-१६६ ३ ६८५-६८७ ४ ८।२२-२८

माघ के शिशुपालवध काव्य में यादव रमणियों के जल-विहार का विशद वर्णन हुआ है। जल-केलि के साज-सामान ये थे—सभी के हाथ में सुनहरी पिचकारियां होती थी, स्त्रियां केसरिया वस्त्र पहन लेती थी, द्राक्षारस पिया जाता था, सुगंधित द्रव्य पोत लिया जाता था और पति-पत्नी का जोडा लगा कर पानी मे उतरने की रीति थी। वन-विहार की थकान मिटाने के लिये यादव रमणियां तालाब की ओर चल पडी। पोखरे के किनारे आ जाने पर वे अपने-अपने पतियो की सहायता से पानी मे उतरी। आगा-पीछा करने वालो पर जोरो से पानी छिडका गया। शेष पानी मे ढकेल दिये गये। भयभीत देवियो को उनके पति सँभाल रहे थे। जब किसी को मछलियाँ काट लेती, तब नाचती हुई वे विचित्र मुद्राएँ करती। कुछ तालाब के ऊँचे किनारे पर से पानी में कूदने लगी। इससे औरो पर पानी की झडी पडने लगी। डाह-भरी आँखो से कोई स्त्री सौत की छाती के नखो के दाग एक टक देख रही थी। देर तक पानी में रहने के कारण उनकी आँखो में लाली आ गयी, काजल धुल गया, कान पर का नील-कमल बह गया, ओठ का लाल रग धुल जाने से दतक्षत के दाग उभर आये थे, गाल और ललाट के तिलक मिट गये, माला टूट गयी, साडी का रग बिगड गया और लेप धुल गये[1]।

कुमारपाल-चरित म हेमाचार्य ने अपने समय की जलक्रीडा के दृश्य का सजीव वर्णन दिया है। कोई किशोरी टूटती हुई मोती-माला की ओर ध्यान न देकर अपने पति के हाथ में हाथ बाँध कर पोखरे मे कूद पडी। उसकी माला के दाने चारो ओर बिखर गये। कोई सुन्दरी तैराकी मे अपनी निपुणता दिखाने के लिये विविध प्रकार की मुद्रा दिखाती थी। जब वे आगे बढती या पीछे हटती अथवा गोता मारती तब उनके जूडे सांपो की तरह उनके पीछे-पीछे लहराते थे। कोई मुह

१ ८।१-६२

में पानी भरकर अपने प्रीतम के शरीर पर धार छोडकर उसे मुग्ध कर देती थी। कोई अपने पति के साथ जलद्वंद्व करने मे मस्त थी। यद्यपि आँखो से काजल के दाग मिट गये थे, फिर भी उनकी स्वाभाविक सुन्दरता बनी रही। कोई केले के झरे हुए पीले पत्ते ले कर खेल रही थी, कोई प्रियतम की धोती पकड कर खीच रही थी। कुछ पति को सौतो के साथ प्रेम करते देख कुढ रही थी। कुछ पति को परायी स्त्री की ओर ताकते देख झिडकती थीं। पोखरे में नहाते समय उच्च-नीच का भेद-भाव मिट जाता था। राज-परिवार के सदस्य बिना रोक-टोक सामान्य जनो से खेल रहे थे। वारवनिताएँ एक परिचित मित्र से मिल कर औरो से मिलने जाती थी। अपनी-अपनी चहेती वेश्याओ को युवक लोग छेड रहे थे। राजकुल के सदस्य स्त्रियो और मित्रो पर बेखटके पानी छिडक रहे थे। चारो ओर कुछ दबा हुआ हल्ला-गुल्ला हो रहा था। उसको दबा कर कभी-कभी सामूहिक सगीत की ध्वनि उठ रही थी। मारे जाडे और आनन्द के नहाने वालो के रोएँ खडे हो रहे थे। तब पानी में से बाहर निकल कर विह्वल पति पत्नियो के पीछे हो लिये[१]।

उसी काव्य में कुमारपाल के धारा-गृह का विशद वर्णन हुआ है। कहा गया है कि यत्र द्वारा कुएँ का पानी ऊपर उठाकर धारा-गृह में भेजा जाता था। पानी जब ऊपर पहुच जाता तो सारा भू-भाग जल-मग्न हो जाता था। निचली भूमि बिलकुल डूब जाती और उच्च भूमि के आसपास से पानी की धार बहने लगती थी। प्रतिदिन सैकडो व्यक्ति पहाड की चोटी और पेड पर से यह तमाशा देखने के लिये एकत्र होते थे। राजा के धारा-गृह में पैठते ही जल-यत्र के सहारे धारा-गृह के भीतर चारो बगल से पानी की धार बहने लगती थी। दाहिने, बाएँ, आगे, पीछे, स्फटिक स्तभो, मकर-मुख वाले फुहारो, पुतलियों के नाक-कान और मुह से पानी के अनगिनत झरने बहने लगते थे। इनके अतिरिक्त चारो दरवाजो

१ ४।४२-७७

के निकट चार वडी वडी मूर्त्तियाँ रखी थी। उनमें से पानी की निरतर धार गिरती जाती थी। कवि की सम्मति है कि राजा-कुमारपाल का धारा-गृह विचित्र था[1]।

यशस्तिलक-चम्पू मे यशोवर राज के यत्रधारा गृह का वर्णन हुआ। है। कहा गया है कि 'मदन-मद-विनोद' वगीचे के वीच में, जलक्रीडा करने के लिये वडा भारी एक पोखरा था। उसमें छिट-फुट छोटे छोटे द्वीप थे। उन पर छोटे-छोटे महल वने हुए थे। उनमें सलिल-तूलिका (पानी से भरी हुई चारपाई) रखी हुई थी। जलक्रीडा करते-करते जव राजा और सगे-साथी थक जाते थे, तव वे इन भवनो में थकान मिटाते थे। इसके अतिरिक्त पोखरे के किनारे यत्रधारा-गृह था। वहाँ चित्रित हाथी, साँप और शेरो के मुख से अनवरत पानी की धार निकलती रहती थी। शोभा के लिये उसके भीतर वहुत-सी पुतलियाँ रखी थी। वहाँ विलासिनी ललनाएँ माथे पर शिरीष-कुसुम के वने हुए गजरे लपेट कर, गले मे विचकिल की कलियो की माला पहन कर, कमर मे पाटलि फूल की वनी हुई करधनी पहन कर, सामने कमल-नाल का बना हुआ छाजन लटका कर और स्तनो पर चन्दन पोत कर जलकेलि करती थी।[2]

कथाकोष प्रकरण में जिनेश्वर सूरि ने राजगृह के वणिक् पुत्र शालिभद्र के कथा-प्रसग में जिस रीति से राजा श्रेणिक ने रानी चेल्लना के साथ जलकेलि की थी, उसका सविस्तार वर्णन किया है। शालिभद्र की माता भद्रा सेठानी ने राजा और रानी को अपने यहाँ भोजन करने का निमत्रण दिया। राजा के पहुचने पर राजसीठाट से उसका स्वागत-सम्मान किया गया। राजा और रानी महल के चार खड पार कर पाँचवे खड में पहुँचे तो उन्हें एक सुन्दर वगीचा मिला। वह शोभा-सपदा में नन्दन-कानन को भी मात करता था। थोड़ी देर में वारागनाएँ राजा-रानी को उवटन लगाने और तेल मलने लगी। दलाई-मलाई समाप्त होने पर राजा-

---

१. ४।२५-३१ २. १।५२६-५३३

रानी एक पोखरे में उतर गयी। यद्यपि वह ऊपर से ढका हुआ था, फिर भी मणि और रत्नो के प्रकाश से वह सदैव जगमगाता था। यन्त्रो के सहारे तालाव का पानी वरावर वदल दिया जाता था। जल की हिलोरो से कभी रानी अपने स्तन के भार को सँभाल न सकने के कारण वह कर राजा की ओर चली जाती थी और कभी राजा देवी के उछाले हुए पानी की लहरो से खिच कर रानी के समीप चला आता था। राजा के उछाले हुए पानी के वेग से कभी रानी का उत्तरीय खिसक कर उसके नितव मे लिपट जाता और कभी वहाँ से हट कर स्तनो से चिपक जाता। कभी राजा रानी को कमल की नाल से मारता तो रानी उसका वदला चुकाती। एक वार राजा ने इतने जोर से पानी उछाला कि रानी घवरा कर राजा से विलकुल चिपक गयी। इस प्रकार वहुत देर तक दोनो जल-क्रीडा करते रहे[१]।

उद्यान-यात्रा

इन दिनो का वातावरण ऐसा दूषित हो गया था कि उद्यान-यात्रा और वन-विहार जैसे मनोरजन के विशुद्ध सावन काम-प्रवृत्ति को सहलाने के उपाय माने गये। पहले पहल प्रति दिन की जीवन-यात्रा-पद्धति मे कुछ विचित्रता, कुछ नूतनता तथा कुछ परिवर्त्तन लाने के लिये नागरिक कभी-कभी खुली हवा का मजा लेने, थोडे से समय के लिये प्रकृति के साथ तादात्म्य साधने के लिये वाग-वगीचे में चले जाते थे। किन्तु अव मुख्यत स्त्रियों की निरतर सगति के कारण मनोविकार उत्पन्न करने के अभिप्राय से लोग उद्यान-यात्रा और वन-विहार करने लगे। पद्य-चूडामणि मे कुमार गौतम ने रनिवास की महिलाओ के साथ जो उद्यान-यात्रा की थी, उसका सविस्तार वर्णन हुआ है। कहा गया है कि मन-वहलाव के लिये स्त्रियां कभी फूल चुनती, कभी पत्तियाँ नोचती, कभी अशोक के पेडो पर लात वरसाती, कभी पुनाग को सहलाती, कभी मौलसिरी के पेड पर सुरा के

---

१ पृष्ठ ५७-५८

कुल्ले करती, कभी बेल-बूटी की करधनी बनाती, कभी केशपाश में नव-मालिका का फूल खोसती, कभी उँगलियो के साथ प्रतिस्पर्धा करने के लिये आम की कोंपलें तोडती, कभी शेफालिका और सिन्दुवार के पराग का तिलक लगाती और कभी प्रीतम के कानो में फूल खोसकर उससे चिपक जाती। इस प्रकार फूलो की साज-सजावट कर लेने पर कुमार मूर्त्तिमान् कामदेव-से लगने लगे[1]।

उद्यान-यात्रा के प्रसग में कभी-कभी युवक-युवती एक दूसरे से प्रेम करने लगती थी। दशकुमार-चरित के अनुसार अवन्तिसुन्दरी ने उद्यान-यात्रा के सिलसिले मे पहले पहल कुमार राजवाहन को देखा था। उने देखते ही वह उसकी नजरो मे गड गया। तभी से दोनो मे पूर्व राग का सूत्रपात हुआ[2]। उसी प्रकार मालती-माधव भी एक दूसरे से पहले पहल मन्मथ-उद्यान में मिले थे।

पद्मचरित में लका के तडित्‌केश की उद्यान-यात्रा का वर्णन हुआ है। उद्यान के बीच में एक सुन्दर पोखरा था। किनारे दो प्रकार के झूलने थे। जो धरती पर गडे हुए थे वे "दोला", और जो पेड पर लटकाये गये थे वे "प्रेंखा" कहलाये जाते थे। पोखरे में उतरने के लिये सोपान थे, उसमें एक छोटी-सी वनाली और एक क्रीडा-पर्वत भी था। वहाँ फल-फूल से लदे हुए अनगिनत पेड-पौधे और बेल-बूटे थे। उस बगीचे में तडित्केश रनवास की महिलाओ के साथ क्रीडा-कौतुक करता रहा[3]।

अवदान-कल्पलता का कथन है कि श्रावस्ती के सम्पन्न गृहपति सु-प्रबुद्ध के बेटे हस्तक ने उद्यान-यात्रा के प्रसग मे राजा प्रसेनजित् की बेटी चीवरकन्या को पहले पहल देखा था। तभी से दोनो एक दूसरे को हृदय से चाहने लगे। निदान हस्तक ने राजा को हाथी के सुनहरे दांत भेंट करके राजकुमारी को अपनाया[4]।

जैन-हरिवंश का कहना है कि उद्यान-यात्रा और वन-विहार जैसे

---

१. ७।६-२० २. १।५।६४ ३. ६।११६ ४. १।६८

सैर-सपाटो की बारी सामान्यत वसन्तकाल में आती थी तथा स्त्री-पुरुष एकत्र होकर मद्यपान करते थे[1] ।

वन-विहार

शिशुपालवध महाकाव्य में रैवतक पहाडी पर के वनखड में यादवो ने जो वनकेलि की थी, उसका विशद वर्णन हुआ है। कहा गया है कि उन्होने सस्त्रीक पैदल चल कर वनविहार का रस लिया था। महिलाएँ चलते समय अपने-अपने पैरो में लगे हुए महावर का रग धरती की छाती पर छोडती थी। कुछ रमणियां अपने भारी-जघन और स्तनो के बोझ से नग होकर पैर घसीटती हुई चल रही थी, उधर कुछ अपने-अपने प्रियतमो के साथ हो लेने के लिये कसकर दौड रही थी। चलते-चलते वे सुकुमार कोपल तथा फूल तोडती जाती थी। कभी शाखाओं के खीचने वा नवाने से उनपर फूलो की झडी बरसती थी। हाथ उठाकर जभी वे फूल-पत्ती तोडने लगती थी, तभी उनकी गहरी नाभि दिखाई देती थी। इससे उनके पतियो के मन में विकार हो जाता था। कोई सुन्दरी सुकोमल पत्तियो पर नख द्वारा अपने प्रीतम को प्रेम-पत्र लिख रही थी, कभी मडराते भौंरो के भय से कोई पति की गोद में लुढक जाती थी। नव-विवाहित युवक लजीली पत्नी को चुपके से चूम लेता था और कभी छाती से लगा लेता। कोई युवक प्रिया को निराले स्थान में ले जाता था। कोई मानिनी वधू को मनाने में लगा हुआ था। कोई प्रिया को कोपल और फूलो की भेंट कर रहा था। सौत के साथ हो लेने से कोई स्त्री पति को डठल और फूलो से पीटती थी। इस प्रकार बहुत देर तक रमने फिरने के बाद जब वे बिलकुल पस्त हो गयी, तब पसीने से लथ-पथ होकर पति का सहारा लेकर तालाब की दिशा में चल पडी[2] ।

अवदान-कल्पलता का कथन है कि वसत ऋतु में बनारस के राजा कलभू सपरिवार वन-केलि के लिये घने जगल में चला गया। देर तक

---

१. १४।२१ २ ७।१-७५

रमने-फिरने के बाद जब वह बिलकुल थक गया, तब वह किसी पेड़ के नीचे, छाया में सो गया। परिवार के लोग उसकी निगरानी करने लगे। इस बीच राजा की चहेती रानी मंजरी फूल तोड़ती दूर निकल गयी। वहाँ ध्यान लगाए बैठे हुए महामुनि क्षान्तिवादी को देखकर वह ठिठक कर खड़ी हो गयी। मद-भरी आँखों से रानी बड़ी देर तक उनको एक टक देखती रह गयी। उधर नींद खुलने के बाद मंजरी को न देखकर राजा उसे खोजने चला। रानी का पता चल जाने पर जब राजा ने उसको उक्त दशा में पाया, तब वह बिगड़ खड़ा हुआ। उसने मुनि पर क्रोध उतारा और उसके हाथ-पैर काट दिये। इस कुकृत्य के लिये राज्य-भर में भारी अकाल पड़ा। निदान क्षान्तिवादिन ने राजा को इस आपत्ति से उबारा[१]।

नैषधचरित में राजा नल देवी दमयन्ती को स्मरण दिलाते हुए कहता है कि एक दिन वन-केलि के सिलसिले में मैंने तुमसे धरती पर पड़े पीपल के पत्ते को उठाकर मुझको देने के लिये कहा था। उस समय मेरी बात का गूढ़ अर्थ समझ कर तुम बहुत झेंप गयी थी[२]।

क्रीड़ा-कौतुक और उत्सवादि का कायापलट

वात्स्यायन ने कामसूत्र में समस्या क्रीडा वा सामूहिक खेल-तमाशों के दो भेद—महिमान्य वा सार्वजनिक और देश्य वा स्थानीय बताये हैं। इस प्रसंग में उसने यक्ष-रात्रि, कौमुदी जागर, सुवसन्तक जैसे उत्सवों को सार्वजनिक माना है तथा नवपत्रिका, उदकक्ष्वेडिका, एक-शाल्मली, यव-चतुर्थी, आलोल चतुर्थी, मदनोत्सव, पुष्पावचायिका प्रमुख उत्सवों को स्थानीय माना है[३]।

राजशेखर की काव्यमीमांसा और भोजराज के सरस्वतीकंठाभरण में इन क्रीडाओं तथा उत्सवों का उल्लेख हुआ है। किन्तु ऐसा जान

---

१. २९।७९१-८०३

२. २०।९६ (अश्वत्थदलसंकाश गुह्य इत्यादि)

३. १।४।४२

पडता है कि कालान्तर में इन उत्सवो को मनाने के विधि-विधानो में बहुत हेर-फेर हो गया था। काव्यमीमामा और सरस्वतीकठाभरण मे एकरूपता होते हुए भी जयमगला में दी हुई व्याख्या से वे नहीं मिलते। उदाहरण के लिये उदक-क्ष्वेडिका ली जा रही है। जयमगला के अनुसार खोखले बांस में पानी भर कर सिंह की गरज जैसा शब्द करने का नाम उदक-क्ष्वेडिका है। उधर मधुसूदनी वृत्ति के अनुसार पिचकारी में सुगधित पानी भर कर सगे-साथियो पर छोडने और एक दूसरे पर कीचड उछालने का नाम उदक-क्ष्वेडिका है। भोजराज ने भी यही सम्मति प्रकट की है। उसी प्रकार अशोकोत्तसिका मे, जयमगला का कहना है कि अशोक की कोपलें ले कर कान के गहने बनाये जाते थे, पर मधुम्दन और भोजराज का कथन है कि खेल के सिलसिले में सुन्दरी स्त्रियां लात मार-मार कर अशोक के पेडो में फूल जमाती थी, वाद उसी फूल से साज-सजावट करती थी। यशोधर ने चूतलतिका की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह खेल खेलते समय खेलाडी आम की नयी कोपलें लेकर गहने वनाकर पहनते थे, उवर मधुसूदनी वृत्ति के अनुसार यह खेल खेलते समय खेलाडी "तेरा प्रिय कौन है ?" पूछते हुए पलाश के डठल या वन-लता से एक दूसरे को मारते थे। पुन काव्यमीमासा और सरस्वती-कठाभरण में चूतभजिका नाम की एक क्रीडा का उल्लेख हुआ है जो काम-सूत्र में नही मिलती। कहा गया है कि यह खेल खेलते समय स्त्रियाँ आम के नये पल्लव तोड कर कामदेव को चढाती थी, फिर उनके गहने वनाकर पहनती थी। जयमगला का कहना है कि पुष्पावचायिका क्रीडा फूल तोडने से सवद्ध थी। परन्तु भोजदेव आदि का कथन है कि मौलसिरि के पेड पर सुरा का कुल्ला कर स्त्रियाँ उसके फूल वीनती थी। कदव युद्ध के प्रसग मे जयमगला का कहना है कि यह खेल खेलते समय खेलाडी दो दलो में विभक्त होकर एक दूसरे पर कदव के फूल वरसाते थे। किन्तु मधुसूदनादि के अनुसार यह खेल स्त्रियाँ खेलती थी तथा खेलते समय कदम, नीप और हारिद्रक फूलो का उपयोग होता

था। नवपत्रिका का विवरण देते हुए जयमगला कहती है कि वर्षारंभ होने पर जब पेड-पौधो पर नयी पत्तियाँ जमने लगती है तब वनखड में लोग रमते-फिरते थे। परन्तु भोजराज का कहना है कि वर्षागम होने पर जब नयी घास उगने लगती और पेड-पौधो पर नयी पत्तियाँ जमने लगती तब स्त्रियाँ जगलो में चली जाती थी। वहाँ खाने-पीने के बाद हँसी-हँसी में आपस मे व्याह-शादी का खेल खेलती थी[1]।

विवरणो की विषमता से ऐसा अनुमान किया जाता है कि कुछ खेल-तमाशे और उत्सवो का नाम एक होने पर भी देश के भिन्न-भिन्न भागो में खेलने वा मनाने की पद्धतियाँ अलग थी। किंवा यह भी सभव है कि कालातर में खेलने के विधि-विधान में उलट-फेर हो गया हो।

अब ये सब क्रीडा-कौतुक तथा उत्सवादि जिस रीति से खेले वा मनाये जाते थे, उसका थोडा बहुत आभास केवल सरस्वतीकंठाभरण से मिलता है। भोजराज ने एक-एक उत्सव का नाम देकर उसके मनाने की परिपाटी का सक्षेप में एक ही श्लोक मे विवरण दिया है। छान-बीन करने से पता चलता है कि ग्यारहवी शती के प्रारभिक दिनो में मालवा के निवासियो की रुचि में कितना हेर-फेर हो गया था। सामान्यत उत्सवादि मनाते समय आवेश के वश होकर लोग ऐसा काम भी कर बैठते है जो वे साधारणत नही करते, किंवा करने में झिझकते है। परन्तु यह तो रुचि-विकार का प्रश्न है। अत आधुनिक काल के चिन्ताशील व्यक्तियों की आँखो मे किरकिराने लगता है!

माघ की शुक्ला पचमी को सुवसन्तक उत्सव मनाया जाता था। उस दिन ग्रामीण कन्याएँ छाती पर हल्दी, अबीर, कुमकुम आदि पोत कर, कमल-नाल के गहने पहन, कानो में आम की कोपलें खोस और नशा चढने के कारण लाल-लाल आँखें कर गली-कूचे में रमती-फिरती थी। मदनोत्सव के उपलक्ष्य में ग्राम-तरुणियाँ छाती पर अबीर-गुलाल आदि

---

१. काव्यमीमांसा, पृष्ठ १२९, सरस्वतीकंठाभरण, पृष्ठ ५६४-५६५

पडता है कि कालान्तर में इन उत्सवो को मनाने के विधि-विधानो में बहुत हेर-फेर हो गया था। काव्यमीमामा और सरस्वतीकठाभरण मे एकरूपता होते हुए भी जयमगला में दी हुई व्याख्या से वे नहीं मिलते। उदाहरण के लिये उदक-क्ष्वेडिका ली जा रही है। जयमगला के अनुसार खोखले बांस में पानी भर कर सिंह की गरज जैसा शब्द करने का नाम उदक-क्ष्वेडिका है। उधर मधुसूदनी वृत्ति के अनुसार पिचकारी में सुगधित पानी भर कर सगे-साथियो पर छोडने और एक दूसरे पर कीचड उछालने का नाम उदक-क्ष्वेडिका है। भोजराज ने भी यही सम्मति प्रकट की है। उसी प्रकार अशोकोत्तसिका मे, जयमगला का कहना है कि अशोक की कोपलें ले कर कान के गहने बनाये जाते थे, पर मधुसूदन और भोजराज का कथन है कि खेल के सिलसिले में सुन्दरी स्त्रियाँ लात मार-मार कर अशोक के पेडो मे फूल जमाती थी, बाद उसी फूल से साज-सजावट करती थी। यशोधर ने चूतलतिका की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह खेल खेलते समय खेलाडी आम की नयी कोपलें लेकर गहने बनाकर पहनते थे, उधर मधुसूदनी वृत्ति के अनुसार यह खेल खेलते समय खेलाडी "तेरा प्रिय कौन है?" पूछते हुए पलाश के डठल या वन-लता से एक दूसरे को मारते थे। पुन काव्यमीमासा और सरस्वती-कठाभरण में चूतभजिका नाम की एक क्रीडा का उल्लेख हुआ है जो काम-सूत्र में नही मिलती। कहा गया है कि यह खेल खेलते समय स्त्रियाँ आम के नये पल्लव तोड कर कामदेव को चढाती थी, फिर उनके गहने बनाकर पहनती थी। जयमगला का कहना है कि पुष्पावचायिका क्रीडा फूल तोडने से सबद्ध थी। परन्तु भोजदेव आदि का कथन है कि मौलसिरि के पेड पर सुरा का कुल्ला कर स्त्रियाँ उसके फूल बीनती थी। कदब युद्ध के प्रसग मे जयमगला का कहना है कि यह खेल खेलते समय खेलाडी दो दलो में विभक्त होकर एक दूसरे पर कदब के फूल बरसाते थे। किन्तु मधुसूदनादि के अनुसार यह खेल स्त्रियाँ खेलती थी तथा खेलते समय कदम, नीप और हारिद्रक फूलो का उपयोग होता

पोतकर निकलती थी जिन्हें देखकर अधेड वय के पुरुष भी विकल हो जाते थे। उदक-क्ष्वेडिका खेलते समय तरुण-तरुणियां बिना रोक-टोक एक दूसरे पर कीचड उछालती थी। चूतलतिका क्रीडा के प्रसग में देवर-भौजाई का नर्म-परिहास और नव-लता तान कर मार-पीट (?) चलती थी। भौजाई इसका रस लिया करती थी। पञ्चाल्यानुयान के प्रसग में त णियाँ बेखटके सहगान और नृत्यादि में भाग लेती थी। कदव-युद्ध के सिलसिले में स्त्रियां एक दूसरे की उभरी हुई छाती को लक्ष्य-विंदु वना कर फूल फेंकती थी। यक्ष-रात्रि में दीप दान के वहाने तरुणियाँ प्रीतम के घर पहुँच जाती थी[1]।

ऐसा जान पडता है कि उपर्युक्त क्रीडा-कौतुको में चूतलतिका नाम की क्रीडा का प्रचार, भिन्न-भिन्न आकार में, व्यापक था। प्राचीन रोम में भेड-बकरियों के रक्षक लुपरकस नामक देवता थे। अत प्रतिवर्ष फरवरी में उनके सम्मान में पॉलाटाइन पहाड की एक खोह में समा-रोह के साथ लुपरसेलिया नाम का महोत्सव मनाया जाता था। मनौती आदि चढ़ाने के बाद हँसी-मजाक करते हुए सहभोज होता था। इसके अनन्तर पुरोहितो के नगे जत्थे छोटे-छोटे दलो में विभक्त होकर प्राचीन पॉलाटाइन नगर की चहारदीवारी के चारो ओर चाबुक वरसाते हुए भागते जाते थे। ये चाबुक बलिदान के पशुओ का चमडा काटकर बनाये जाते थे। नि सतान नगी रमणियाँ जगह-जगह पर झुड बाँधकर कोडा खाने के लिए तरसती रहती थी। उनका विश्वास था कि उनके जननेन्द्रिय पर इन चाबुको की मार पडने से बाँझपन हट जायग ।

आधुनिक युरोप के देहाती इलाको, विशेषकर रूस में, अभी तक इस प्रथा का प्रचलन है। हेलेवीन ईभ के अवसर पर घर के पुरुष लोग बाँझपन हटाने के लिये पशुओ और स्त्रियो के जननेन्द्रिय पर चाबुक वरसाते हैं।

---

१. पृष्ठ ६६४-६७०

इस प्रकार हमारे अध्ययन-काल के अंतिम दिनों में वात्स्यायन के युग में जो क्रीडा-कौतुक मनोरंजन के विशुद्ध साधन माने जाते थे, उनमें भी आदिरसात्मक कुरुचि समायी और वे कामाग्नि को भभकाने के प्रकृष्ट उपाय बन गये।

इसके पहले ऊपर कहा जा चुका है कि कालांतर में दोलाकेलि, जल-क्रीडा, उद्यान-यात्रा, वन-विहार आदि भी आदिरस से ओत-प्रोत हो गये।

ऐसा न सोचना चाहिए कि यह दुर्दशा केवल क्रीड़ा-कौतुक करने और उत्सवों के मनाने के क्षेत्र तक सीमित रही। सुकुमार साहित्य-जैसे काव्य, नाटक आदि की भी यही गति हुई। दर्शन-शास्त्र, तत्त्वज्ञान प्रभृति गंभीर विषयों की चर्चा कम होती गयी, नये सिद्धान्तों की रचना ठप हो गयी। सभी के सिर पर काव्य की धुन सवार हो गयी तथा राजसभाओं के कवि, आजकल के विचार से, अश्लील काव्यों की रचना करने में एक दूसरे से होड करने लगे। बंगाल के गोवर्द्धनाचार्य और जयदेव ने कश्मीर के बिल्हण और क्षेमेन्द्र से विषय-वस्तु के चुनाव में तादात्म्य साधा, वैसे ही कन्नौज के राजशेखर और श्री हर्ष ने दक्षिण के माघ की प्रतिस्पर्धा की। इस युग के सभी कवियों की वर्णनीय विषय-वस्तु नारी का रूप-यौवन, हाव-भाव, विलास-विभ्रम और राग-रंग थी। काव्य और नाटक पर जैसे आदिरस की अमिट छाप पड़ी, वैसे ही वास्तुविद्या, चित्रकला और मूर्ति-निर्माणकला भी उसी रस से ओत-प्रोत हुई।

हम लोग आज-कल जिसे पाश्चात्य रीति-नीति का अनुकरण करते हुए रुचि-विकार मानने लगे हैं, उसके समर्थन में एक दलील यह प्रस्तुत की जा सकती है कि प्राचीनों की विशिष्टता यह थी कि सृष्टि-तत्त्व से संबंधित जो क्रिया बिलकुल स्वाभाविक है, जिसकी चर्चा घर-घर हुआ करती है और जिसका प्रतीक बनाकर प्राचीन काल की अधिक-तर सभ्य जातियाँ पूजन करती थीं, उसको यदि भाषा में, वा चित्रादि खींचकर व्यक्त किया गया, तो हरज ही क्या? आधुनिक काल में हम रुचि

और शिष्टता की दुहाई देते हुए गतानुगतिक क्रम से कुल कृत्य करते हुए भी मनोभाव प्रकट नही करते, किंवा प्रकट करते समय उसको साहित्यिक जामा पहिनाकर विपय को जटिल वना देते है। उदाहरण उपस्थित किया जा सकता है कि मुख्यत शारीरिक सौन्दर्य और अग-प्रत्यगो की सुष्ठुता प्रदर्शित करने के अभिप्राय से रोम के रगमच पर नग-वडगी पात्रियो को प्रस्तुत किया जाता था, यूनान में घर में रहते समय स्त्रियाँ सामान्यत 'किटोन' नामक एक चोगा पहना करती थी जिसमें समूची एक टाँग जान-बूझकर खुली छोड दी जाती थी, प्राचीन मिस्र में नीच जाति की स्त्रियाँ बिलकुल दिगबरी रहती थी तथा सम्पन्न घर की महिलाएँ हवाई साडियाँ पहनती थी। उनकी देव-देवियाँ सामान्यतः या तो नगी रहती अथवा कभी-कभी उन्हें हवाई वस्त्र ओढा दिये जाते थे। प्राचीन ईरान में भी स्त्रियाँ कम झूल वाली हवाई घाघरी और छोटी-सी कुरती पहनती थी। शारीरिक सुन्दरता का प्रदर्शन करने के लिये कालान्तर में प्राचीन यूनान और रोम में मूर्ति-निर्माण करने वाले कलाकार नगी मूर्तियाँ वनाने लगे और चित्रकार चित्रो मे विवस्त्रा नर-नारियो का समावेश करने लगे। प्राचीन मिस्र की दशा भी वही थी। अवश्य, इस प्रकार की रुचि होने में जल-वायु का भारी हाथ था।

मिस्र, ईरान प्रमुख गरम देशो में जो सभव था, इग्लैड-अमेरिका जैसे शीत-प्रधान देशो में वह सभव न था। और हमारी आधुनिक रुचि इन्ही देशो के आदर्श पर आधारित है।

अब दर्शको पर ऐसे चित्रो और मूर्तियो का क्या प्रभाव होता था उस पर विचार करने की आवश्यकता है। सभवत उन दिनो के अधिकतर दर्शको के मन पर इनका कोई वुरा प्रभाव नही पडता था, क्योकि उन दिनो की चाल ही इस प्रकार की थी। अनुमान किया जाता है कि श्रद्धा-पूर्ण दृष्टि लेकर वे वहाँ पहुचते थे और उनका मन उन चित्रो और मूर्तियो की अनवद्य सुन्दरता पर इतना गड जाता था कि विकार के उद्रेक होने की कोई सभावना नही थी। हमारे देश में काली-तारा प्रमुख

देवियो की अघ-नगी मूर्ति देखकर दर्शको के मन में कभी विकलता नही उपजती। परन्तु आधुनिक काल में रुचि का हेर-फेर होने के कारण हमारी दृष्टि में नगी मूर्तियाँ खटकने लगी है।

फिर, ऐसा लगता है कि प्राचीनो की जीभ में कुछ शिथिलता थी जो आज-कल की दृष्टि में रुचि-सगत नही समझी जाती। लेखक का व्यक्तिगत अनुभव है कि वडे-बूढो की जवान में लगाम की कमी होती थी तथा सृष्टि-तत्त्व सवधी वात-चीत करने वा गाली-गलौज वकन में वे रचमात्र भी हिचकते नही थे। हमलोगो की तरह ऐसे सुकुमार अवसरो पर वे अग्रेजी शब्दो का उपयोग नही करते थे। अभी तक कही-कही देखा जाता है कि प्रिय पुत्र को दुलार करते समय अपढ पिता उसे "साला" वना रहा है। इक्केवान और खच्चर हाँकने वाले मूक पशुओ को "महतारी-वहिन" की जव तव खवर लिया करते है। थोडे मे अपढ जनता अभी तक प्राचीन परम्परा को निवाहे जाते है। सभवत और और देशो में भी यही रीति प्रचलित है।

रुचि-विकार के समर्थन में उपर्युक्त तर्क भी उपस्थित किया जा सकता है।

किन्तु यह दलील भी ठीक नही जँचती। प्राचीन कवि और नाट्यकारो मे कुमारसभव मे कालिदास को छोड और किसी कवि या नाट्यकार ने रुचि-विकार का परिचय नही दिया। भवभूति के वाद एकाएक यह तरग आयी और उत्तरकाल के प्राय सव लेखक एक ही पथ के अनुयायी वने। यहाँ तक कि महानाटक के रचयिता हनूमत् ने मीता देवी और रामचन्द्र की पूत-पावन प्रेम-कहानी को भी मानवीय जामा पहना दिया।

तो, आधारिक कारण चाहे कुछ भी क्यो न हो, जाति के लिये सतत नारी का पूजन और तोषण अतत कल्याण-कर नही सिद्ध हुआ। क्रमश उसमें विलासिता, कोमलता और दुर्वलता समायी और कष्ट-सहिष्णुता, तेज-वीर्य-ओजस्, यौद्धिक शक्ति और दृढता जाती रही। मनो-

विज्ञान की दृष्टि से इसी सविक्षण की ताक मे सीमा पर तुर्क बैठे हुए थे। मौका देखकर जब उन्होने चढाई कर दी तब उनको रोकने की शक्ति जाति में कहाँ रह गयी थी ?

इसमें सशय नही कि देश-विजय के बिलकुल पूर्व उस पर रुचि-विकार की बाढ-सी आ गयी थी तथा लोग आदिरस के अतीव लती हो गये थे। फिर सपन्न वर्ग के लोग विलास, सुरा और नारी के व्यसनो में लोट-पोट करते थे। तथापि प्रसन्नता की बात है कि ऐसे गाढे समय में भी जाति ने दुर्नीति को प्रश्रय नही दिया।

कुरुचि और दुर्नीति मे आकाश-पाताल का अतर है। ससार की सभी जातियो की रुचि में समय-समय पर हेर-फेर हुआ करता है। अभी थोडे दिन की बात है, पाश्चात्य देशो की प्रगतिवादी कुछ नारियाँ घाघरे की झ्ल कम रखने लगी और साथ ही ब्लाउज की काट नीची करने लगी थी। महारानी विक्टोरिया के काल में स्त्रियाँ लम्बे घाघरे और गलाबद जाकिट पहनती थी। इस महान् परिवर्तन से कुछ सदाचारी व्यक्ति बहुत घबराये। उन्होने इस रुचि-विकार के विरुद्ध भारी आन्दोलन किया। इसका परिणाम यह हुआ कि तभी से घाघरे की झ्ल कुछ नीचे उतर आयी और ब्लाउज की काट कुछ ऊपर चढ गयी। कहने का आशय यह है कि रुचि-विकार सामयिक झक-सी है जो थोडे ही दिनो मे मर-मिट जाती है। पर दुर्नीति चिरकालिक तथा नित्य है। उसमें कदापि हेर-फेर नही होता। मिथ्या, अगम्यागमन, पारदारिकता प्रभृति सदा से निन्दित होते आये है, और भविष्य में सब इनकी निन्दा करते रहेगे।

ऊपर कहा जा चुका है कि मध्यकाल में धनिक वर्ग के कुछ सपन्न व्यक्तियो के मनोरजन के बहाने मद्यप और चरित्रहीन होने पर भी अधिक से अधिकतर लोग भोग-विलास से दूर रहते थे। इसका कारण बहुधा आर्थिक से कही अधिक नैतिक था। मुख्यत जनता जनार्दन के सदाचारी होने के लिये समाज में भेद-विचारहीन व्यभिचार नही था।

दोला-क्रीडा, जल-क्रीडा, उद्यान-यात्रा आदि मनबहलाव के साधनो के प्रसग में आधुनिक काल के दृष्टिकोण ने आपत्तिकर, जो कुछ भी वे करते थे, अपनी ब्याही पत्नी के साथ करते थे। परायी बहू-बेटी के साथ नहीं। नल-राज यदि देवी दमयन्ती के किसी विशेष अग की तुलना पीपल के पत्ते के साथ करते है, तो अपनी धर्म-पत्नी के अग के साथ। परायी स्त्री के अग के साथ नही। कवि विल्हण यदि 'पुलषायतें' का स्मरण कर वध्यभूमि में सोच्छ्वास कविता पाठ करता है तो वह राजकुमारी शशिकला के उद्देश से, जिसे उसने बाद ब्याहा था। कन्या-दूषण की चाल नहीं थी। सामान्यत पिता या बडे भाई सयानी कन्या को उपयुक्त वर के हाथ सौपता था। यदि कदाचित् कन्या मन-चाहा विवाह कर भी लेती तो वह कायिक सबध जोडने के पहले गधर्व-विवाह अवश्य कर लेती। यदि घटनाओ के फेर मे ऐसा सभव नही होता तो युवक बाद मे उस कन्या से अवश्य विवाह कर लेता। कवि विल्हण की बात ऊपर कही गयी है। पवन-दूत काव्य मे विरहिणी यक्ष-कन्या पवनदेव से चिरौरी-विनती करती है कि "आप लक्ष्मणदेव को समझा कर कहियेगा कि सदाचारी कोई भी युवक कन्या जन का मन चुरा कर भाग नही जाता।" बृहत् कथामजरी मे कामातुर धर्मदत्त को वैश्य-कन्या मदनसेना समझा रही है—"यदि तुमने बलात्कार किया तो पिता जी को कन्यादान का फल नही मिलेगा और हमारे कुल का पतन हो जायगा।" इसी प्रकार लोग सामान्यत परायी स्त्री से नाता जोडने से दूर रहा करते थे। विवेक बुद्धिहीन एक डाकू मदन-सेना से कहता है—"तू परायी स्त्री हो गयी है। अत अगम्या है"[1]। अवदान शतक का कहना है पारदारिक को राष्ट्र की ओर से मृत्युदड दिया जाता था[2]।

पद्मचरित मे कन्या, परागना और विधवा तीनों को अगम्या कहा गया है[3]।

---

१ पृष्ठ ३३१ २ १।१०२-१ ३ ?।?८३

इस प्रकार यदि परायी स्त्री से नाता जोडने मे लोग झिझकते थे तो समजातीय ससर्ग की घटनाएँ इनी-गिनी है। विनय पिटक के महावग्ग में कडक और महक नाम के दो भिक्षुओ पर यह आरोप लगाया गया है[१]। अर्थशास्त्र में ऐसे अपरावो के लिये दड का निर्देश दिया गया है। वात्स्यायन के कामसूत्र के नपुसकाधिकरण मे इसका उल्लेख मात्र है। स्कदपुराण के नागरखड में स्त्री-चरित्र के वर्णन-प्रसग में कहा गया है कि पुरुष न मिलने से वे समजातीय ससर्ग करती हैं[२]। मनु, अत्रि, पराशर प्रमुख शास्त्रकारो ने ऐसे अपराध करने वाली स्त्रियो को कठोर दड देने का सुझाव दिया है।

समजातीय ससर्ग के निदर्शन यदि इने-गिने है तो पशुओ के साथ सगत होने का साहित्यिक उल्लेख और भी कम है। महाभारत की पाण्डुराज की कहानी सभी कोई जानते है। धम्मपद अत्यकथा का कहना है कि कोशल-राजपत्नी मल्लिका देवी ने स्नानागार में एक कुत्ते से ससर्ग किया था[३]। वामनपुराण में रभासुर पर एक भैंस के साथ सगत होने का आरोप लगाया गया है। इस अपराध के लिये वह जाति-च्युत किया गया[४]। मार्कण्डेय पुराण का कहना है कि राजा स्वराष्ट्र ने एक हिरणी से ससर्ग किया था[५]। मनु ने ऐसे अपराधो के लिये कृच्छ्र सन्तापन व्रत रखने का सुझाव दिया है। कूर्मपुराण और पद्मपुराण के स्वर्गखड में ऐसे अपराधो के लिये नाना प्रकार के प्रायश्चित्तो का विधान है।

आधुनिक काल के वास्तववादी कुछ समालोचक कह बैठेंगे कि बाजार में पण्य-स्त्रियो की भरमार होते और धनिको के घर-घर में हरम रहते यदि पारदारिक और अस्वाभाविक रति जैसे अपराधो की कमी थी तो मध्यकाल के भारतीयो का इसमें श्रेय क्या था? बात तो

---

१ १।५२

२ ८१।३४

३ ३।११९

४ १७।५६-५९

५ ७४।१५-४३

सही है। विशेपकर शासकवर्ग के सदस्यो की सुरा और नारी से सपर्कित विपयो मे वड़ी ढिलाई देखी जाती है। नियमित रूप से सुरापान तो वे करते ही थे। इसके अतिरिक्त रनवास मे सभी प्रान्तो की स्त्रियाँ रखना तया दरवार और महालय में सेविका के रूप मे वेश्याओ की टोली रखना उनकी महत्ता का चिह्न माना जाता था। एक-एक विशिष्टता के लिये भिन्न-भिन्न प्रान्तो से स्त्रियाँ जुटायी जाती थी, जैसे कमल के समान मुख के लिये केरल-ललना, स्तनो की विशालता के लिये चोल-सुन्दरी, काले केशपाश के लिये कुन्तल-कामिनी, आँखो के लिये वनवासी-रमणी इत्यादि। किन्तु उपर्युक्त मन्तव्य का उत्तर यह है कि प्राचीन रोम, मिस्र, यूनान प्रमुख देशो की भी दशा एक-सी थी। इन सव व्यसनो के रहते हुए भी उन सव देशो मे भेद-विचार-हीन व्यभिचार व्यापक पैमाने पर फैला हुआ था। इस दशा में यदि परिस्थिति की एकरूपता होते हुए भी हमारे देश मे व्यभिचार की कमी थी, तो यह हमारे पूर्वजो के गौरव का विपय है।

ऐसा लगता है कि मध्यकाल के प्रारभिक दिनो में भारतीय समाज मे सुरापान का प्रचलन अधिक हो गया था। पहले श्रमण-ब्राह्मण लोग सुरापान नही करते थे। किन्तु इधर तान्त्रिक साधना-क्रम की आड में वे भी अनायास मद्यपान कर सकते थे।

कुल वातो की छान-बीन करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि अमृत के पुत्रो के वशज, जिनके पूर्वजो के आकुल आह्वान से व्याकुल होकर स्वय भगवान् इस कठिन धरती पर वार-वार आविर्भूत हुए थे; विद्या-सयम और तपोवल के प्रभाव से जिन्होने आत्मज्ञान को उपलब्ध किया था; जिन्होने समग्र एशिया के आरपार भारतीय सस्कृति का झडा फहराया था तथा जिन्होने नाना विद्या और कलाओ का आविष्कार कर ज्ञान-विज्ञान की परिधि को व्यापक वनाया था, मध्यकाल के प्रारभ में मनवहलाव का मिस रचकर वे बुरी लतो के आखेट वन गये। उनका वल-वीर्य, तेज और ओज धीरे-धीरे जाता रहा और वे मोम के

पुतले बन गये। इन पापो का प्रायश्चित्त उनकी सतति के लोगो अनवरत ७५० वर्ष तक करना पडा।

फिर भी हर्ष की बात है कि इन दुर्दिनो मे भी हमारा प्राचं आदर्श आँखो से ओझल नही होने पाया। इन्ही दिनो मे बारी-बा से मेधातिथि, विज्ञानेश्वर, विश्वरूप प्रमुख स्मृतिकार हुए जिन्होने अपन रचनाओ के द्वारा प्राचीन लडखडाते हुए समाज को नये साँचे मे ढाल का प्रयत्न किया। सुरा पर पहले से ही नियत्रण था। स्त्रियो पर ज प्रतिबध पहले से लगे हुए थे कडाई के साथ, नये सिरे से, वे फिर से लागू किये गये। क्रमश बाल्य-विवाह की प्रथा चालू हो गयी। तात्कालिक समाज के हित के लिये यह आवश्यक समझा गया। कभी-कभी आँधी-तूफान के आगे हिन्दू धर्म और समाज को सिर नवाना पडा है। किन्तु उसके निकल जाते ही वह पहले जैसा फिर डटकर खडा हो गया। थोडे मे, हमारे पूर्वजो के महान् आदर्श और चरित्र-बल ने ही हिन्दू धर्म को सनातन धर्म बना रखा है।

अत मे कहना अप्रासगिक न होगा कि काम-काज से अवकाश सभी को मिलता है और सभी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार मनबहलाव के साधनो की चर्चा कर वह समय काटते है। किन्तु जैसे मानव-मात्र का असल चरित्र अवकाश के समय मे वह जो भी कुछ करता है, उसके अनुसार ढलता है, उसी प्रकार जातीय चरित्र भी क्रीडा-कौतुक तथा त्यो-

हाथ धरे निश्चित नही बैठ सकती। जिस उत्साह और लगन के साथ
वह उनकी शिक्षा का प्रबंध कर रही है, उसी आग्रह और चाव के
साथ उनके मनबहलाव के लिये उसको निर्दोष आमोद-प्रमोद की उचित
व्यवस्था करनी पडेगी। जन-सख्या तथा उसकी रुचि पर ध्यान देते
हुए इसके अनेक प्रकार का होना अनिवार्य है। और यदि सरकार ऐसा
करने से चूकती है तो अबूझ जनता सुरा, नारी और जुए के फेर मे
पड कर प्राचीन काल की तथाकथित सुसभ्य जातियो की तरह सर्व-
नाश की ओर बढ चलेगी। परमेश्वर हमारी रक्षा करे।